THE

"His Master's Voice"

CAMP MODEL

"हिज़ मास्टर्स वायेस" केम्प माडेल।

यह मशीन जिस ख़ूबसूरती के साथ आवाज़ को तेज़ करती है वह बेशक आदमी की अकल से बाहर है। अपने क़ायदे के मुताबिक़ यह बाजा गाने के हर लफ़्ज़ को अलग-अलग और उसके सुर-ताल, राग-रागिनी और मुख़्तलिफ़ साजों की असली ख़ूबी का बिलकुल ठीक-ठीक नमूना अपने सुननेवाले के आगे पेश करता है।

लेकिन अगर आपको इसमें ज़रा भी शुभा हो तो मेहरबानी करके अपने आस-पास के किसी ग्रामोफ़ोन डीलर की दूकान पर जाकर ख़ुद उसकी ख़ूबियों का अन्दाज़ा कर लीजिए।
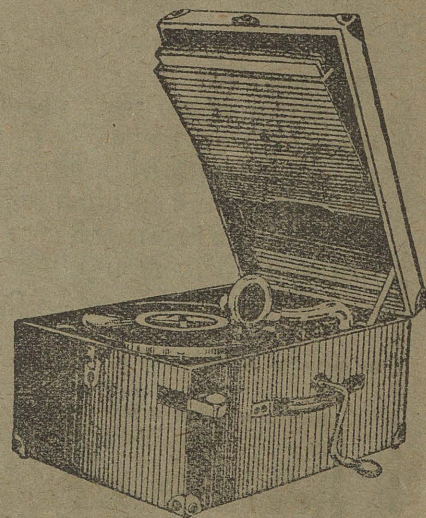
डबल स्प्रिंगवाला केम्प माडेल नं० ११२

मूल्य—१६५) रुपैया।

दी ग्रामोफ़ोन
कम्पनी लिमिटेड,
दमदम और बम्बई।

भारत सरकार से रजिस्टर्ड

प्लेग, हैज़ा, निमोनिया, कफ, खाँसी, दमा, शूल, संग्रहणी, बालकों के हरे-पीले दस्त व दूध पटकना आदि रोगों की ३० साल की परीक्षित अचूक दवा है--दाम १शीशी ॥) डाक ख़र्च अलग दर्जन ५) मय डाक-ख़र्च।

अद्भुत आयुर्वेदिक औषधियों से तैयार किया हुआ यह तेल सिर में दर्द, चक्कर आना, दिमाग़ी थकावट आदि को दूर करके ठंडक, आराम व गुदगुदापन पैदा करता हुआ बालों को मुलायम, चमकदार, लंबे वा भँवरे के समान स्याह करता है। इसकी मनोहर सुगंध को तो कहना ही पड़ेगा कि अद्भुत है--दाम १२ औंस की कुप्पी १॥) डाक-ख़र्च॥), छोटी शीशी ६ औंस की ॥-) डाक-ख़र्च ॥-)।

ज़्यादा हाल जानने के लिये बड़ा सूचीपत्र मँगाइए।

चेहरे के काले दाग़, धब्बे दूर करके मुँह का रंग गोरा, मुलायम व सुर्ख़ बनाती है। मुँह से मनोहर सुगंध बराबर रात-दिन २४ घंटे आती है। दाम फी शीशी १) डाक-ख़र्च ।≤) तीन के ३।) मय डाक-ख़र्च कपड़ों में रखने के खुशबूदार कार्ड ॥।) दर्जन।

स्त्रियों के सब प्रकार के प्रदर व मासिक-धर्म की ख़राबी कमज़ोरी कमर पेट पेड़ू के दर्द आदि को दूर करके शरीर को तंदुरुस्त ताकतवर फुर्तीला व ख़ूबसूरत बनाकर नीरोग औलाद पैदा करने योग्य बनाता है। दाम १ शीशी १॥) डाक-ख़र्च ।≤) तीन शीशी ५) मय डाक-ख़र्च।

मिलने का पता—मैनेजर, सुखसागर-औषधालय, झाँसी।

शास्त्रीय हिन्दी हार्मोनियम गाईड

बाजे की पेटी बजाने को सिखलानेवाली पुस्तक, ४० रागों के आरोह-अवरोह-लक्षण, स्वरूप, विस्तार, १०४ प्रसिद्ध गायनों का स्वर-ताल-युक्त नोटेशन, सुरावर्त, तिल्लाने इत्यादि पूरी जानकारी-सहित, द्वितीय आवृत्ति, पृष्ठ-संख्या २००, क़ीमत १॥) रुपया डाक-ख़र्च ।≈) विषयों का और गायनों का सूचीपत्र मुफ़्त मँगाइए।

गोपाल सखाराम एण्ड कम्पनी
कालबादेवी रोड, बंबई नं० २
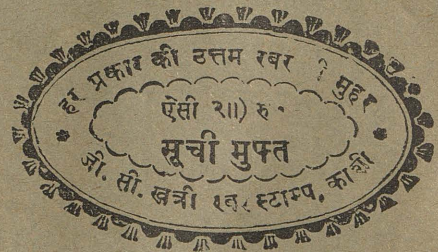
सीधी लाइन की सादी मुहर (केवल अक्षरों की दो लाइनें, दो इंच लंबी और आधा इंच चौड़ी तक) छापने का सामान सहित मूल्य १), डाक-ख़र्च ।≤); बड़ी होने से दाम अधिक होगा। हिंदी, अँगरेज़ी, उर्दू तथा बँगला कोई भाषा हो। अंडाकार मुहर जैसी ऊपर नमूना है २॥) मय सामान। डाक-ख़र्च एक मुहर।≤), दो का ॥) और तीन का ॥≤); काम देखकर ख़ुश होंगे।

मिलने का पता—
जी० सी० खत्री, रबर स्टांपमेकर,
बनारस सिटी।

सम्मन बगरज़ करार दाद उमूर तनकीह तलब

मुक़दमा नं० २२६ सन् १६३०

अदालत जनाब बाबू गुलाबचन्द श्रीमान् साहेब, मुंसिफ हवाली, लखनऊ.

डाक्टर प्यारेलाल वल्द मु० श्यामबिहारीलाल कायस्थ साकिन

चाह छाछू शहर लखनऊ.....................................मुद्दई

बनाम

जाकिरअली

मुद्दाअलेह

बनाम—जाकिरअली वल्द शेख़ एवजअली साकिन मौजा मंडियाव परगना महोना तहसील मलिहाबाद ज़िला लखनऊ ... होकि मुद्दई ने तुम्हारे नाम एक नालिश बाबत दख़लयाबी व वासिलात के दायर की है लिहाज़ा तुमको हुकुम होता है कि तुम ब तारीख़ तेरह १३ नवम्बर सन् १६३० ब वक़्त १० बजे दिन पर असालतन या मारफ़त वकील के जो मुकदमे के हाल से क़रार वाक़ई वाकिफ़ किया गया हो और जो कुल उमूरात अहम मुतलिक़े मुक़दमा का जवाब दे सके या जिसके साथ कोई और शख्स हो जो जवाब ऐसे सवालात का दे सके हाज़िर हो और जवाबदेही दावा मुद्दई मज़कूर की करो।

आज ब तारीख़ २० (बीस) सितम्बर १६३० मेरे दस्तख़त और मोहर अदालत से जारी किया गया।

नोट (१) फरीक़ैन मुक़दमा हाज़ा को हिदायत दी जाती है कि अगर किसी गवाह से कोई काग़ज़ सबूत में दाख़िल कराना हो तो ब तारीख़ ११ ग्यारह नवम्बर सन् १६३० दाख़िल करो और अगर दाख़िल करो तो दरख्वास्त इज़ाज़त दाख़िला काग़ज़ात पेश करो।

(२) और तुमको हुकुम दिया जाता है कि बयान तहरीरी बतारीख़ पांच ५ नवम्बर सन् १६३० तक गुजरानो वक़्त हाज़िरी दफ़्तर मुंसफी हवाली लखनऊ १० बजे से चार बजे तक

कुछ चुनी हुई स्त्रियोपयोगी पुस्तकें
भार्या-हित
अँगरेज़ी पुस्तक Advice to a wife का हिंदी अनुवाद। मासिक-धर्म, गर्भाधान, प्रसव-पीड़ा और बच्चे को दूध पिलाना इत्यादि अनेक उपयोगी विषय बड़ी उत्तमता से वर्णन किए गए हैं। पृष्ठ-संख्या ३३०; मूल्य ॥)
महिला-हितैषिणी
इसमें स्त्री-संबंधी सभी उपयोगी और ज्ञातव्य विषयों का समावेश बड़ी सुंदर और सरल भाषा में किया गया है। प्रत्येक गृहिणी को इसकी एक प्रति अपने पास अवश्य रखनी चाहिए। पृष्ठ-संख्या २३०; मूल्य १)
स्त्री-उपदेश
आर्य-ललनाओं के लिये यह बड़ी उपयोगी है। इसमें अनेक शिक्षाप्रद और मनोरंजक उपदेश दिए गए हैं। भाषा भी ऐसी सरल है कि साधारण पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ इसे सहजही में समझ सकती हैं। पृष्ठ-संख्या १७८; मू० ॥)
स्त्री-सुबोधिनी
स्त्रियों के लिये इससे बढ़कर उपयोगी और उत्तम पुस्तक दूसरी कोई नहीं है। पृष्ठ-संख्या ८३६; मूल्य सजिल्द पुस्तक का २॥)
स्त्री-दर्पण
इसमें विद्यानुरागिनी लड़कियों और स्त्रियों का परमार्थ-साधन, गृह-कार्य की प्रवीणता और अनेक प्रकार की अमूल्य शिक्षाएँ अति सरलता-पूर्वक वर्णन की गई हैं। पुस्तक लड़कियों के पढ़ने-योग्य है। पृष्ठ-संख्या १६९ मू० ॥)
शिवनारायण-भजनमाला
संगीत और मनोरंजन का अपूर्व साधन। ग़ज़ल, ठुमरी, दादरा, कजरी, ख़्याल आदि में ईश्वर-संबंधी सुंदर और उत्तम भजनों का अनोखा संग्रह। पृष्ठ-संख्या २४०; मूल्य ॥)
पतिव्रता-स्त्रियों के जीवन-चरित्र
अगर आप चाहते हैं कि हमारी स्त्रियाँ वीर संतान उत्पन्न करें या हमारी बहनें और कन्याएँ सुचरित्रा एवं सुशीला बनें, तो एक बार इस पुस्तक को अवश्य उनके हाथ में दीजिए। पृष्ठ-संख्या ३२८; मूल्य १=)
नारी-चरितमाला
यदि आपको अपने देश की सुचरित्रा, आदर्श और विदुषी स्त्रियों के चरित्रों से अपनी प्यारी स्त्रियों, बहनों या कन्याओं को उत्तमोत्तम उपदेश देने हों, तो इस पुस्तक को अवश्य ख़रीदें। मूल्य ॥=)
मैनेजर नवलकिशोर-प्रेस, बुकडिपो, लखनऊ।

भगवद्गीता भाषा

सुंदर, सचित्र और सरल भाषा में

अठारहों अध्याय माहात्म्य सहित, सुंदर और सरल भाषा में

टाइप बड़ा; पृष्ठ-संख्या ४८८; मूल्य १=)

संस्कृत न जाननेवाले वृद्ध स्त्री-पुरुषों के लिये यह अति उत्तम पुस्तक है

तुलसीकृत

रामायण गुटका

सुंदर ग्लेज काग़ज़ पर ॥)

रफ़ काग़ज़ ।=)

साहित्य-सेवियों और राम-भक्तों के लिये नित्य पाठ करने के लिये यह जेबी गुटका सर्वोत्तम है।

हिंदी-अँगरेज़ी-शिक्षक

यानी

इँगलिश-टीचर

घर बैठे बहुत थोड़े समय में अँगरेज़ी सीखने की सर्वोत्तम पुस्तक। केवल इसी को पढ़कर काम चलाऊ अँगरेज़ी सीखी जा सकती है। तार या चिट्ठी आने पर इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। मूल्य ॥।)

तुलसीकृत

रामायण मध्यम मूल

मूल्य १।=)

अपनी ढंग की यह भी बहुत सस्ती पुस्तक है। हरएक व्यक्ति को इसकी एक प्रति अपने पास रखनी चाहिए।
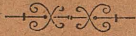
विनय-पत्रिका

टीकाकार स्व० बैजनाथजी। यह पुस्तक बहुत दिनों से अप्राप्त थी। मूल्य ३)

बीजक कबीरदास

श्रीकबीरदासजी की वाणी का संग्रह। टीका श्रीविश्वनाथसिंहजी ने की है। मूल्य सजिल्द ३)

कालिदास और सेक्सपीयर

संस्कृत और अँगरेज़ी न जाननेवालों के लिये संस्कृत और अँगरेज़ी साहित्य की ख़ूबी जानने के लिये इसे अवश्य पढ़ना चाहिए। साहित्य-सेवियों के लिये तो यह बड़े काम की चीज़ है। दोनों साहित्य की ख़ूबियाँ इसमें ख़ूब दिखाई गई हैं। मूल्य २)

मैनेजर नवलकिशोर-प्रेस, बुकडिपो, लखनऊ.

साहित्य-सुमन-माला की नई और निराली पुस्तक

काम-कुंज
अश्लील नहीं है

विषय-सूची

मूल्य २॥)

लेखक—श्रीसंतराम बी० ए०

स्त्री-पुरुष-संबंधी कितनी ही ऐसी बातें हैं, जिनके न जानने से मनुष्य को जीवन का सच्चा सुख और आनंद नहीं मिलता। धन, जन और विद्या के होते हुए भी उनके चित्त को ईप्सित शांति नहीं मिलती। स्त्री-पुरुष-संबंधी शास्त्र की अनभिज्ञता के कारण सुविख्यात और लोकमान्य नेताओं को, उच्च पदाधिकारियों को, लक्ष्मी के लाड़लों को, सरस्वती के सपूतों को भी जीवन का सच्चा सुख नहीं मिलता। उस सुख की प्राप्ति के लिये वे निरंतर मथा करते हैं। जिसके अभाव से वे चिंताओं और अनेक प्रकार के रोगों के शिकार बने रहते हैं। पवित्र और सच्चा प्रेम उनको आकाश-कुसुमवत् मालूम होता है। कारण, वह स्त्री के हृदय को समझ नहीं सकते, स्त्री-प्रेम की परख नहीं कर सकते, उनकी मौन भाषा को समझने की उनमें शक्ति नहीं, उनके संकेत का उन्हें ज्ञान नहीं, उनकी सहिष्णुता का उनके यहाँ कोई आदर नहीं, उनके आचार-विचार के रहस्य समझने की बुद्धि नहीं, उनकी अजेय शक्ति का उन्हें भान नहीं, उनके प्राकृतिक सौंदर्य की सराहना नहीं; तब फिर जीवन का आनंद कहाँ? काम-कुंज को पढ़िए और इसके रहस्य को जानिए।

प्रत्येक गृहस्थ को इसे एक बार अवश्य पढ़ना चाहिए

मैनेजर नवलकिशोर-प्रेस, बुकडिपो, लखनऊ।

श्रीप्रेमचंदजी

की

नई पुस्तक

अग्नि-समाधि तथा अन्य कहानियाँ

मूल्य १।)

शीघ्र मँगाइए। अब थोड़ी ही प्रतियाँ रह गई हैं।

पढ़िए और लेखक की क़लम की करामात के क़ायल होइए।

वैचित्र्य-चित्रण

वैचित्र्य चित्रण

इसमें ६ अध्याय हैं—नराध्याय, वानराध्याय, जलचराध्याय, स्थलचराध्याय, उद्भिज्जाध्याय, प्रकीर्णकाध्याय जिनमें द्विवेदीजी ने सृष्टि की अजूबात का वर्णन बड़ी मार्मिक भाषा में किया है। पुस्तक में अनेक नई और आश्चर्य जनक बातें पढ़कर आनंद उठाइए। पढ़ने में उपन्यास से बढ़कर मज़ा आता है। मूल्य ॥=)

वैचित्र्य चित्रण

लेखक, श्रीमहावीरप्रसाद द्विवेदी

मैनेजर नवलकिशोर-प्रेस, बुकडिपो, लखनऊ।

साहित्य-सुमन-माला के

स्थायी ग्राहकों के नियम

(१) स्थायी ग्राहक-सूची में नाम लिखानेवाले सज्जनों को प्रवेश-शुल्क के ॥) पेशगी भेजने पड़ेंगे।

(२) स्थायी ग्राहकों को माला में प्रकाशित सभी ग्रंथ पौने मूल्य पर दिए जायँगे। प्रत्येक ग्राहक ग्रंथ-माला की प्रकाशित पुस्तकों की प्रतियाँ अपनी इच्छानुसार एक से अधिक हर समय मँगा सकते हैं।

(३) नवीन पुस्तकों के प्रकाशित होने पर सूचना दी जायगी। १५ दिन तक पत्रोत्तर का आसरा देखकर वी० पी० लेना स्वीकार समझकर पुस्तकें वी० पी० से भेज दी जायँगी। पुस्तकें यथासाध्य ४-५ एक साथ भेजी जायँगी, जिससे ग्राहकों को डाक-ख़र्च की बचत होगी।

(४) नवीन पुस्तकों में ग्राहकों को सभी पुस्तकें लेना आवश्यक नहीं है। यह उनकी इच्छा पर निर्भर है। परंतु वर्ष-भर में कम-से-कम ५) की पुस्तकें लेना प्रत्येक ग्राहक को आवश्यक है।

(५) जिस ग्राहक के यहाँ से दो बार वी० पी० वापस लौट आएगी, उसका नाम स्थायी ग्राहक-सूची से पृथक् कर दिया जायगा।

(६) स्थायी ग्राहकों को नवलकिशोर-प्रेस से प्रकाशित हिंदी और उर्दू-पुस्तकें (रीडरों को छोड़कर) पौने मूल्य पर दी जायँगी।

नोट—हमारी प्रकाशित पुस्तकों का सूचीपत्र सूचना मिलने पर मुफ़्त भेजा जाता है।

आदेश-पत्र

सेवा में—

व्यवस्थापकजी, बुकडिपो, नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ.

प्रिय व्यवस्थापकजी,

आपकी ग्रंथ-माला के उद्देश्य और विशेषताएँ तथा स्थायी ग्राहकों के नियम पढ़े। सब स्वीकृत हैं। मैं आपकी ग्रंथ-माला का स्थायी ग्राहक बनना चाहता हूँ। कृपया मेरा नाम स्थायी ग्राहक-सूची में लिख लीजिए। प्रवेश-शुल्क के ॥) मनीऑर्डर से भेजता हूँ / पहली वी० पी० में जोड़ लीजिए और नवीन पुस्तकें जो भी इस ग्रंथ-माला में प्रकाशित हों, उसकी सूचना नियमानुसार भेजते रहिए।

योग्य सेवा लिखिएगा।

भवदीय

[हस्ताक्षर कीजिए]

मेरा पता

____

____

____

[नोट—नाम और पता साफ़-साफ़ अक्षरों में लिखने की कृपा कीजिए]

लेख-सूची

سمن بغرض قرارداد امور تنقیح طلب

مقدمہ نمبر ۸۶ سنہ ۱۹۳۰ع دیوانی

عدالت جناب منصف صاحب بہادر صفیپور مقام اوناو

لالتاسنگھ ولد گجودھرسنگھ قوم ٹھاکر ساکن رتنپور موضع دھرموپور پرگنہ ڈیرہپور ضلع کانپور — مدعی

بنام جگناتھسنگھ وغیرہ

بنام جگناتھسنگھ و ھردیوسنگھ پسران لال شاہسنگھ قوم ٹھاکر ساکن موضع سادیپور پرگنہ بانگرمؤ ضلع اوناو مدعاعلیہ

واضح ہو کہ مدعی نے تمہارے نام ایک نالش بابت ۷۶۲ روپیہ کے دایر کی ہے لہذا تم کو حکم ہوتا ہے کہ تم بتاریخ ۷ سات ماہ نومبر سنہ ۱۹۳۰ع بوقت ۱۰ بجے دن اصالتاً یا معرفت وکیل کے جو مقدمہ کے حال سے قرار واقعی واقف کیا گیا ہو اور جو کل امورات اہم متعلقہ مقدمہ کا جواب دے سکے یا جس کے ساتھ کوئی اور شخص ہو جو جواب ایسے سوالات کا دے سکے حاضر ہو اور جوابدہی دعوی مدعی مذکور کی کرو اور تم کو ہدایت کی جاتی ہے کہ جملہ دستاویزات کو جن پر تم بنائید اپنی جوابدہی کے استدلال کرنا چاہتے ہو پیش کرو *

مطلع رہو کہ اگر بروز مذکور تم حاضر نہ ہوگے تو مقدمہ تمہارے غیرحاضری میں مسموع اور فیصل ہوگا آج بتاریخ ۹ ماہ اکتوبر سنہ ۱۹۳۰ع میرے دستخط اور مہر عدالت سے جاری کیا گیا *

جج

تنبیہہ—اگر بیانات تحریری کی ضرورت ہو تو لکھنا چاہئے کہ تم کو (یا فلاں فریق کو یعنی جیسی کہ صورت ہو) حکم دیا جاتا ہے کہ بیان تحریری معہ جملہ کاغذات بتاریخ ۳۱ ماہ اکتوبر سنہ ۱۹۳۰ع تک گذرانو

اگر کوئی عدالت بموجب آرڈر ۵ قاعدہ ۳ مجموعہ ضابطہ دیوانی مدعاعلیہ کی اصالتاً حاضری کی ضرورت سمجھے تو فارم (۱-O) (یا ۲-O) استعمال کرے اور محض الفاظ "یا معرفت وکیل کے جو مقدمہ کے حال سے قرار واقعی واقف کیا گیا ہو اور جو کل امور اہم متعلقہ مقدمہ کا جواب دے سکے یا جس کے ساتھ کوئی اور شخص ہو کہ جواب ایسے سوالات کا دے سکے" قلمزد کر دے *

وقت حاضری بدفتر عدالت منصفی صفیپور مقام اوناؤ ۱۰ دس بجے سے ۴ چار بجے تک *

آرڈر ٥ رول ٢٠ ضابطه ديواني

سمن بغرض انفصال مقدمه

مقدمه نمبر ٦٨٧ سنه ١٩٣٠ع خفيفه

بعدالت جناب كنور رگهوراج بهادر صاحب بهادر منصف كنڈه مقام پرتاب گڈه

بلديو ولد درشن برهمن تيواري ساكن موضع امرهي پرگنه رامپور تحصيل كنڈه ضلع پرتاب گڈه مدعي

بنام رامناتهه

بنام ١ رامناتهه ولد شنكر برهمن تيواري ساكن پوره بنشي پرگنه رامپور تحصيل كنڈه ضلع پرتاب گڈه مدعاعليه

هرگاه مدعي نے تمهارے نام ايک نالش بابت مبلغ ١١٣ روپيه كے داير كي هے لهذا تم كو حكم هوتا هے كه تم بتاريخ ٣١ اكتيس ماه اكتوبر سنه ١٩٣٠ع بوقت ١٠ دس بجے دن اصالتاً يا معرفت وكيل كے جو مقدمه كے حال سے قرار واقعي واقف كيا گيا هو اور جو كل أمور اهم متعلقه مقدمه كا جواب دے سكے يا جس كے ساتهه كوئي اور شخص هو جو جواب ايسے سوالات كا دے سكے حاضر هو اور جوابدهي دعوى مدعي مذكور كي كرو اور هرگاه وهي تاريخ جو تمهارے احضار كے لئے مقرر هي واسطے انفصال قطعي مقدمه كے تجويز هوئي هے پس تم كو لازم هے كه اپنے جواب دعوى كي تائيد ميں جن گواهوں كي شهادت پر يا جن دستاويزات پر تم استدلال كرنا چاهتے هو أسي روز أن كو پيش كرو*

مطلع رهو كه اگر بروز مذكور تم حاضر نه هوگے تو مقدمه بغير حاضري تمهارے مسموع اور فيصل هوگا*

آج بتاريخ ٧ ماه اكتوبر سنه ١٩٣٠ع ميرے دستخط اور مهر عدالت سے جاري كيا گيا*

جج

चित्र-सूची

१—रंगीन

२—व्यंग्य-चित्र

समन बग़रज़ क़रारदार उमूर तनक़ीह तलब

मुक़दमा नम्बर २१७ सन् १९३० ई०

अदालत श्रीमान् पंडित प्यारेलाल भार्गव साहब बहादुर मुंसिफ़ जनूबी हरदोई मुक़ाम हरदोई।

सालिकराम मु० रामसिरी वग़ैरा — मुद्दई

बनाम

मानकचन्द वल्द लाला दयालदास रस्तोगी दुकानदार शहर फ़र्रुख़ाबाद मुहल्ला पुरी खयालीराम ज़िला फ़र्रुख़ाबाद — मुद्दाअलेह

वाज़े हो कि मुद्दई ने तुम्हारे नाम एक नालिश बाबत् ७३५) के दायर की है लिहाज़ा तुमको हुक्म होता है कि तुम बतारीख़ २१ माह ११ सन् १९३० ई० वक़्त १० पर असालतन् या मारफ़त वकील के जो मुक़द्दमे के हाल से क़रार वाक़ई वाकिफ़ किया गया हो और जो कुल उमूरात अहम मुतअल्लिक़ै मुक़दमा का जवाब दे सके या जिसके साथ कोई और शख़्स हो जो जवाब ऐसे सवालात का दे सके हाज़िर हो और जवाबदिही दावा मुद्दई मज़कूर की करो और तुमको हिदायत की जाती है कि जुमला दस्तावेज़ात को जिन पर बताईद तुम अपनी जवाबदिही के इस्तदलाल करना चाहते हो पेश करो।

मुत्तिला रहो कि अगर बरोज़ मज़कूर तुम हाज़िर न होगे तो मुक़दमा तुम्हारी ग़ैरहाज़िरी में मसमू और फ़ैसल होगा।

आज बतारीख़ २१ माह १० सन् १९३० ई० मेरे दस्तख़त और मोहर अदालत से ज़ारी किया गया।

जज

वक़्त हाज़िरी बदफ़्तर १० बजे से ४ बजे तक

समन बग़रज़ इनफ़िसाल मुक़द्दमा

मुक़द्दमा नम्बर ६७९ सन् १९३० इब्तिदाई ख़फ़ीफ़ा।

बअदालत ख़फ़ीफ़ा मुंसफ़ी तरबगंज मुक़ाम गोंडा।

केशोराम वल्द कामताप्रसाद क़ौम बरहमन गाँव लौसीसा परगना गोंडा ज़िला गोंडा — मुद्दई

बनाम

भवानीप्रसाद — मुद्दाअलेह

बनाम भवानीप्रसाद वल्द रामनाथ बरहमन शुकुल गाँव बेलवा शुकुल परगना गोंडा ज़िला गोंडा वारिदहाल हैदराबाद सिंध — मुद्दाअलेह

हरगाह मुद्दई ने तुम्हारे नाम एक नालिश बाबत् २२७=)॥ के दायर की है लिहाज़ा तुमको हुक्म होता है कि तुम बतारीख़ ११ ग्यारह माह नवम्बर सन् १९३० ई० बवक़्त १० असालतन् या मारफ़त वकील के जो मुक़द्दमे से क़रार वाक़ई वाक़िफ़ किया गया हो और जो कुल उमूर अहम मुतअल्लिक़ै मुक़द्दमा का जवाब दे सके या जिसके साथ कोई और शख़्स हो जो जवाब ऐसे सवालात का दे सके हाज़िर हो और जवाबदिही दावै मुद्दई मज़कूर की करो और हरगाह वही तारीख़ जो तुम्हारे अहज़ार के लिये मुक़र्रर है वास्ते इनफ़िसाल क़तई मुक़द्दमे के तजवीज़ हुई है पस तुमको लाज़िम है कि अपने जवाबदावा की ताइद में जिन गवाहों की शहादतपर या जिन दस्तावेज़ात पर तुम इस्तदलाल करना चाहते हो उसी रोज़ उनको पेश करो।

मुत्तिला रहो कि अगर बरोज़ मज़कूर तुम हाज़िर न होगे तो मुक़द्दमा बग़ैर हाज़िरी तुम्हारे मस्मू और फ़ैसल होगा—आज बतारीख़ २० माह अक्तूबर सन् १९३० ई० मेरे दस्तख़त और मुहर अदालत से जारी किया गया।

वक़्त हाज़िरी बदफ़्तर मुक़ाम तरबगंज मुकाम गोंडा १० बजे से ४ बजे तक।

समन क़तई

मुक़द्दमा नम्बर ९९ — सन् १९३० ई०

अदालत पंडित हरीशंकर चतुर्वेदी मुंसिफ़ साहब बहादुर जनूबी मुक़ाम उन्नाव।

अयोध्याप्रसाद वल्द अँगनू क़ौम बरहमन साकिन खुटहा नौगवाँ परगना हड़हा ज़िला उन्नाव ……………मुद्दई

बनाम

पंडित शिवसहाय वग़ैरह — मुद्दाअलेह

१—पंडित शिवसहाय वल्द रामचरन बरहमन साकिन घाटमपुर परगना घाटमपुर ज़िला उन्नाव।
२—पुतान वल्द गंगा बरहमन साकिन शहर कानपुर मोहल्ला चौक सराफ़ा। } मुद्दाअलेह

वाज़े हो कि मुद्दई ने तुम्हारे नाम एक नालिश बाबत् मंसुखी पुरोनोट के दायर की है लिहाज़ा तुमको हुक्म होता है कि तुम बतारीख़ २० बीस माह नवम्बर सन् १९३० ई० वक़्त, १० दस बजे पर असालतन् या मारफ़त वकील के जो मुक़द्दमे के हाल से क़रार वाक़ई वाक़िफ़ किया गया हो और जो कुल उमूरात अहम मुतअल्लिक़ै मुक़द्दमा का ज़वाब दे सके या जिसके साथ कोई और शख़्स हो जो जवाब ऐसे सवालात का दे सके हाज़िर हो और जवाबदिही दावा मुद्दई मज़कूर की करो और तुमको हिदायत की जाती है कि जुमला दस्तावेज़ात को जिन पर तुम बताईद अपनी जवाबदिही के इस्तदलाल करना चाहते हो पेश करो।

मुत्तिला रहो कि अगर बरोज़ मज़कूर तुम हाज़िर न होगे तो मुक़द्दमा तुम्हारी ग़ैरहाज़िरी में मसमू और फ़ैसल होगा।

आज बतारीख़ २७ माह अक्तूबर सन् १९३० ई० मेरे दस्तख़त और मोहर अदालत से ज़ारी किया गया।

जज

वक़्त हाज़िरी बदफ़्तर मुंसफ़ी जनूबी मुकाम उन्नाव १० से ४ बजे तक।

७ मुख्य विशेषताएँ

"इंकोग्राफ्स" को बेचो

१. यह एक सुन्दर, आसानी से और आराम के साथ और साथ ही सबसे तेज़ लिखनेवाली क़लम है।

२. यह असल के साथ ही एक ही बार में तीन या चार कारबन की कापी भी निकालती है।

३. इसकी रोशनाई बराबर निकलती है और आप चाहे जितनी तेज़ी से लिखिए आपको लिखते हुए कभी रुकना न पड़ेगा।

४. आप चाहे जिस तरीक़े से लिखिए इसकी गोलाकार १४ कैरेट गोल्ड की लिखने की क़लम न झुकेगी, न फैलेगी और न ख़राब होगी।

५. इससे आप लाइनें खींच सकते हैं।

६. लिखना और अच्छा हो जाता है।

७. यह क़लम बड़ी कारीगरी का नमूना है और ज़िन्दगी भर काम देने के लिए विज्ञान की सबसे नवीन ईज़ादों से यह बनाई गई है। साथ ही इससे मसाले की ख़राबी के लिए हम १० वर्ष की गारंटी भी करते हैं जो गारंटी कभी किसी क़लम के लिए नहीं की गई है।

मारके	क़ीमत		
नं० १४ बी	९),	नं० ३ यक्स	१०)
,, १४ एम्० एक्स	१२),	,, १७ ,,	१४)
,, ६ एक्स	१५),	,, १५ एम् यक्स	१४)

पोस्टेज और पैकिंग अलग

मेसर्स जे० जे० शाह ऐंड सन्स

पो० बा० नं० २१८३,

कालबादेवी रोड, बम्बई

इंलार्जमेंट के साथ मुफ़्त

हर एक इन्लार्जमेंट के साथ हम एक सुन्दर पोरसे लेट मीनिएचर (Procelette Miniature) जो ब्रोचेज़ (Brooches) आदि में लगाने योग्य होते हैं, उन लोगों को बिलकुल मुफ़्त देंगे जो अपने आर्डर के साथ इसका कटिंग भेजेंगे। इन्लार्जमेंट जो किसी फोटोग्राफ से किया जायगा फिर वह चाहे जितना छोटा, पुराना या बिगड़ा हो, "१६×२०" का कनवस के ऊपर रोशनाई का चार्ज १२॥) Rich Sepia पर १५) वाटर कलर जिसमें कई रंग होंगे उसका २५) आपको संतोष होने की गारंटी होगी। असल वैसी ही वापस दी जायगी। आधा चार्ज पेशगी।

पता—

यूनिवर्सल फोटो इन्लार्जिंग कं०

पो० बा० नं० २१८३, म० ल०।

कालबादेवी बम्बई नं० २

रैपिड डुप्लीकेटर

इसमें १० मिनट में १०० सुंदर और साफ़ कापी निकलती हैं एक या कई रंगों में भी निकाली जा सकती हैं। रोशनाई या रोलर लगाने की ज़रूरत नहीं। कुछ ख़र्चा नहीं होता। कुछ इंतिज़ार की ज़रूरत नहीं। स्टेंसिल का काम नहीं और कोई पुराना तरीक़ा इसमें नहीं है। किसी काग़ज़ पर आप लिखिए, या टाइप कर लीजिए या कोई तसवीर बना लीजिए और आपको १० मिनट में बिला तकलीफ़ के १०० कापी तैयार मिल जायँगी। यह अन्य किसी बेशक़ीमती मशीन से अच्छी है।

सौदागरों, बैंकों, दलालों, क्लबों, कालेजों, स्कूलों, रेलवे आदि के लिए विशेष उपयोगी है।

केवल फुलिस्केप साइज़ मय सब सामान दाम २०) पैकिंग और पोस्टेज अलग। ५) पेशगी

मेसर्स जे० जे० शाह ऐंड सन्स

पो० बा० २१८३, एम्० एल्० कालबादेवी रोड

बम्बई नं० २

अध्यक्ष—श्रीविष्णुनारायण भार्गव

वर्ष ६ खंड १ | कार्त्तिक, ३०७ तुलसी-संवत् (१६८७ वि०) | संख्या ४ पूर्ण संख्या १००

विवशता

तुम चाहते हो न हमें दिल से,
यह तो न किसी से बताया करो;
हमको तुम नाहक दोष न दो,
कुछ और ही बात बनाया करो।

इतनी तो दया दिखलाया करो,
तुम नाथ ! हमें न भुलाया करो ;
तरसाया करो तड़पाया करो,
कलपाया करो पर आया करो।

गोपालशरणसिंह

काव्य-साहित्य

मनुष्य-मन की श्रेष्ठ रचना काव्य है । विचार की ऊँची दृष्टि से उसकी निष्कलुषता तक पहुँचकर शब्दब्रह्म से उसका संयोग प्रत्यक्ष करने के पश्चात् यहाँ के लोगों ने उसे ब्राह्मी स्थिति क़रार दिया । अन्यान्य देशवालों ने भी तरह-तरह के तरीक़े इख़्तियार कर एक अप्रत्यक्ष दिव्य शक्ति को ही काव्य के कारण के रूप से सिद्ध किया । काव्य में यदि कोई कवि अपने व्यक्तित्व पर ख़ास तौर से ज़ोर देता हो, तो इसे उसका अक्षम्य अहंकार न समझ, मेरे विचार से, उसकी विशाल व्याप्ति का साधन समझना निरुपद्रव होगा । कारण, अहंकार को घटाकर मिटा देना जिस तरह पूर्ण व्याप्ति है—जैसा भक्त कवियों ने किया, उसी तरह बढ़ाकर भूमा में परिणत कर देना भी पूर्ण व्याप्ति है—जैसा ज्ञानियों ने किया । शंकर, कबीर, रवींद्रनाथ, गेटे बढ़नेवालों में हैं और तुलसीदास, सूरदास तथा अपर भक्त कवि आदि अहंकार की भूमि से घटनेवालों में, दोनों जैसे एक ही शक्ति की अणिमा और द्राघिमा विभूति हों । काव्य के विचार के लिये भाषा, भाव, रस, अलंकार आदि आलोचक के लिये यथेष्ट शस्त्र हैं । विचार केवल काव्य का उचित है, न कि अन्य असंगत बातों का ।

जिस तरह कवियों पर एकदेशीयता के दोष लगाए जाते हैं, उसी तरह प्रायः अधिकांश आलोचक भी अपने ही विवर के व्याघ्र बने बैठे रहते, अपनी ही दिशा के ऊँट बनकर चलते हैं । जैसे, हिंदी-साहित्य की पृथ्वी पर अब व्रजभाषा का प्रलय-पयोधि नहीं है, वह जलराशि बहुत दूर हट गई, राष्ट्रभाषा के नाम से उससे जुदा एक दूसरी ही भाषा ने आँख खोल दी, पर "धृतवानसि वेदम्" के भक्तों की नज़र में अभी यहाँ वही सागर उमड़ रहा है । नहीं मालूम, "बेवक़्त की शहनाई" के और क्या अर्थ हैं । एक समस्या पर ५२ ज़िले के कवि ढेर हो जाते हैं । "प्रेमचंद"जी के उपन्यासों ने नई जान डाल दी, भाषा का सरल संगत प्रवाह बहा दिया, "प्रसाद" जी की प्रतिभा के सूर्य का मध्याह्नकाल हो गया । "पंत"जी के "पल्लव" की परी सोलहवें साल पर क़दम रख चुकी ; पर साहित्य का मंगलाप्रसाद पारितोषिक इन्हें मिला ? क्यों नहीं मिला, कारण आप जानते हैं ?—आलोचकों की योग्यता !!!

ऐसे आलोचक प्रायः सभी देशों में रहते हैं । हिंदी तो अभी बालिका है, उसकी इज़्ज़त नहीं की जाती तो न की जाय ; समय उसके सेवकों को और बड़ा पुरस्कार देगा । अँगरेज़ी, जिसके प्रतापका सूर्य कभी अस्त होता ही नहीं, ऐसे सदाशयों से ख़ाली नहीं । टामस हार्डी अभी उस दिन मरे हैं । तब भी साहित्य की पताका इसी तरह आकाश में फहरा रही थी । पर तिरस्कार के प्रति हार्डी कहते हैं—

"Mock on ! mock on, yet I'll go pray
To some Great Heart, who happily may
Charm mental miseries away."

(हँसो, मज़ाक़ करो, फिर भी मैं किसी महान् आत्मा से प्रार्थना करता जाऊँगा जो कदाचित् मानसिक दुःखों को अपनी प्रभा से चकित कर हटा सकती है ।)

बंगाल में जब रवींद्रनाथ की प्रतिभा की किरणें सरसाहित्यिकों के हृदय के कमलों को खोल रही थीं और सब लोग उनकी प्रशंसा करने लगे थे, उस समय कितना विरोध हुआ था ! रवींद्रनाथ ने एक पद्य में इसकी कैफ़ियत दी थी । उसमें उनके कवि-हृदय का काव्य-स्रोत ही फूट पड़ा है ।

"अश्रु झलिछे शिशिरेर मत,
पोहाइये दुख-रात !"

[ये आँसू हैं, मित्र, (शब्द नहीं) जो ओस-कणों की तरह दुःख की रात पार कर अब चमक रहे हैं ।]

"जान कि बंधु, उठियाछे गीत
कतो व्यथा भेद करि ।"

(हे मित्र, क्या तुम जानते हो, ये गीत कितनी व्यथा पार कर निकले हैं ?)

एक दिन सुमित्रानंदन को भी आलोचनाओं से घबराकर भवभूति की तरह इस भाषा में लिखना पड़ा था—

"न पिक-प्रतिभा का कर अभिमान,
मनन कर मनन, शकुनि नादान !"

गोस्वामी तुलसीदास को इन आलोचकों से कम घबराहट न थी ।

"भाषा-भनित मोरि मति थोरी ।
हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी ।"

ज़रा सोचिए तो, समालोचकों की किस वृत्ति का इन पंक्तियों से परिचय मिलता है । श्रीहर्ष के मामा ने कहा, मैंने काव्य के दोष-दर्शन के लिये व्यर्थ ही इतना परिश्रम किया, तुम्हारे नैषध में सब दोष एकत्र मिल जाते हैं । और यह वह नैषध है, संस्कृत-साहित्य में जिसकी जोड़ का दूसरा काव्य-ग्रंथ है ही नहीं, जिसके उदय से किरातार्जुनीय और शिशुपाल-वध-जैसे महाकाव्यों की प्रभा मंद पड़ गई । आलोचकों की कृपा जिन पर नहीं हुई, ऐसे भाग्यवान् कवि संसार में थोड़े ही होंगे ।

जिन तीन साहित्य-रथियों का मैं ज़िक्र कर चुका हूँ, "प्रेमचंद"जी, "प्रसाद"जी और "पन्त"जी, वे कृति तैयार करनेवाले हैं, उनकी आलोचनाएँ कैसी भी हों, वे आलोचनाओं से पहले हैं, पीछे नहीं । आज भी हिंदी-साहित्य के व्याकरण की निंदा होती है, महात्मा गांधी-जैसे श्रेष्ठ मनुष्य का कहना है कि यू० पी० वालों की भाषा ठीक नहीं होती—अगर कोई ऐसे हैं, तो महात्माजी को इसका ज्ञान नहीं, पर इससे हिंदी-साहित्य की प्रगति नहीं रुक रही, और भाषा के व्याकरण पर दोष देनेवालों की दिक़्क़तें भी, बामुहाविरा हिंदी लिखनेवाले यू० पी० के बड़े-बड़े साहित्यिकों को, जिन्हें अपर दो-एक साहित्यों के व्याकरण का भी ज्ञान है, मालूम हो जाती हैं । इसके कारण के लिखने की यहाँ जगह नहीं । मैं सिर्फ़ यही कहूँगा कि व्याकरण जिस तरह भाषा का अनुगामी है, समालोचक उसी तरह कृति का। कृति की दुर्दशा करके, यदि उस कृति के फूल खुले हैं और उनमें सुगंध है, समालोचक अपना जितना भी ज़बरदस्त ठाट खड़ा करे, वह कभी टिक नहीं सकता । इसलिये समालोचक को कृति के साथ ही रहना चाहिए । "प्रसाद"जी की आजकल जैसी आलोचनाएँ निकल रही हैं, उनमें अस्सी फ़ी सदी आलोचना सहानुभूति से रहित और आक्रमण है । पंडित रामचंद्र शुक्ल की "काव्य में रहस्यवाद" पुस्तक उनकी आलोचना से पहले उनके अहंकार, हठ, मिथ्याभिमान, गुरुडम तथा रहस्यवादी या छायावादी कवि कहलानेवालों के प्रति उनकी अपार घृणा सूचित करती है । ऐसे दुर्वासा-समालोचक कभी भी किसी कृति-शकुंतला का कुछ बिगाड़ नहीं सके, अपने शाप से उसे और चमका दिया है ।

फूल का मुख्य गुण है उसकी सुगंध, कृति का मुख्य गुण उसकी रोचकता । पर जिस तरह चीनियों को घी में बदबू मिलती है और सोड़े में डुबोकर जीते हुए तिलचट्टे खाने में स्वाद, उसी तरह यदि पूर्वोक्त-जैसे कृतिकारों की रचनाएँ किसी को रुचिकर प्रतीत न हों और गुणों की गणना से दोषों की ही संख्या बढ़ रही हो, तो संदेह उन्हीं की रुचि-योग्यता पर होगा, जो एक हिंदुस्थानी चीज़ को अँगरेज़ी चीज़ (Cheese—पनीर) बना डालते हैं (कहते हैं, जिस पनीर में कीड़े पड़ जाते हैं—सड़कर बदबू आने लगती है, वह खाने में ज़्यादा स्वाददार समझी जाती है, कारण, कीड़े कुछ मीठे होते हैं) । दूसरा कारण यह भी है कि "उग्र"जी की कृति पढ़कर समालोचक अपनी आलोचना की तोप में बर्नार्डशा, डी० एल्० राय और रोमाँरोलाँ को भरकर दागते हैं । "उग्र"जी भी बर्नार्डशा होते यदि आपका समाज अँगरेज़ों के समाज की तरह शिक्षा तथा सभ्यता की उतनी ही सीढ़ियाँ तय किए हुए होता । रही बात योग्यता की, सो "उग्र"जी की योग्यता का पता लगाने से पहले बर्नार्डशा की ही योग्यता का पता लगाकर बतलाइए कि वह किस विश्व-विद्यालय से Ph. D होकर निकले हैं, जो यह फ़िलासफ़ी छाँट रहे हैं, और कहाँ के वह साहित्य के डाक्टर हैं, जो नोबेल-पुरस्कार प्राप्त कर लिया । जैसे उनके लिये अँगरेज़ी सुगम है, वैसे ही "उग्र"जी के लिये हिंदी; उनके अँगरेज़ी के चित्र, अँगरेज़-समाज के परिचायक हैं, "उग्र"जी के हिंदी के चित्र हिंदी-समाज के परिचायक । आपको अच्छा न लगे, तो चीन या विलायत चले आइए, यहाँ क्यों व्यर्थ घी की बदबू में सड़ रहे हैं ?

कृतिकार कहाँ से सौंदर्य, सत्य और भावना पाता है, वह भारतीयों के स्वर से कंठ मिलाकर राबर्ट ब्रिजेज़ ने कहा है—

"Thy work with beauty crown,
thy life with love ;

Thy mind with truth uplift to God above;
For whom all is, from whom was all begun;
In whom all Beauty, Truth and Love
are one."

(तुम्हारी कृति सौंदर्य-किरीटिनी हो, तुम्हारा जीवन सप्रेम; तुम्हारा मन सत्य के साथ ऊपर ईश्वर तक चढ़ा हुआ हो; जिसके लिये ही सब कुछ है, जिससे सब शुरू हुआ, जिसमें सब सौंदर्य, सत्य और प्रेम एक है।)

सत्य या ईश्वर ही का वह रंग है, जो रस के रूप से कृतिकार की आत्मा के भावों की तरंग को पाठक की आत्मा से मिला देता है। अनेक प्राणों में एक ही प्रकार की सहानुभूति, एक ही मधुर राग बज उठता है। ब्रिजेज़ के ये भाव भारत के हृदय में चिरंतन सत्य की प्रतिष्ठा पा रहे हैं। इन पंक्तियों में सत्य का जो सूत्र है, उससे भारत और इँगलैंड बँधा हुआ है। दोनों आत्माएँ एक हैं, जातिगत कोई भी वैषम्य यहाँ नहीं।

प्रिया के चित्र को कितनी ख़ूबसूरती से कविवर विलियम् शेक्सपियर खींचते हैं! देखिए—

"Mine eye hath play'd the painter and
hath stell'd
Thy beauty's form in table of my heart;
My body is the frame where in it is held,
And perspective it is best painter's art.
For through the painter must you see
his skill,
To find where your true image pictured lies,
Which in my bosom's shop is hanging still,
That hath his windows gazed with
thine eyes.
Now see what good turns eyes for eyes
have done;
Mine eyes have drawn thy shape, and
thine for me
Are windows to my breast................"

(मेरी आँखों ने चित्रकार का काम किया। तुम्हारे सौंदर्य की तस्वीर मेरे हृदय की मेज़ पर रख दी। मेरा शरीर उसका साँचा है, जिसके अंदर वह रक्खी है। शीशे के अंदर से देख पड़ती हुई-सी वह सर्वश्रेष्ठ चित्रकार की कला है; क्योंकि उस चित्रकार के भीतर से तुम अवश्य उसकी कुशलता प्रत्यक्ष कर लोगी। तुम समझ लोगी, कहाँ तुम्हारी सच्ची मूर्ति खिंची हुई रक्खी है। वह तस्वीर मेरे हृदय की दूकान में निस्तब्ध लटक रही है, जिसे देखने के झरोखे तुम्हारी हेरती हुई आँखें हैं। अब देखो कि आँखों ने आँखों को कैसा बदला दिया। मेरी आँखों ने तुम्हारी तस्वीर खींच ली, और तुम्हारी आँखें मेरे लिये मेरे हृदय की खिड़कियाँ हैं।) कितना कमाल है!

"लोचन-मगु रामहिं उर आनी।
दीन्हे पलक-कपाट सयानी।"—

में स्नेह का प्रकाश तो है, पर इतना बड़ा सौंदर्य अवश्य नहीं। क्या इस तरह के भाव को, यदि इसके दो एक कारण—जैसे, मेज़ का उल्लेख है, हटा दिए जायँ, तो क्या किसी भारतीय के लिये अपनी चीज़ कहने में कोई असुविधा हो सकती है? इस प्रकार की एक उक्ति और याद आई—

"नयन झरोखे बैठि कै, सबको मुजरा लेय।
जाकी जैसी चाकरी, ताको तैसो देय।"

भावों की उच्चता पर कुछ भी नहीं कहना, पर कला की जो ख़ूबसूरती शेक्सपियर में है, वह इसमें भी नहीं। इस तरह के भाव—"तेरे नैनन-झरोखे बीच झाँकता सो कौन है" अनेक लड़ियों में गुँथे हुए मिलते हैं। हिंदी में कहीं मैंने शेक्सपियर की-सी उक्ति पढ़ी है, मुझे स्मरण नहीं। प्रिया और प्रियतम के स्नेह का आदान-प्रदान इस तरह की उक्तियों से बढ़ा दिया जाता है, इसलिये सांसारिक दृष्टि से इस कला को बहुत बड़ा महत्त्व प्राप्त है।

"I fear thy kisses, gentle maiden,
Thou needest not fear mine,
My spirit is too deeply laden
Ever to burthen thine,
I fear thy mien, thy tones, thy motion,
Thou needest not fear mine;
Innocent is the heart's devotion
With which I worship thine."
—P. B. Shelley.

(हे धीर कुमारी, मुझे तुम्हारे चुंबनों से भय है, पर तुम्हें मेरे चुंबनों से नहीं घबराना चाहिए, क्योंकि

मेरी शक्ति इतनी दबी हुई है कि वह तुम्हारी शक्ति का भार नहीं सँभाल सकती।

मैं तुम्हारी छवि, वाणी और गति से डरता हूँ, पर तुम्हें मेरी चेष्टाओं से नहीं डरना चाहिए; क्यों? हृदय के जिस अर्घ्य से मैं तुम्हें पूजता हूँ, वह निर्दोष है।)

शेली की इन पंक्तियों में, कविता-कुमारी की साधना कर वह कितना कोमल बन गया था, इसका प्रमाण मिल जाता है। प्रायः कवियों को हम कुमारियों की पूजार्चना करते हुए, अनेक प्रकार की स्तुतियों से उन्हें प्रसन्न करते हुए देखते हैं। पर शेली अपनी सुंदरी कुमारी की छवि, शब्द तथा गति से भी डरता है, जैसे कुमारी की गति से उसी के सुकुमार प्राण काँप उठते हों—इतनी कोमलता।

कल्पनामय, शब्दों में प्रांजल रवींद्रनाथ—

"अलख निरंजन—
महारब उठे बंधन टुटे
करे भय-भंजन।
वक्षेर पाशे घन उल्लासे
असि बाजे झंझन।
पंजाब आजि उठिले गरजि—
"अलख निरंजन।"
एसेछे से एक दिन
लच पराणे शंका ना जाने
ना राखे काहारो ऋण।
जीवन मृत्यु पायेर भृत्य
चित्त भावनाहीन।
पंच नदीर घिरि दशतीर
एसेछे से एक दिन॥
दिल्ली-प्रासाद-कूटे
होथा बार-बार बादशाजादार
तंद्रा जेतेछे छुटे।
कोदर कंठे गगन मंथे
निविड़ निशीथ टूटे,
कादेर मशाले आकाशेर भाले
आगुन जेसेछे फुटे॥

("अलख निरंजन" महान रव उठता, बंधन टूट जाते, भय दूर हो जाता है। कटि में सोल्लास असि झन-झन बज रही है। आज पंजाब "अलख निरंजन" गरज उठा। वह भी एक दिन था, जब लाखों प्राण शंका नहीं जानते थे। किसी का ऋण नहीं रखते थे। जीवन और मृत्यु पैरों के भृत्य-से थे, चित्त चिंता से रहित। पाँचों नदियों के दसों तट घेरकर वह भी एक दिन आया था।

दिल्ली के प्रासाद-कोट में बार-बार बादशाहज़ादे की आँख खुल रही है। आधी रात के स्तब्ध आकाश को मथता हुआ यह किनका कंठ है?—आकाश के भाल पर फूटती हुई यह किनके मशालों की आग है?)

कल्पना, चित्रण तथा ओज एक ही पद्य में मिल जाता है, पढ़कर हृदय की काव्य-तृष्णा मिट जाती है। हिंदी में यदि चारों ओर से परकोटा घेरकर अन्य देशों तथा अन्य जातियों की भावराशि रोक रक्खी गई, तो इस व्यापक साहित्य के युग में हिंदी के भाग्य किसी तरह भी नहीं चमक सकते, और उसके साहित्य में महाकवि तथा बड़े-बड़े साहित्यिकों के आने की जगह, चिरकाल तक "बनी रहे—ठनी रहे" होता रहेगा। पुराना साहित्य हिंदी का बहुत अच्छा था, पर नया और अच्छा होगा, इस दृष्टि से उसकी साधना की जायगी। पुराने साहित्य का जितना दायरा था, नए का उससे बहुत अधिक बढ़ गया है। जो लोग व्रजभाषा के प्रेमी हैं, उनसे किसी को व्यक्तिगत द्वेष नहीं, जब तक वे हिंदी की नवीन संस्कृति के बाधक नहीं बनते। पर जब वे अकारण हिंदी की नवीन कृतियों को नीचा दिखाने पर तुल जाते हैं, प्रायः व्रजभाषा की श्रेष्ठता ज़ाहिर करने के लिये, तब उनकी इस रुचि की वजह उन्हें प्रयत्न करके साहित्य के व्यापक मैदान से हटा देना चाहिए। उनके द्वारा साहित्य का उपकार नहीं हो सकता। वे तो सिर्फ़ मनोरंजन के लिये काव्य-साधना करते हैं, किसी उत्तर-दायित्व को लेकर नहीं उनकी आँखों में दूर तक फैली हुई निगाह नहीं है। वे अपने ही घर को संसार की हद समझते हैं। साहित्यिक प्रतिस्पर्द्धा क्या है, अपने व्यक्तित्व को साहित्य के भीतर से एक साहित्यिक किस प्रकार बढ़ा सकता है, अपर साहित्यों से भावों के आदान-प्रदान के लिये कैसी शिष्टता, कितनी उदारता होनी चाहिए, किस-किस प्रकार के भावों से अपना प्रकृति-गत स्वभाव बना लेना चाहिए, वे नहीं जानते। कौन-से भाव सार्वजनीन और कौन-से एकदेशीय हैं, उन्हें पता नहीं। चिरकाल से एक ही समाज के

चित्र देखते-देखते उनकी रुचि उन्हीं के अनुसार बन गई है, वे उसे बदल नहीं सकते और जब बदली हुई कोई अच्छी भी रुचि उनके सामने रक्खी जाती है, तब अपनी अपार भारतीय संस्कृति की दोहाई देकर उसके देशनिकाले पर तुल जाते हैं। पर यदि इनसे पूछा जाता है कि वे किसी भी एक क़ायदे का बयान करें, जो उनकी चिरंतन भारतीय संस्कृति हो और जिस ढंग की संस्कृति दूसरे देशों में न हो, तो महाशय-गण उत्तर देने की जगह दुश्मन की तरह देखने लगते हैं। कोट के सामने आधुनिक मिर्ज़ई की प्राचीनता-भक्ति की तरह उसके पहननेवाले यदि विचारपूर्वक देखेंगे, तो मिर्ज़ई भी उनकी सनातन पोशाक न ठहरेगी। एक बार बनारस में अपनी गुर्जरी पवित्रता की व्याख्या करते हुए मेरे एक मित्र ने कहा, हम लोग पीतांबर पहन-कर खाते हैं। इस बीसवीं सदी में उनका पीतांबरधर दिव्य रूप आँखों के सामने आया तो बड़ी मुश्किल से हँसी को रोकना पड़ा, जैसे आजकल के वकीलों का फड़बा देखकर अकस्मात् जटायु को याद आ जाती है। मैंने मन-ही-मन कहा, पहले के आदमी पीतांबर पहनकर भोजन करते थे या दिगंबर होकर, यह सब बतलाना बहुत कठिन है। पर अगर ज़रा अक़्ल का सहारा लिया जाय, तो दिगंबर रहना ही विशेष रूप से सनातनधर्म जान पड़ता है, कारण सनातन पुरुष के बहुत बाद ही कपड़े का आविष्कार हुआ होगा, और इस प्रथा को माननेवाले सिद्ध नागे महाराजों का इस समय भी कमी नहीं। अस्तु, अभिप्राय यह कि भारतीयता के नाम पर जिस कट्टरता तथा सीमित भावों और कार्यों का प्रचार किया जाता है, रक्षा की जाती है, वह अस्तित्व को क़ायम रखने की जगह नष्ट ही करती है। अस्तित्व तो व्याप्ति ही से रह सकता है। यहाँ का सनातनधर्म व्याप्ति है भी।

देखने के लिये जो दो-चार उद्धरण दिए गए हैं, उनमें उच्चतम वेदांत-वाक्य से लेकर शृंगार के अत्यंत आधुनिक चित्र तक हैं, पर वे अभारतीय होकर भी भारतीय हैं। कारण उनमें प्रकाश तथा जीवन है। जो भाव या चित्र किसी देश की विशेषता को सूचित करते हैं, वे उतने अंश में एकदेशीय हैं। पर जहाँ मनुष्य मन के आदान-प्रदान हैं, वहाँ वह व्यापक साहित्य ही है। सिर्फ़ उसके उपकरण अलग-अलग होते हैं। शेक्सपीयर की नायिकाओं के परिच्छद एकदेशीय हो सकते हैं, पर उनकी आत्मा, प्यार, भाव व्यापक हैं। पश्चिम के लिये जिस तरह यहाँ के भावों की गहनता, त्याग, सतीत्व की शिक्षा आवश्यक है, उसी तरह वहाँ के प्रेम की स्वच्छता, तरलता, उच्छ्वसित वेग यहाँवालों के लिये ज़रूरी है। इस समय वहाँवालों का ख़ूनी प्रेम भी शक्ति-संचार के लिये यहाँ आवश्यक-सा हो गया है। यह है आसुरी, राक्षसी गुण अवश्य, पर कभी-कभी दुर्बल देवताओं में राक्षस ही प्रबल होकर बल पहुँचाते हैं, और कभी देवताओं के नायक विष्णु भी सती असुर-पत्नी का सतीत्व नष्ट करते हुए नहीं हिचकते। हिंदी के भार-तीय लोगों ने "तुलसी" की कथा पढ़ी होगी। यहाँ के साहित्य में मद्य-पान बहुत कम है, पर वेदों में मादक सोम-रस की जैसी महिमा है, प्रायः सभी लोग जानते हैं; और मद्य के प्रचार का कहना क्या? जिस गुजरात में अब ताड़ी के पेड़ कट रहे हैं, वहीं द्वापर में अवतार-श्रेष्ठ श्रीकृष्णजी के वंशज यादवों ने शराब पीकर एक ही दिन में अपना संहार कर लिया था। शायद शराब का ऐसा रोचक इतिहास मद्यप योरप भी नहीं दे सकता। शराब अच्छी भी है, बुरी भी अवश्य। यहाँ मैं देश-प्रेम की बातें नहीं कर रहा। साहित्य की शराब मुझे तो अत्यन्त रुचिकर जान पड़ती है और बिना विचार के इसे भारतीय कर लेने की इच्छा होती है। किसी मुसलमान विद्वान् ने कहा था, योरप शराब से डूबा हुआ है, पर कहीं के धर्म से भी शराब की तारीफ़ न करनेवाले एशिया ने शराब की कविताओं से योरप को मात कर दिया। शराब से सख़्त नफ़रत करनेवाले कितने ही पंडितों को मैं जानता हूँ, जिन्हें दवा के रूप से ब्रांडी दी गई और वे बिना शिखा हिलाए पी गए। सुना है, यदि दवा के तौर पर प्रतिदिन थोड़ी-सी शराब पी जाय, तो स्वास्थ्य को निहायत फ़ायदा पहुँचाती है। यों तो मैं जानता हूँ, हर खाद्य पेट में पहुँचकर पहले शराब बनता और नशा पहुँचाता है, उसी के रासायनिक अनेक रूप शरीर की जीवनी शक्ति बनते हैं। नशे की नींद के बाद ही जागरण का आनंद मिलता और जागरण की ज़रूरत के साथ नींद की भी आवश्यकता सिद्ध होती है। इसी तरह इन दिव्य भारतीयों को कुछ प्रसन्न करने के लिये आसुर शराबी भाव भी आवश्यक

हैं। पर देश के साहित्यिक सुधारपंथी नेतागण अवश्य इसके ख़िलाफ़ विद्रोह खड़ा कर मेरी स्त्री की तरह अपनी दिव्यता का परिचय देंगे।

यहाँ ज़रा अपनी धर्मपत्नीजी की दिव्यता का परिचय दे लूँ। खेद है कि अपनी दिव्यता के कारण ही वह इस समय दिव्यधामवासिनी हो रही हैं। पंडितों ने मेरा और उनका संबंध पत्रा देखकर जोड़ा था, मुझे और उन्हें देखकर नहीं। इसलिये विवाह के पश्चात् मेरी और उनकी प्रकृति वैसे ही मिली, जैसे पंडितों की पोथियों के पत्र एक दूसरे से मिले रहते हैं। वह अखंड भारतीय थीं और मैं प्रत्यक्ष राक्षस—रोज़ मांस खाता था। उन्होंने मुझे विश्राम-सागर, पद्म-पुराण, शिव-पुराण, और न-जाने कौन-कौन-से ग्रंथ, गुटके और पाद-टिप्पणियाँ दिखलाकर कहा, इससे बड़ा पाप होता है, तुम मांस खाना छोड़ दो। तब मैं कुछ मूर्ख था, और वह मुझसे हिंदी में ज़्यादा पंडिता थीं। मांस खाने से कितनी भयंकर सज़ा मिलती है, उसके जो चित्र उन्होंने दिखलाए, उनके स्मरण-मात्र से मेरे प्राण सूख जाते। कुछ दिनों तक मैंने मांस खाना छोड़ दिया। तब मेरा स्वास्थ्य मुझे छोड़ने लगा। स्वास्थ्य की चिंता तो होती थी, पर यमदंड के भय के सामने स्वास्थ्य का विचार न चलता था। मेरी पत्नी को मेरे स्वास्थ्य का इतना भय न था, जितनी प्रसन्नता उन्हें मेरे मांस छोड़-कर भारतीय बन जाने की थी। धीरे-धीरे सूखकर काँटा हो गया। एक दिन नहाने के लिये जा रहा था, कुएँ पर मेरे एक पूज्य वृद्ध ब्राह्मण मिले। मुझे देखकर बड़े तअज्जुब में आए, पूछा "तुम क्या हो गए ?" मैंने कहा, "मांस छोड़ दिया, इसलिये दुबला हो गया हूँ।" उन्होंने कहा, "तो मांस क्यों छोड़ा ?" मैंने कहा, "विश्राम-सागर में लिखा है, बड़ा पाप होता है, मरने पर मांसा-हारी को यम के दूत बड़ा दंड देते हैं।" उन्होंने पूछा, "तुमने अपनी इच्छा से छोड़ा या किसी के कहने पर ?" मैंने सचसच बतला दिया। उन्होंने कहा "तो तुम फिर खाओ, कनवजियों को पाप नहीं होता, उनको वरदान है।" मैंने पूछा, "कहीं लिखा भी है ?" उन्होंने कहा, "हाँ, है क्यों नहीं ? वंशावली में है।" मुझे वैसी प्रसन्नता आज तक कभी नहीं हुई। पत्नी पर बड़ा गुस्सा आया। उनसे तो मैंने कुछ भी न कहा, शाम को बाज़ार से आधा सेर मांस तौला लाया। मकान में लाकर रक्खा, तो श्रीमतीजी दंग। उस समय मेरे घर के और लोग विदेश में थे। श्रीमतीजी रूमाल में ख़ून के धब्बे देखकर समझ गईं, पूछा, यह क्या है ? मैंने कहा "मांस"। "तो क्या फिर खाओगे ?" मैंने कहा, "हाँ, हमें वरदान है।" श्रीमतीजी हँसने लगीं ? पूछा—"कहाँ मिला यह वरदान ?" "हमारे पूर्वजों को मिला है, वंशावली में देख लो, तुम्हें विश्वास न हो।" श्रीमतीजी ने कहा, "ख़ुद तो पकाते हो ही, अपने मांसवाले बरतन अलग कर लो, और जिस रोज़ मांस खाओ, उस रोज़ न मुझे छुओ और न घर के और बरतन और तीन रोज़ तक कच्चे घड़े नहीं छूने पाओगे।" मैंने कहा, "इस समय तो रोज़ खाने का विचार है, क्योंकि पिछली कसर पूरी कर लेनी है।" उन्होंने कहा, "तो मुझे मेरे मायके छोड़ आओ" मैंने कहा "लिख दो, कोई ले जाय; नहीं तो नाई भेज दो, किसी को बुला लावे; मैं जहाँ मांस पकाता हूँ, वहीं दो रोटियाँ भी ठोंक लूँगा।" श्रीमतीजी चली गईं। पत्रा-प्रेम इसी तरह तीन-चार साल कटा। चार महीने मेरे यहाँ रहतीं, आठ महीने मायके। अंतिम बार मायके में इंफ्लुएंज़ा के साल, उन्हें भी इंफ्लुएंज़ा हुआ। मैं तब बंगाल में था। मेरे पास तार गया। जब मैं आया, तब महाप्रयाण हो चुका था। क़स्बे के डाक्टर मेरे परिचित मित्र थे। उनसे मिला, तो अफ़सोस करने लगे। कहा, "फेफड़े कफ से जकड़ गए थे, प्यास ज़्यादा थी, मैंने पानी की जगह यखनी पिलाने के लिये कहा, वैसी ही डाक्टरी दवा भी देने के लिये पूछा, उन्होंने इनकार कर दिया, कहा, दस बार नहीं मरना है।" इस दिव्य भावना ने अगर कुछ भी मेरे साथ सहयोग किया होता, तो शायद यह अकाल मृत्यु न हुई होती और जीवन भी कुछ सुखमय रहता। इस तरह साहित्य को जीवित रखने के लिये उसमें अनेक भाव, अनेक चित्रों का रहना आवश्यक है, और जब कि अपने-अपने स्थान पर सभी भाव आनंदप्रद और जीवन पैदा करनेवाले हैं। व्यापक साहित्य किसी ख़ास संप्रदाय का साहित्य नहीं। शराब, कबाब, नायिका, लिजन साज और संगीत के कवि उमरख़य्याम की इज़्ज़त साहित्य-संसार के लोग जानते हैं। ग़ालिब मशहूर शराबी थे। पर उनकी कृति

कितनी सुंदर है ! व्यापक भावों के कवि रवींद्रनाथ ने भी इससे फ़ायदा उठाया है—

"कालि मधुयामिनीते ज्योत्स्ना-निशीथे
कुंजकानने सुखे
फेनिलोच्छल यौवन-सुरा
धरेछि तोमार मुखे ।
तुमि चेये मोर आंखी परे
धीरे पात्र लयेछ करे
हेसे करियाछ पान चुंबनभरा
सरस बिंबाधरे
कालि मधुयामिनीते ज्योत्स्ना-निशीथे
मधुर आवेश-भरे ।।

(कल वसन्त-ज्योत्स्ना की अर्धरात्रि को सुख से बग़ीचे के कुंज में छलकती हुई फेनिल यौवन की सुरा मैंने तुम्हारे मुख पर रक्खी थी । तुमने मेरी आँखों की ओर देखकर धीरे से पात्र (प्याला) हाथ में ले लिया, और हँसकर चुंबनों से खिले हुए सरस बिंबाधरों से मधुर आवेश में आ पी गईं ।)

यहाँ रवींद्रनाथ से एक बड़ी ग़लती हो गई है। पहले उन्होंने "यौवन-सुरा" लिखकर सुरा के यथार्थ भाव में परिवर्तन करना चाहा था । वहाँ उन्होंने तरंगित यौवन को ही सुरा बनाया है । पर अंत तक नहीं पहुँच सके । क्योंकि अंत में उनकी प्रिया की जो क्रिया है, वह सुरा पीने की ही है, यौवन-सुरा पीने की नहीं । विदेशी भावों को लेते समय ज़रा होश दुरुस्त रखना चाहिए । मुसलमानी सभ्यता के कवि इस कला में एकच्छत्र सम्राट् हैं । एक जगह और रवींद्रनाथ ने लिखा है—

"दुःख-सुखेर लक्ष धाराय
पात्र भरिया दियाछि तोमाय
निठुर पीड़ने निगाड़ि वक्ष
दलित द्राक्षा सम"

(दुःख और सुख की लाखों धाराओं से मैंने तुम्हारा प्याला भर दिया है—अपने वक्ष को निठुर पीड़नों से दलित द्राक्षा की तरह निचोड़-निचोड़ कर ।)

"दलित द्राक्षा" का भाव उमरख़य्याम का है । सुरा की कविताओं में मुसलमानों ने कमाल कर दिया कि मयख़ाने को मसजिद से बढ़कर बतला दिया और पाठकों को पढ़कर आनंद आता है ।

"दूर से आए थे साकी सुनके मयख़ाने को हम ।
बस तरसते ही चले अफ़सोस पैमाने को हम ।।"

क्या यहाँ मयख़ाना मंदिर नहीं और पैमाना अमृत का कटोरा ?

"मय भी है, मीना भी है, सागर भी है, साकी नहीं ।
दिल में आता है लगा दें आग मयख़ाने को हम ।।"

यहाँ साकी क्या अमृत पिलानेवाला गुरु नहीं ?

इस तरह शराब के लक्ष्य से बहुत बड़ी-बड़ी बातें कह दी गई हैं जिनका किसी भी साहित्य के लिये गर्व हो सकता है । उर्दू-शायरी की काफ़ी निंदा परवर्ती काल के सुधारकों ने की है । पर यह प्रायः सब लोग मानते हैं कि पहले की शायरी का आनन्द अब दुष्प्राप्य है ।

काव्य-साहित्य में लक्ष्य तथा भाव की परीक्षा की जाती है, उपकरणों की नहीं ।

"क़िस्मत को देखिए कि कहाँ टूटी जा कमन्द ।
दो-चार हाथ जब कि लबे बाम रह गया ।।"

असफलता की कितने सुंदर सरस ढंग से वर्णना की, सफलता तक पहुँचाकर असफल कर दिया ।

हमारे काव्य-साहित्य की दृष्टि बहुत व्यापक होनी चाहिए, तभी उसका कल्याण हो सकता है । पश्चिमी कवियों के हृदय में पूर्व के लिये अपार सहानुभूति उमड़ चली थी । उनका यही साहित्यिक पौरुष तथा प्रेम आज संसार-भर में फैला हुआ है । ये सत्रहवीं और अठारहवीं सदी की बातें हैं, वर्ड्स्वर्थ और उनके मित्र कालरिज(Samuel Tailor) ने पूर्व का वर्णन किया है । इधर दो सौ वर्ष में पश्चिमी सभ्यता का वैज्ञानिक चमत्कार कहाँ तक पहुँचा है, इसका हिंदी-भाषियों को भी यथेष्ट ज्ञान है ।

".........the Great Mogul, when he
Erewhile went forth from Agra or Lahore,
Rajas and Omrahs in his train........."

—Wordsworth

लाहौर या आगरे से यात्रा में राजा और उमराओं को लेकर चलते हुए प्रतापी मोग़ल-बादशाह का ज़िक्र है । इस समय के इँगलैंड के कुछ आगे-पीछे होनेवाले कवियों में पूर्व के साथ शेली का प्रगाढ़ प्रेम देख पड़ता है । पूर्व के रहस्यवादियों तथा सन्तों को वह चाव से याद

करता है। "Lines to an Indian Air" (लाइंस टू ऐन इंडियन एयर), "Revolt of Islam" (रिवोल्ट आव् इस्लाम), "Queen Mab" (क्वीन् माब) आदि-आदि अनेक कविताएँ, काव्य-नाटक, खंड-काव्य हैं, जिनमें शेली ने पूर्व की बड़ी इज़्ज़त की है। ब्रह्म, शिव और बुद्ध भी उसकी रचना में हैं। कीटस भी पूर्व की छवि से मुग्ध है। भारत का उल्लेख उसने भी किया है। भारत के अमर स्नेह में डूबा हुआ है। पूर्व देशों का इनमें सबसे ज़्यादा ज्ञान बायरन को था। उसने तुर्किस्तान की सैर भी की थी और इस तरह काव्य में अपना प्रत्यक्ष अनुभव लिखा है, जिससे उसकी वे रचनाएँ और भी महत्त्वपूर्ण हो गई हैं। "The Corsair", "The Bride of Abydos", 'The Seige of the Corinth" आदि रचनाएँ उसके भ्रमण के ही कारण साहित्य को मिलीं। लीला, ज़ुलेखा आदि उसकी प्रधान पात्रियाँ हैं। नैपोलियन की उसने तैमूर से तुलना की। और भी बहुत कुछ उसने लिखा। टेनीसन ने भी पूर्व पर काव्य लिखे। टेनीसन फ़ारस के सौंदर्य पर मुग्ध था। परंतु फिर भी पूर्व पर टेनीसन की बहुत श्रद्धा न थी।

कुछ हो व्यापक साहित्य की इस प्रकार सृष्टि हुई। गद्य की बात नहीं लिखी गई। यह सब पूर्व के लिये इँगलैंड का पद्य-प्रवाह है। पर हमारे साहित्य में क्या हो रहा है—यह भारतीय है, यह अभारतीय, असंस्कृत। धन्य है हे संस्कृति के बचो!—नस-नस में शरारत भरी, हज़ार वर्ष से सलाम ठोंकते-ठोंकते नाक में दम हो गया, अभी संस्कृति लिए फिरते हैं।

सबसे बड़ी आफ़त ढा रहे हैं कुछ साहित्यिक सुधारपंथी, जो स्वयं तो कुछ लिख नहीं सकते, दूसरों की कृति पर हमला करके महालेखक बन जाना चाहते हैं। सुधार और प्रोपागांडा से साहित्य मंज़िलों दूर है। "प्रसाद"जी की जैसी आलोचना निकली है, जैसा दोष भाषा-क्लिष्टता का बनारसीदासजी ने उन पर लगाया है, वह यदि वास्तव में मनुष्योचित शौर्य तथा पर्यवेक्षण के साथ आलोचनाएँ करते हैं, तो मैं उनसे कहूँगा, आप डी० एल्० राय के ऐतिहासिक नाटकों को पढ़िए, फिर देखिए नव साल की बच्ची और दो रुपिट्टी का नौकर गज़-गज़ भर के समस्त पद बोलते हैं या नहीं, और यह देखकर, यदि अभी तक आप आँख मूँदकर ही राय महोदय के पीछे-पीछे चलते आए हों, एक वैसा ही नोट जैसा 'प्रसाद'जी की भाषा के संबंध में लिखा है, उसी लहजे में लिखकर "माडर्न रिव्यू" में छपवा दीजिए, मैं तभी आपकी इस आलोचना को आपकी मर्यादा के योग्य समझूँगा। अवश्य यहाँ प्रत्यालोचना की जगह नहीं। समय मिला तो अन्यत्र लिखूँगा। पर यह ज़रूर है कि आलोचकों ने वरदान से "प्रसाद"जी को शाप ही अधिक दिया है, जो एक बहुत बड़के साहित्यिक अन्याय में दाख़िल है। आलोचकों ने अपने को जितना बड़ा समझदार समझ लिया है, यदि कुछ हद तक "प्रसाद"जी को भी उसी कोटि में रखते, तो इतनी बड़ी त्रुटि न होती।

साहित्य में अनेक दृष्टियों का एक साथ रहना आवश्यक है, नहीं तो दिग्भ्रम होने का डर है। इसीलिये मैंने तमाम भावों की एक साथ पूजा करने का समर्थन किया। हिंदी के साहित्यिकों का अन्याय सीमा को पार कर जाता है। उन्हें अपनी सूझ के सामने दूसरे सूझते ही नहीं। हमें उनकी आँख में उँगली कर-करके समझाना है, और बहुत शीघ्र वैसे संकीर्ण विचारवालों को साहित्य के उत्तरदायी पद से हटाकर अलग कर देना है। तभी साहित्य का नवीन पौधा प्रकाश की ओर बढ़ सकेगा। हमें अपने साहित्य का उद्देश्य सार्वभौमिक करना है, संकीर्ण एकदेशीय नहीं। राष्ट्रभाषा को राष्ट्र-भाषा के रूप से सजाना और अलंकृत करना है।

सूर्यकांतत्रिपाठी "निराला"

फूल-पत्ते
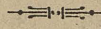
चौपदे

है जिन्हें तोड़ना भले ही वे,
तोड़ लें आसमान के तारे।
ए फबीले इधर-उधर फैले,
फूल ही हैं हमें बहुत प्यारे।
जो हमें भेज दे रसातल को,
यों हवा में कभी नहीं मुड़ते।
चींटियों का लगा-लगाके पर,
हम नहीं आसमान पर उड़ते।
सूझकर सूझता नहीं जिनको,
सूझवाले कहीं न हों ऐसे।
कब कहाँ कौन पा सका पारस,
देस के काम दास के पैसे।
क्यों टटोला करें अँधेरे में,
सींक-सा क्यों हवा लगे डोलें।
क्यों बुनें जाल उलझनें डालें,
आँख अपनी न किस लिये खोलें।
सूझता है नहीं अँधेरे में,
जोत में ही सदा रहेंगे हम।

क्यों किसी आँख में करें उँगली,
बात देखी-सुनी कहेंगे हम।
दिन अँधेरा भरा नहीं होता,
जगमगाती नहीं सभी रातें।
है खुला दिल खुली हुई आँखें,
फिर कहें क्यों न हम खुली बातें।
बाल की खाल काढ़ते रहता,
है करामात बात को खोता।
जो उसे गढ़ न दे बना कोई,
बात गढ़ना बुरा नहीं होता।
बाँधने से हवा नहीं बँधती,
हो सकेंगे कभी न सच सपने।
दूसरे रंग लें जमा, हम तो,
मस्त रहते हैं रंग में अपने।
हों हमारे कलाम क्यों मीठे,
वे शहद से भरे न छत्ते हैं।
किस तरह हम उन्हें अमोल कहें,
पास मेरे तो फूल-पत्ते हैं।

"हरिऔध"

मसूरी

हिमालय की गोद सदियों पहले से दुनिया के सामने आकर्षण की नई चीज़ रही है । कितने गौरव से, कितने उल्लास से हिमालय ने अपनी अनंत रत्नराशि को चुन-चुनकर हम भारतीयों के लिये दे रक्खा है, कुछ कहना नहीं । हिमालय का विशाल वक्षस्थल हमारे पूर्वजों की अपनी चीज़ थी । उन्होंने समझा था, हिमालय का हृदय कितना कोमल, कितना रसीला है । हाँ, कोमलता और रसीलापन तो अब भी है, पर उसमें आलस्य की बीसवीं सदी का वह लोच और आवर्त की वह तरलता आ गई है, जिससे शायद हिमालय का हृदय फटकर बह चला है । आह भारत की कितनी विभूतियाँ, कितना सौंदर्य अनंत में विलीन हो गया होगा, कौन कह सकता है । आज तो हमें पाश्चात्य सभ्यता का नग्न चित्र हिमालय की गोद में विहँसता दिखाई देता है । जहाँ कहीं देखिए, हिमालय की तपोभूमि प्रेम के पुजारियों से, सरकारी आफ़िसों-दफ्तरों से और विलासिता के रंग में रँगे हुए हमारे देशी नरेशों से भरी पड़ी है । सब जगह हमारे गौरांग प्रभुओं और भारत के पूँजीपतियों के अड्डे हैं, हमारे शासकों के विहारस्थल हैं, विलासियों के श्रीनिकेतन हैं । यहाँ न तो मैदानों की लपटती लू चलती है, और न भोग-विलासमय जीवन में कोई बाधा है, बस यहाँ मज़ा-ही-मज़ा है ।

यों तो गर्मी से बचने के लिये, आनंद और मौज का जीवन बिताने के लिये लोग शिमला, नैनीताल, दार्जिलिंग, लैंसडाउन तथा ऐसे ही अन्यान्य हिम-प्रांतों में जाते हैं, किंतु सच पूछिए तो जितनी सुंदरता, जितना आकर्षण और सादगी मनुष्य और प्रकृति, दोनों ने मिलकर मसूरी को दिया है, उतना और किसी को नहीं । पर्वतमालाओं से घिरी मनोहर छटा, नेत्ररंजक हरियाली, जलप्रपातों की मधुर वीणा और पक्षियों का मधुमय कलरव मसूरी के लिये प्रकृति की अपनी देन है । मसूरी की इसी रूपराशि और अनुपम सौंदर्य में अपना नाम 'पहाड़ी-प्रांतों की रानी (Queen of the Hill Stations) बना रक्खा है । इसमें कोई अतिशयोक्ति, कोई बढ़ावा नहीं । मसूरी में किसी भी जगह रुक जाइए, आप देखेंगे, प्रत्येक व्यक्ति का मुखमंडल चाहे वह अँगरेज़ हो चाहे हिंदुस्थानी, युवक हो चाहे युवती, एक अजीब आभापन से आलोकित रहता है । क्योंकि उसे न तो किसी एम्० एल्० सी० से मिलने जाना है और न किसी और के यहाँ किसी बात की सिफ़ारिश ही लेकर दर-दर को ख़ाक छाननी है, जिसकी चिंता में बेचारा व्याकुल हो । जितने मिलते हैं, सभी अनोखे ढंग के अलहड़ और सैलानी से जान पड़ते हैं । कोई तो झरनों को देखने जा रहा है, हाथ में बजाय टेस्टमोनियल के पुलिंदे या इसी क़िस्म की और चीज़ें लेने के, तसवीर खींचने का केमरा है, खाने-पीने की कुछ चीज़ें हैं या दूरबीन है । किसी को पहाड़ की चोटियों की पड़ी है । पाँव बढ़ाए हुए कितनी द्रुतगति से जा रहा है, न तो शौक़ है ऐसेंबली के मेम्बरों से मिलने का, साहबों को दावत देने का और न इम्तिहान के नतीजे की ही कतर-ब्योंत करने का । कुछ लोग पैसे के धनी हैं । उन्हें नाच-रंग में मज़ा आता है, डांडी-रिक्शे, पैदल, जैसे बन पड़ता है, बेचारे स्टोफल, पिलैडियम, सेवाय और-और जगह पर बड़ी आतुरता से धावा बोलते हैं, मानों चींटियाँ मिश्री की महक पा गई हों या मधुमक्खियाँ फूलों की गंध । मसूरी कोई ऑफ़िशियल जगह तो है ही नहीं जहाँ लोग कलेक्टर, कमिश्नर, गवर्नर, वायसराय से मतलब गाँठने जायँ । जाते वे ही लोग हैं जिन्हें स्वतंत्रता प्रिय है, शुभ्र श्वेतांगियों की कमनीय कलाबाज़ियों और अठखेलियों में जिन्हें मज़ा आता है । यहाँ सभी एक हैं, कोई भेद नहीं । एक दूसरे से बराबर की हैसियत से मिलते हैं । एक दूसरे की प्राइवेट दिनचर्या से बिलकुल संबंध नहीं (Live ond let live, smile and let smile) अपने मौज से रहो और दूसरों को भी मौज से रहने दो । ख़ुद भी हँसो और दूसरों

को भी हँसने दो। यही यहाँ का एक दूसरे का संबंध है। आजकल के अन्य पहाड़ी जगहों की अपेक्षा बहुत कुछ अंशों में यह संबंध, मेरी समझ से, यहाँ व्यवस्थित भी रक्खा गया है।

देहरादून से हमें मसूरी जाना होता है। देहरा-रेलवे स्टेशन से चौदह मील ऊपर, शिवालिक के समानांतर पूर्व से पश्चिम जानेवाली पहाड़ी पर मसूरी बसी हुई है! प्रकृति के आँचल में मसूरी का यह भव्य रूप कितना मोहक, कितना आकर्षक है, देखनेवालों से यह छिपा नहीं है। दूनघाटी का मुकुट मसूरी का दक्षिणी भाग है। सर से नीचे की तरफ़ दूनघाटी कोसों ज़मीन पर हरी साड़ी की अलबेली छटा दिखलाती है। लोगों का कहना है कि दुनिया की ख़ूबसूरत घाटियों में हिमालय और शिवालिक के बीच की यह दूनघाटी भी एक है। हिंदुस्थान की कोई भी पहाड़ी जगह ऐसी नहीं है, जिसके इतने नज़दीक देहरादून ऐसा शहर हो। जिस दिन बादल न हों, उस दिन देखिए, मालरोड से साफ़ दिखलाई देता है। गंगा बाँई और यमुना दाहिनी ओर शिवालिक से गलबहियाँ करती हुई दूर मैदान में चली जा रही हैं। कितना सुंदर दृश्य है। और जगहों में भी सुंदर दृश्य देखने को हमें ज़रूर मिलते हैं, पर इसी तरह चलते-फिरते सड़कों से नहीं। उनको देखने के लिये ऊँची चोटियों से देखना होता है। फिर चढ़ाई में सारा मज़ा किरकिरा पड़ जाता है। दिन में ही नहीं रात में इसी सड़क से देहरादून की रोशनी देखने में आती है। सच, आप ही बतलाइए, मसूरी की ओढ़ी हुई साड़ी (दून-घाटी) पर ये अमूल्य जवाहरात कैसे जड़े गए हैं? यही तो मनुष्य ने प्रकृति को दिया है। यों भी सरकुलर-रोड से मसूरी ही को देखिए, गले में मनोहर चमकती हुई मोतियों की माला शोभायमान् है। कितना उल्लास, कितनी मस्ती छा जाती है। दिन में देखिए, यहाँ से उत्तर-हिमालय का हिम-मंडित श्वेत शिखर देख पड़ता है। बरसात के बाद उजेली रात में इस सुंदरता की झाँकी देखने को ख़ूब मिलती है। कितना रमणीक दृश्य आँखों के सामने नाचने लगता है। मनुष्य प्रकृति की इस मनोहर छटा के सामने अपने को नन्हा सा बच्चा समझने लगता है। उसके अंदर श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का उदय होने लगता है।

अभी कल ही से मसूरी ने अपने कलेवर को आज का यह रूप-रंग दिया है। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक मसूरी में न तो आज की तरह चहल-पहल थी, और न खेल-तमाशे ही थे। उजाड़ और वीरान जगह थी। लोगों ने १८१४ से समझना शुरू किया कि यह जगह इतनी आरोग्यवर्द्धक और स्वास्थ्यप्रद है। सबसे पहले मि० शोर और कैप्टेन यंग ने केमल्सबैक पर एक छोटा-सा झोपड़ा डाल रक्खा था। आज भी मुलींगर (Mullinger) और ह्वाइट पार्क फ़ारेस्ट (White Park Forest—Amefield) कैप्टेन यंग के बनाए मसूरी में शायद पहले घर हैं। मि० शोर ने बड़ी दौड़-धूप के बाद टेहरी राज्य से मसूरी की हद में आनेवाली ज़मीन कई शर्तों पर ली थी, जिसके लिये अब भी शायद कुछ देना पड़ता है। १८३२ में करनल एवरेस्ट ने पार्क में अपना आफ़िस बनाया, और फिर १८४२ में म्युनिसपैलिटी क़ायम की गई। स्टेशन-लाइब्रेरी सन् १८४३ में खोली गई। तब से मसूरी दिन दूनी रात चौगुनी तरक़्क़ी पर है।

मसूरी (Mussoorie) नाम क्यों पड़ा, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। यहाँ आसपास की पहाड़ियों पर मसूरी नाम का जंगली बेर बहुतायत से पैदा होता है। बहुतों का कहना है कि इसी से इस स्थान-विशेष को भी 'मसूरी' नाम मिला है। कुछ लोग मंसूरी भी इसे कहते हैं। इस नामकरण के लिये एक ऐतिहासिक प्रमाण भी मिलता है। मंसूर नाम का कोई प्रधान हो गया है, जिसका इन पहाड़ियों पर कुछ दिनों आधिपत्य रहा है। मंसूर से होते-होते मसूरी हो गया होगा। जो कुछ हो, इसके नाम से कोई बहस नहीं। तो भी इतना तो मानना ही होगा कि यह जगह पौराणिक काल से लेकर अब तक ऐतिहासिक युगों से घनिष्ट संबंध रखती रही है। इसमें संदेह नहीं कि यह स्थान हिमालय की उस तपोभूमि में से रहा होगा, जिसे हम आज केदारखंड से परिचित पाते हैं। लोगों का कहना है कि यहाँ निकट के पहाड़ों पर श्रीराम और लक्ष्मण को रावण के मारने के लिये वर्षों तपस्या करनी पड़ी थी। महाभारत-काल में जब पांडव हिमालय गलने चले, तो उस समय उन लोगों को यहाँ कुछ काल के लिये रुकना पड़ा था। चकरौता में, जो यहाँ से कुछ ही मील दूर है, आज भी

एक विजय-सूचक पत्थर, अशोक्] रा खुदाया हुआ, देखने को मिलता है।

और बातें तो मसूरी की सुंदरता, उम्दगी और अलौकिकता दिखाने को हैं ही, पर साथ ही एक और बड़ी बात है, और वह है यहाँ का जलवायु। यहाँ के जलवायु के विषय में दुनिया की बड़ी लंबी-चौड़ी बातें कही गई हैं, पर किसके लिये? मेरी समझ में यहाँ के जलवायु का असर केवल महलों की प्राणप्रतिष्ठित प्रतिमाओं पर ही पड़ता होगा, जिन्हें मैदानों की लू-लक्कड़, हवा-पानी तथा आज की ग़रीब भारत की दुनिया नापसंद है, अहितकर है और बेचारी तंदुरुस्ती पर छापा मारनेवाली है; नहीं तो वहाँ के निवासियों को, जिनके मुँह पर मनों गट्ठर ढोते-ढोते बीस-बाईस वर्ष से ही झुर्रियाँ पड़ने लगती हैं, आँखें खोहों में जा बैठती हैं, गाल पिचक जाते हैं और होठ सिकुड़ने लगते हैं, वहाँ की स्वर्गीय जलवायु अपने छू-मंतर का प्रभाव बेचारों को किस अपराध से न दिखाती। मर-मरकर दिन-रात काम करते हैं, तब भी बुरी हालत है। जहाँ कहीं पहाड़ी नर-नारी मिलते, लल्ला साहब और हममें घंटों बेचारों की बेकसी और ग़रीबी की चर्चा चलती। हाँ, उधर तिब्बतवाले तो ज़रूर तंदुरुस्त, मेहनती और मज़बूत होते हैं। हमलोग देखते, मसूरी में बहुत कुछ शारीरिक श्रम से संबंध रखनेवाले रोज़मर्रा के काम इन्हीं के ज़िम्मे रहते थे। मकानों को बनाने, सड़कों को ठीक करने और पहाड़ों को तोड़ने में तिब्बत की तरफ़ के ही कुली थे।

तो भी यहाँ की आबहवा की बुनियाद को, जिसकी प्रशंसा के पुल बँधे हैं, इस बेरहमी से मिटा देना मेरे लिये कोरा अन्याय होगा। शायद इस अपराध से मैं बचने भी न पाऊँ। इसलिये यहाँ की आबहवा की कुछ विशेषताएँ मैं अपने प्रेमी पाठकों को बताता जाऊँ, तभी अच्छा है। यहाँ की आबहवा की तारीफ़ में शायद सबसे बड़ी एक बात यह भी कही जा सकती है कि इधर डेढ़ सौ वर्षों से भारत को मिले तोहफ़ों में से पहाड़ों पर से एक भी नहीं आने पाया है। न तो कहीं यहाँ सड़कों पर कालरे के रोगी चिथड़े लपेटे मिलते हैं, और न प्लेग-मलेरिया के प्रकोप से कराहते दुधमुहे बच्चे। किस बेदर्दी, किस बेरहमी से इन सहस्रों संक्रामक रोगों से आज हमारी मुक्ति हुआ करती है, भला कौन कहेगा! सुनते हैं, यहाँ इसका नाम ही नहीं। यहाँ न मैदानों की ग़रीबी है और न इससे उपजनेवाली दुनिया-भर की तमाम आफ़तें। अँगरेज़ों ने मसूरी को वह चमन बना रक्खा है, जहाँ मौसमबहार मैदानों की हू-हू करती लू से सहमकर इन पहाड़ियों की शरण ले लेता है। इधर वसंत जाता है—तमाम मुसीबतों का सताया हुआ, उधर इसका स्वागत होने लगता है। लोग झुंड-के-झुंड पहुँचना शुरू करते हैं। कितना नशा, कितनी उत्सुकता उनके चेहरों पर रहती है, यह देखते ही बनता है। जनवरी से मार्च तक का मौसम बहुत ठंढा होता है। बर्फ़ गिरती है, सूरज नहीं निकलता और दिन बहुत बुरे होते हैं। हवा बहुत तेज़ चलती है। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि ऊपर टीन की छतें भी उड़ जाया करती हैं। आधे मार्च तक मसूरी बिलकुल सुनसान जान पड़ती है। स्कूल-कालेज और लोगों के बहलाव
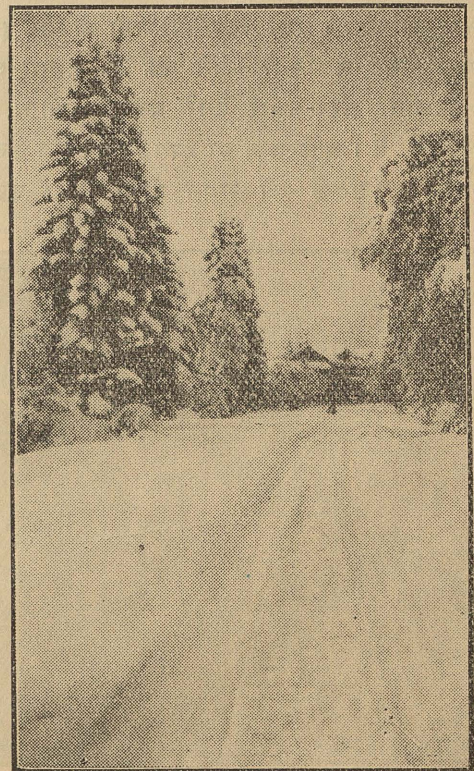
जाड़े में

की सारी संस्थाएँ बंद रहती हैं। एप्रिल से लोग आने लगते हैं। मसूरी की मायाविनी मूर्ति फिर धीरे-धीरे दूज के चाँद की भाँति छविमयी होने लगती है। यौवन की एक नई रेखा, जीवन के प्रभात की पहली किरण मसूरी के मोहक मुखड़े पर खेलने लगती है। नई मस्ती, नया अनुराग और अलौकिक सुंदरता की नशीली आभा मसूरी के अंग-अंग से चंद्रज्योत्स्ना की भाँति बरसने लगती है। आक्टोबर तक मसूरी अपनी रूपराशि को नाना प्रकार से सजती रहती है; कभी खिले पुष्पों के संग हँसती और कभी लता-द्रुमादिकों से अटखेलियाँ करती है। सारा अंचल हँसते हुए फूलों से लद जाता है। इन दिनों मसूरी की शोभा बहुत बढ़ जाती है। जाड़ा आता है—आह! मसूरी का सारा आकर्षण, सारा वैभव, सारी सम्पत्ति कितनी निर्ममता से, कितनी बेरहमी से बर्फ़ के नीचे दबनी शुरू होती है। थोड़े दिनों के लिये मसूरी भूल जाती है—अपनी सारी ममता, सारा सौंदर्य और सारी विलास-प्रियता—शांत और स्थिर, चिरवियोगिनी की नाईं इसका एक-एक क्षण सिसकियाँ भरते बर्फ़ में जमता जाता है। इठलाता शरद-समीर पैंतरे बदलता आता, और चला जाता है। बर्फ़िस्तान का दृश्य देखनेवाले सैलानी युवक और युवतियों की मगन टोली आँख उठाकर मसूरी को एक बार देखती और खिलखिला उठती है। बच्चे-बच्चियों से भरे स्लेजेज़ (बर्फ़ पर चलनेवाली बे-

स्लेज का आनंद
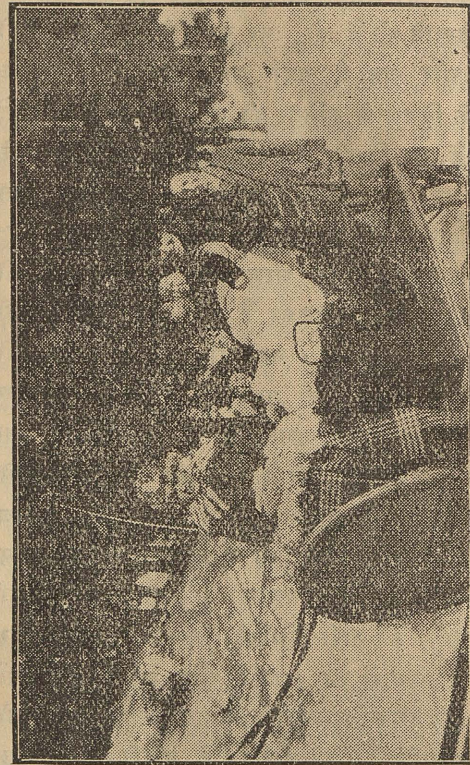
पहिए की गाड़ी) और स्केटस पहने कुमार और कुमारियाँ मनचाहा आनंद लिया करती हैं। पर क्या कभी मसूरी ने किसी से अपने दुःख-दर्द की कहानी कही है—किसी से याचना, किसी से प्रार्थना की है? यही तो यहाँ की आब-हवा का रूप है, जो पाठकों के सामने रक्खा गया है।

× × ×

रोज़ की-सी संध्या थी। महाराज के पत्र की प्रतीक्षा में हम लोग बैठे थे। थे तो हम रुद्रपुर में, पर तबियत मसूरी के लिये चटपटा रही थी। संयोग से रात को पत्र मिला। लल्ला साहब ने कहा—बस, कल ही यहाँ से राम-दो-तीन, नहीं तो उधर कालेज भी

लड़के तथा लड़कियों का आनंद

खुल जायगा। फिर सारा मज़ा जाता रहेगा। मैंने कहा—बहुत ठीक, मसूरी पहुँचने में ही अब कल्याण है। उस साल देरी कर दी थी, पूरा मज़ा भी नहीं मिल पाया। सुबह हुई। हम लोग चलने को तैयार हुए। जाड़े के कपड़े सुखाए गए। सारा सामान ठीक किया गया। यही पड़ी थी कि कब मसूरी पहुँचें। रात की ट्रेन से हम लोग मसूरी के लिये चल पड़े। फिर न पूछिए, कितनी परेशानी, कितने तरद्दुद से चार-पाँच दिन ट्रेन के काटने पड़े। जेठ की दुपहरी। धधकती लू चलती थी। आँख, कान, नाक धूल से भरती जाती थी। तबियत घबड़ाती थी। सारा दिन और सारी रात सोते-बैठते और रह-रहकर करवटें बदलते बीतती थीं। सब मंज़ूर था, सामने एक मनोहर प्रतिमा थी, जिसकी दुनिया-भर की हमारी परेशानी, आफ़तें और मुसीबतें बलैयाँ लेती थीं। हम क़ुर्बान थे और हमारी सारी शक्तियाँ मोहित थीं। हमारी गाड़ी भी तो सारी आफ़तों को चीरती हुई बड़े वेग से हाँफती आगे बढ़ती जा रही थी। इसे भी तो कोई ऐसी ही आतुरता रही होगी।

प्रातःकाल देहरादून पहुँचे। यहाँ हमें शांति मिली। सारी परेशानी और ट्रेन की थकावट का मलाल जाता रहा। पर्वतमालाओं को चूम-चूमकर हवा की सरस हिलोरें मन्थर गति से आने लगीं। उनके अंदर गज़ब का उन्माद था, जो हमें मसूरी के लिये व्याकुल बना रहा था। मसूरी के लिये हम लोग चल पड़े। देहरादून से राजपुर तक तो पहले ही से बराबर मोटरें आती-जाती हैं। किंतु अब की साल से मसूरी के एक मील नीचे सनी व्यू (Sunny View) तक पहाड़ काटकर मोटर का रास्ता बना लिया गया है, और मोटरें आने-जाने लगी हैं। राजपुर तक तो हम लोग मोटर में थे। मज़े-मज़े चले आए। मोटरवाले को पैसा दिया और धीरे से आ बैठे; पर इधर राजपुर से मसूरी तक पैदल चलने की ठनी। मैदान का चलना तो था नहीं। चले जा रहे हैं झूमते हुए, यहाँ ता मानो फूँक-फूँककर सीढ़ियों पर पैर रखना था। होश ठिकाने आ गए। आँखों के सामने तितिलियाँ उड़ने लगीं। एक लाज थी। वह यह कि महाराज यों भी मसूरी से राजपुर तक कभी-कभी आते-जाते रहते हैं। फिर हम लोगों के लिये यह एक झेंप की बात होती कि हम मोटर से आते और पहाड़ की चढ़ाई से डर जाते। दूसरी बात यह कि हमें पूरा मज़ा भी न मिल पाता। बस, हम लोगों ने चढ़ना शुरू किया। रास्ते में एक डाक्टर साहब और एक अन्य सज्जन, दो महाशय और मिले। मज़ा दोबाला हो गया। रास्ते में दुनिया-भर की बातें होती जातीं। मोटर चलने से लोग इस रास्ते से बहुत कम आने-जाने लगे हैं। साँप की तरह लोटती मोटर की सड़क को हम लोग बख़ूबी चलते हुए देख रहे थे। रह-रहकर मोटरें, बच्चों की मोटरों की तरह इधर-उधर भागती नज़र आती थीं। अब इस रास्ते कुली भी कम आने लगे हैं। अपना सामान अब अपने पास कार ही में लोग रखते हैं। तब भी आप लकड़ी, पटरे तथा और भी तरह-तरह के सामान पीठ पर लादे हुए कुलियों से बच नहीं सकते। ये आपस में 'फाल्तू' (Faltoo) नाम से प्रसिद्ध हैं। मनों बोझ

लकड़ी बेचनेवाले पुरुष और स्त्री

इनकी पीठ पर होता है। इनको देखकर आप कह उठेंगे—अरे! यह कैसा अन्याय! जिस मसूरी में स्वर्गीय सुख है, बहिश्त के मज़े हैं, विलास का राज है और जहाँ

ऐश्वर्य की सामग्री है, वहाँ यह नारकीय जीवन कैसा ! पेट की जलन कैसी ! क्यों, क्या स्वर्ग में भी नरक की यातना भुगतनी होती है ? वह पहाड़ी मार्ग जिसे देखने से भय होता—नीचे गहरे खड्ड, सामने आकाश को छूती हुई भयावह ऊँची पहाड़ की दीवाल ! कुली बेचारे मसूरी की सारी ऐश्वर्य-सामग्री अपने सिर-माथे ढो-ढोकर पहुँचाते रहते हैं। कैसा भयंकर पहाड़ी मार्ग है और कैसे साहसी ये कुली हैं ! राजपुर से मसूरी को सामान ढोते रहते हैं, और मसूरी में, जहाँ कोई भी गाड़ियाँ नहीं हैं, ये कुली डांडी और रिक्शा (Ricksha) चलाते हैं—वह भी दिन-रात। नींद आई, पहाड़ों की टेक दे सो लिया। मानो इन्हें न तो ठंढ लगती है और न थकान। बेचारों के जीवन में न हर्ष मालूम पड़ता है और न विषाद। रात-दिन नधे-से रहते हैं। इनमें न चोरी है न दग़ाबाज़ी—बड़े विश्वसनीय, ईमानदार, शुद्ध तथा थोड़े में संतुष्ट होनेवाले। इनकी क़तार-की-क़तार आपके असबाब को ढोती हुई राह में नज़र आती है। देखिए, पसीने से भीगे जा रहे हैं, बोझ के मारे झुके हुए हैं, किंतु आगे चलते ही जाते हैं। जब ज़्यादा थक जाते हैं, तो थोड़ी देर के लिये किसी पहाड़ में टिककर दम ले लेते हैं। इन बेचारों के चेहरे से कितनी ग़रीबी, कितनी बेकसी टपकती है। इनकी बदौलत देश का गया पैसा कुछ भी तो लौट आता है, यही बड़े भाग्य की बात है।

दूध बेचनेवालों का एक गिरोह

सबसे मज़े की बात है आँखों के सामने मसूरी का दिखाई देना और रह-रहकर छिप जाना। इसमें कुछ अजीब कौतुक-सा जान पड़ता है। हाफ़ वे हाउस (Half Way House) के आगे चलने पर यों ही मसूरी आँखों के सामने आती और चली जाती है। लोग समझते हैं अब तो हम पहुँच गए। पर सच कहिए, तो चलना अभी घंटों है। हम लोग पूरे चार घंटों में मसूरी पहुँचे। रास्ते में पानी ख़ूब बरस रहा था। ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ते, ठंढ और पानी से तंग होते जाते थे। एक बात हम लोगों ने बड़ी अच्छी की थी। बारलोगंज (Barlowganj) से चलते समय ग्रैंड इंडियन होटल में महराज को फ़ोन कर दिया था। इसलिये वहाँ पहुँचने से पहले सबके लिये भोजन तैयार था। महाराज, लल्ला साहब और मैं सब लोग खाने बैठे। दिन के दो-सवा दो थे, जब हम लोग दोपहर का भोजन कर रहे थे। तब से शायद ही कभी भोजन में जल्दी की गई होगी। सुबह होती, नव-साढ़े नव से हम लोग स्केटिंग (Skating) करने रिंक (Rink) चलते। महाराज को फ़्रेंच पढ़ना रहता था, इसलिये वह हम लोगों की अपेक्षा बहुत 'पंक्चुअल' थे। ठीक सात बजे अपने फ़्रेंच-टीचर के पास पहुँच जाना महाराज के लिये बहुत ज़रूरी था। विद्यार्थी तो हम लोग भी थे, किंतु उस समय पढ़ने की लगन उनमें थी। रिंक में पहुँचने पर कभी-कभी स्केटिंग करते हुए हमें महाराज मिलते थे। फ़्रेंच पढ़ने के बाद वहीं चले आते। जाने के दूसरे ही दिन हम लोग रिंक में लोगों को स्केट करते देखने गए थे। महाराज ने कहा—तुम लोग भी सीख लो, कोई मुश्किल नहीं। कुछ ही दिन में ऐसे ही स्केट करने लगोगे। इधर प्राण संकट में पड़े। कहाँ मसूरी आए थे सैर-सपाटा करने और कहाँ स्केटिंग में दम-पर-दम पटकनियाँ खाना पड़ेंगी। देखते थे, लोग यों ही पटाखे की तरह चारों खानें चित्त गिरते थे। नवसिखियों की तो और बुरी हालत थी। बेचारे न स्केट पहने खड़े रह सकते

थे और न आगे चल ही सकते थे । आफ़त थी । सबसे बड़ी झेंप तो तब मालूम देती थी कि इधर चोट आई और उधर गैलरी से लड़के-लड़कियों की हँसी आने लगी । ख़ैर सीखनेवाले सीखते थे और स्केट करनेवाले तीर की तरह सारे हाल का बड़ी ख़ूबी से चक्कर भी दे डालते थे । उनमें ग़ज़ब की लचक और कमाल रहता था । देखकर तबियत सचमुच रीझ जाती थी । उनका पैर अनोखे ढंग से सधा रहता था । न तो उनको झिझक मालूम देती और न गिरने की ही कोई शंका रहती । उनकी चाल क्या ख़ूब थी । मालूम देता, फ़रिश्ते के पर लगे हों । हाँ, तो हम लोगों का भी गला न छूटा । राम-राम कहकर दूसरा दिन बीता; पर तीसरे ही दिन से हमलोग बराबर स्केटिंग करने जाने लगे । इससे एक प्रकार को कसरत भी हो जाती और एक इल्म से जानकारी भी होती थी । जो कुछ भय था, वह बस पहले ही दिन था । फिर न तो किसी प्रकार की झिझक मालूम देती और न किसी प्रकार का भय । अच्छे खेलाड़ियों के लिये तो स्केटिंग बड़े कौतुक की चीज़ थी । वे स्केटिंग के साथ-साथ डांस भी करते जाते थे । उनके पैर बहुत सधे रहते थे । पर हम लोगों ने तो चक्कर दे लेना तक ही अच्छी तरह सीख लिया । महाराज को अभ्यास था, वह स्केट बख़ूबी कर लेते ।

यों भी अनेकों मनबहलाव की चीज़ें आजकल मसूरी में जहाँ-तहाँ हैं । कुछ तो मनोविनोद के लिये हैं, और कुछ का स्वास्थ से भी घनिष्ट सम्बन्ध है । सबसे बढ़कर स्वास्थ्यकर और विनोद को चीज़ मसूरी के झरने हैं । वहाँ आप चलिए, आपको बड़ा ही मानसिक आनंद और शांति मिलेगी । केम्टी (Kempty falls), मोसी (Mossy falls), भट्टा (Bhatta falls), हार्डी (Hardy falls) और सहस्रधारा विशेष दर्शनीय हैं । झरनों के विषय में तो कहना ही क्या है, उन पर कुछ-न-कुछ हमारे सभी कवियों ने लिखा है । साधारण बुद्धि भी इस प्रकार इनके अनंत काक के सतत प्रवाह को सोचते ही सिहर उठती है । वे गाते
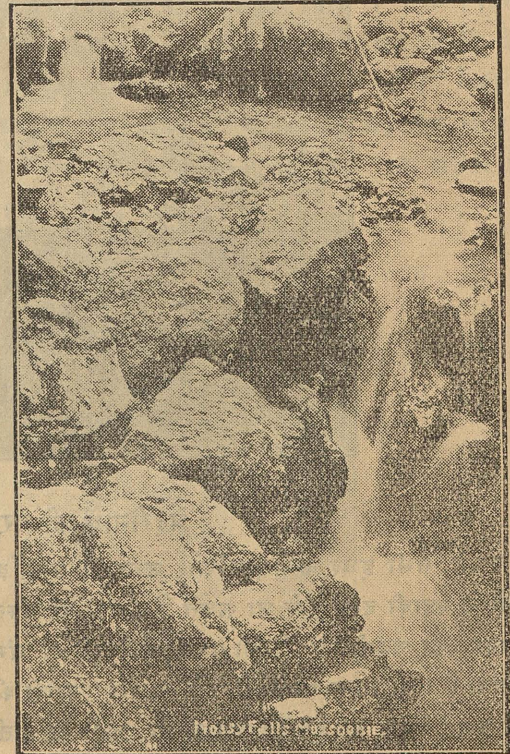
जाड़े में बर्फ़ पर स्केट करते हुए

मासी झरना

हैं कोई ऐसा गीत, जिसमें वेदना भरी है, आह छिपी है। उनके राग में कितनी कसक, कितना अंतर्दाह ओतप्रोत है, कौन कह सकता है। गिरते हैं, प्रेमी के पथ पर पानी बनकर। सरिताएँ समुद्र के संग मिलने जाती हैं, और बेचारे ये निर्झर उनका आँचल पकड़े देखते हैं—पीछा छुड़ाए नदियाँ कितनी मस्ती से बलखाती नीचे चली जा रही हैं। इनका झर-झर रोना, मानो कहता है, यही तो दुनिया है।

झरनों के अलावा पहाड़ की चोटियाँ भी ऐसी हैं, जहाँ से हमें प्रकृति की सुंदरता का नमूना देखने को मिलता है। एक लाल टिब्बा (Lall Tibba) है। इसकी ऊँचाई समुद्र-सतह से हज़ार फ़ीट है, शायद मसूरी में यही सबसे ऊँची जगह है। यहाँ से हिमालय का हिममंडित श्वेत शिखर साफ़-साफ़ देख पड़ता है। बदरीनाथ, केदारनाथ, नंदादेवी, श्रीकांत आदि अनेक स्थानों की रमणीक झाँकी यहाँ से देखने को मिलती है। कुहरा पड़ती है। अच्छा हुआ मसूरी में बिजलियों-सी तड़पती मोटरें अपनी दानवी दौड़ नहीं लगातीं ; नहीं तो सारा लुत्फ़ जाता रहता। न वहाँ वह शांति रह पाती और न मसूरी की वह गंभीरता और कमनीयता। हमारे यहाँ शहरों में देखिए, पता नहीं कब किधर से मोटर की बला डकारती चली आए, जी चाहे जिसको दबा दे, कुचल दे। मसूरी में अभी तक तो इसका डर नहीं है।

मसूरी में रहने के लिये सबसे सुंदर प्रबंध होटलों का है। बहुत साफ़, बड़े रम्य और लुभानेवाले यहाँ के होटल हैं। इनका प्रबंध, इनकी सफ़ाई और सज-धज सारे हिंदुस्थान के होटलों को मात करनेवाली कही जाती है। दो सौ से लेकर हज़ारों तक के महीने के होटल हैं। सेवाय (Savoy), शार्लिविल (Charlevile) और हैकमैंस ग्रैंड होटल (Hakmans Grand Hotel)—ये तीन बड़े अच्छे होटल योरपियनों के हैं। इनका सारा प्रबंध उन्हीं के हाथ है। अँगरेज़ लोग तो अपनी चीज़
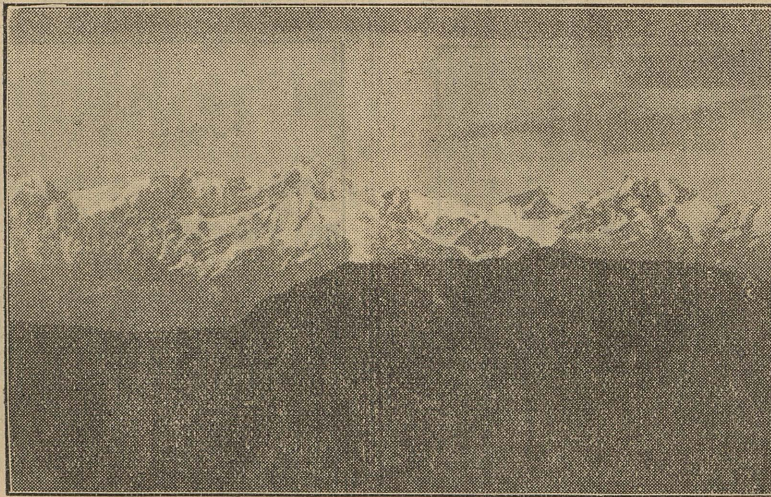
बदरीनाथ की बरफ़ से ढकी हुई पहाड़ियाँ

जब न रहे, तभी इधर के मैदान और उधर के उपर्युक्त स्थानों के पहाड़ी दृश्य देखे जा सकते हैं। नहीं तो मुफ़्त की पहाड़ की चढ़ाई सर उठानी पड़ती है, क़ाफ़िया तंग हो जाता है। पछताना पड़ता है, सो अलग। मसूरी की सारी जगहें पैदल या डांडी-रिक्शे से ही पहुँचनी होती हैं। बहुत जगहें तो ऐसी हैं, जहाँ डांडी और रिक्शे का कोई बस नहीं चलता। अपने पाँवों की ही ख़ैरियत मनानी समझकर इनमें रहते ही हैं और इनके लिये सुबीता भी है ; किंतु हमारे मनचले हिंदुस्थानी भाई भी ग़ज़ब के शौक़ीन होते हैं। तबियत नहीं मानती, और सुनते हैं हज़ार झेंप खाते हुए भी इन्हीं होटलों में अपना पैर अड़ाए रहते हैं। यहाँ कई हिंदुस्थानी होटल भी काफ़ी अच्छे हैं। इनके मालिकों का प्रबंध, रोज़-रोज़ का आपस का व्यवहार बहुत बढ़िया और सभ्य रहता है। हमलोग

ग्रांड इंडियन होटल में थे। यह लाइब्रेरी के पास ही है। होटल तो छोटा-सा है, किंतु बड़ा सुंदर है। रहन-सहन तथा खाने-पीने का प्रबंध यहाँ का अच्छा है ही, साथ-ही-साथ इसके मालिक सरदार साहब बड़े मिलनसार और हँसमुख जान पड़ते थे। योरपियनों के बीच रहते हुए उन्हें अपनी भारतीयता का काफ़ी ख़याल था। ऐसी जगह इन होटलों को खोलकर हमारे देश का लाखों रुपया अँगरेज़ बाहर ले जाते हैं और तुर्रा यह कि रहनेवालों पर शान भी गाँठते रहते हैं। सुना, कोई साहब ऐसे ही किसी होटल के प्रोप्राइटर से मिलने गए। उनको खद्दर पहने देख प्रोप्राइटर बेचारा बुरी तरह चौंक पड़ा और कहने लगा—आप तो साहब, ऐंटी-ब्रिटिश हैं, यह ठीक नहीं। होटल में ऐंटी-ब्रिटिशों के लिये जगह नहीं। क्या हुआ, ठीक पता नहीं। शायद अपना-सा मुँह लिए उन्हें लौट आना पड़ा। नमक-मसाले के व्यापार के लिये जब मुग़ल-सम्राटों के सामने नाक रगड़नी थी, उस समय ऐंटी-ब्रिटिश होने का ख़याल इन्हें था कि नहीं, यह हम नहीं जानते। आज हमारे ऐंटी-ब्रिटिश होने की इन्हें पड़ी है।

थोड़े में मसूरी को देखने के लिये इसके पाँच टुकड़े किए जा सकते हैं। देखिए—बारलोगंज से स्कूल-कालेज और इनसे संबंध रखनेवालों के निवासस्थान का भू-भाग है। दूसरा हिस्सा लाइब्रेरी-बाज़ार से लेकर मालरोड और केमल्सबैक रोड का है। यही हिस्सा मसूरी की सभी जगहों से अधिक रम्य, आकर्षक और सुहावना है। यहाँ स्टेशन-लाइब्रेरी है ही, सामने बैंड स्टैंड है। यहाँ बैंड बजता है, और नीचे मैदान का सुंदर दृश्य दिखाई देता है। सारी सड़क सिनेमा-घरों तथा अनेक मन-बहलाव की चीज़ों से सजी है। मैजेस्टिक सिनेमा, स्टीफल, पिलेडियम, आक्शन् घरों तथा रिंक और पिक्चर-पैलेस मसूरी की ख़ास-ख़ास आनंद मनाने की जगहें हैं, जहाँ नाच-तमाशे हुआ करते हैं। रिंक में स्केटिंग तो होती ही है, साथ-ही-साथ कभी-कभी सिनेमा और नाटक भी होते रहते हैं। यहाँ हर साल अखिल भारत-वर्षीय बाक्सिंग टूर्नामेंट होता है। उस दिन बड़ा जलसा मनाया जाता है। रिंक के सामने ही तिलक-मेमोरियल-लाइब्रेरी है। यहीं हमें पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएँ देखने को मिल सकती हैं। स्टेशन की लाइब्रेरी तो केवल योरपियन और ऐंग्लो-इंडियन लोगों के लिये ही है, वहाँ हम हिंदुस्थानियों की गुज़र नहीं। तीसरा हिस्सा विनसेंट हिल (Vincent Hill) और हैप्पी वैली (Happy Valley) का है। हैप्पी वैली में आजकल तेरह-चौदह टेनिस कोर्ट हैं। यही एक चीज़ है, जो पहाड़ के लिये अचम्भे की कही जा सकती है।

लाइब्रेरी-बाज़ार
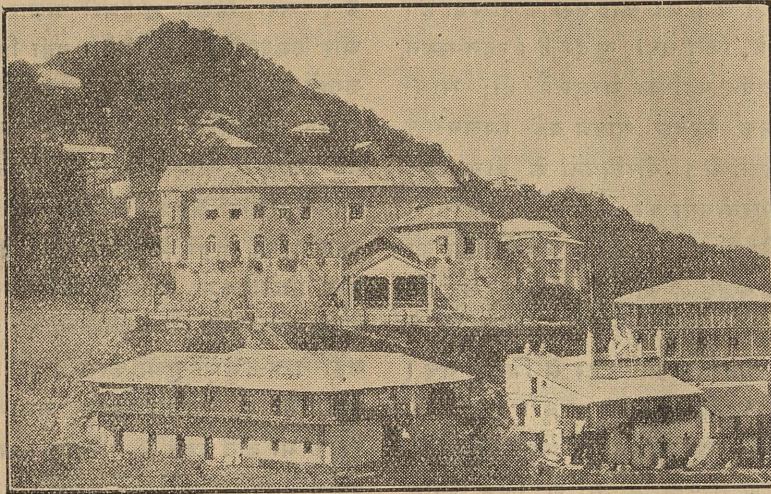
रिंक और तिलक-लाइब्रेरी

यहाँ "हैप्पी वैली क्लब" भी है । चौथा और पाँचवा हिस्सा लंधोर बाज़ार (Landour Bazar) और लंधोर डिपो (Landour Depot) है । लंधोर बाज़ार तो मैदान के शहरों का एक नमूना है । बीच में क़रीब सकते हैं, पर है गंदा और सकरा । केवल रोज़ी-रोज-गार करनेवालों के लिये है । लंधोर से आगे 'डीपो' आता है । यहाँ मिसनरी और गोरे सिपाही रहते हैं । तमाम डीपो इन्हीं से भरा पड़ा है । बीच-बीच में
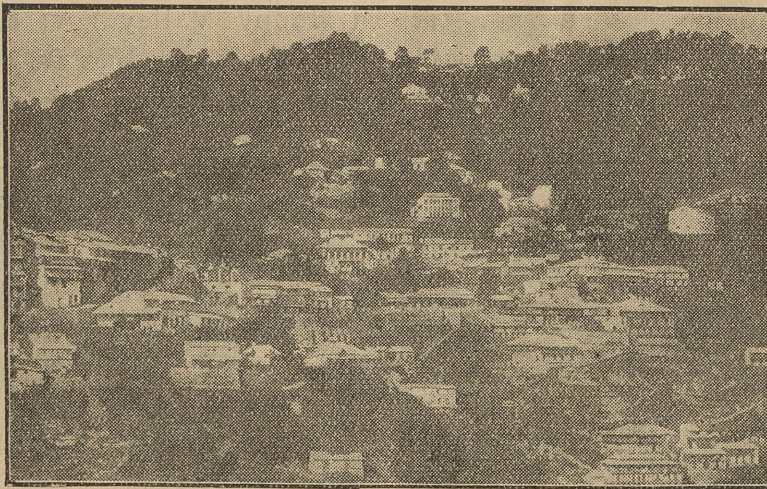
लंधोर से मसूरी का दृश्य

डेढ़ मील की लंबी सड़क दाहने और बाएँ हैं, जिसके दोनों ओर ऊँची-ऊँची गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ हैं । बस, यही लंधोर-बाज़ार है । क़ाफ़ी घना बसा है । यहाँ सब चीज़ें मिलती हैं । यहाँ का जीवन उतना महँगा नहीं है । रहने के मकान सस्ते और कम दामों में किराए पर मिल छोटी-छोटी दूकानें या तो पहाड़ियों की हैं या देशवालों की । बस, इतने में मसूरी है, जिसको हमने देखा और सुना । एक शब्द में मसूरी अँगरेज़ों की दुनिया है, और हमारे उन राजा-महाराजाओं की विहारभूमि है, जिनके जीवन का मूल-मंत्र है खाओ, पीओ, मौज करो ।
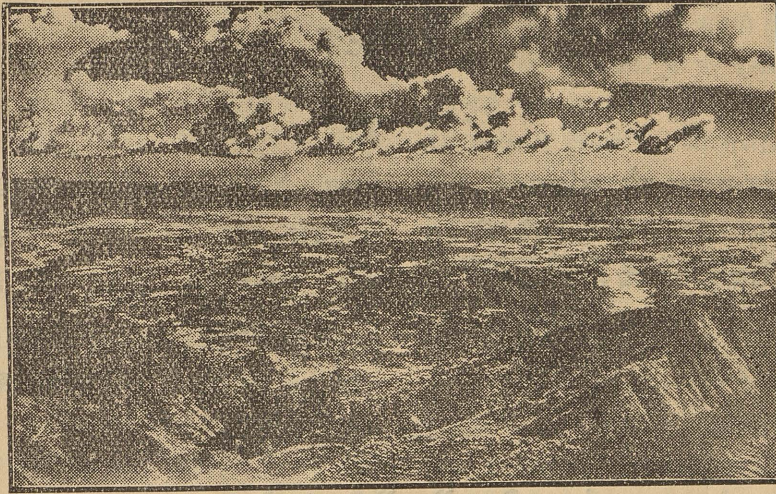
मसूरी से दून का मैदान

अब हम लोगों की घर चलने की ठनी । फिर वही बेचैनी, वही उतावलापन । एक-एक क्षण पहाड़ जान पड़ता था । दिन के चार बजे चलने को तैयार हुए । महाराज सनी व्यू (Sunny View) तक साथ थे । हम लोग मोटर में बैठे । मोटर चलनी शुरू हुई । पग-पग नीचे खड्ड में ले जा रही थी । कितने वेग से, कितनी आतुरता से ! एक बार, दो बार हमने दूर सनी व्यू के एक पहाड़ी टीले पर महाराज को देखा । फिर मसूरी का विमान उस सुरलोक की परी के समान पृथ्वी से ऊपर उठता दिखाई देने लगा, जो एक बार मृत्यु-लोक में आई थी । हम मोटर में बैठे हुए नीचे चले जा रहे थे—शांत और स्थिर । मोटर पहाड़ के खड्ड में थी । इधर भी पहाड़, उधर भी पहाड़, ऊँचा और भयावह ! सामने गहरी, अथाह खाड़ियाँ थीं, और घनी वृक्षों से लदी हुई आँखों के सामने मसूरी का मोहक रूप सिनेमा के चित्र की तरह आया और ग़ायब हो गया । हाँ, दूर से ट्रेन में बैठे हुए रात को हम मसूरी की बिजली की रोशनी देखते रहे । लो यह भी लोप हो गई । देखते-ही-देखते सारी बत्तियाँ तारे बनकर आकाश में नाचने लगीं । एक बार, दो बार, कई बार देखा; कुछ दिखाई नहीं दिया । रात्रि के घने अंधकार ने मसूरी को अपने में समेट लिया था । सामने काले मेघ की तरह पहाड़ की ऊँची दीवाल नज़र आने लगी— भयंकर डरावनी । कुछ ही घंटे पहले जिसकी एक-एक पत्तियाँ हमसे ठठोलियाँ करती थीं, जो फल हँसते थे, लताएँ होड़ लगाती थीं, वे सब न-जाने कहाँ चले गए ।
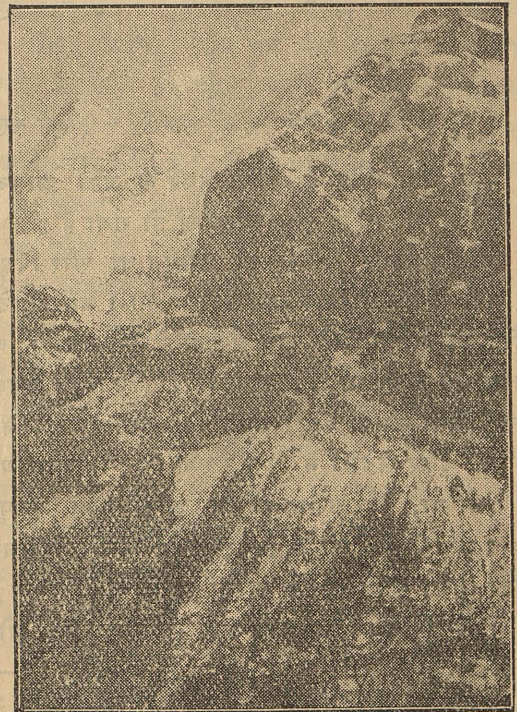
खिड़की के बाहर

कुबेरनाथ पाठक

नेह-नाटक

मान रचि राख्यो नेह-नाटक जौ कल्पित कै,
ताही कौ प्रतच्छ करि चाह साँचिबे की है;
आली! ह्वै चुक्यो है सब कृत्य नृत्य नाँदी आदि
पारी त्यों पुरोचन 'रसाल' राँचिबे की है।

नैपथ में कै दियो अनंग पूर्व रंग-राग,
बस अब बेर पट के उलाँचिबे की है;
करि मन-मोहन सुरूप नट-नैनन कौ,
रूप-रंग-मंच पै उमंग नाचिबे की है।

रामशंकर शुक्ल "रसाल"

रंगभूमि और वैनिटी फ़ेयर

(२)

(पूर्ण संख्या ८० से संबद्ध)

अब यहाँ संक्षेप में वैनिटी फ़ेयर के जार्ज आसबर्न का परिचय दे देना अनिवार्य हो गया है।

जार्ज आसबर्न सेडली का धर्मपुत्र था और पिछले २३ वर्षों से इस परिवार का सदस्य था। जब वह डेढ़ महीने का था, तो उसे जान सेडली ने एक चाँदी का प्याला भेंट किया था......आदि......(४१); उसका पिता किसी समय कौड़ी-कौड़ी को मुहताज था, जिसे सहायता देकर सेडली ने इस उरूज पर पहुँचाया था, जो दंभी था, विश्वासघातक था और अपने भूतपूर्व आश्रयदाता सेडली की विपदवस्था के दिनों में उनके बराबर बिच्छू की तरह डंक मारता रहता था (२७७); पुत्र विलासी था, अपव्ययी था, ख़ुशामदपसंद और घमंडी था (१६४—१६७, २८४—२९५, २९६—३०८, ३३८—३४६)। मतलब यह है कि विनय के साथ किसी दशा में भी तोले जाने योग्य नहीं था।

रही राजकुमार होने की बात। सो जार्ज आसबर्न यदि राजकुमार होने योग्य था, तो अमेलिया राजकुमारी समझी जानी चाहिए थी। स्वयं जार्ज आसबर्न के पिता के शब्दों में अमेलिया का पिता उससे दस हज़ार पाउंड का अधिक धनी था (तीसरा भाग ११)। अमेलिया जार्ज को अपनी संपन्नावस्था में ही राजकुमार समझती थी—क्यों? इसलिये नहीं कि वह मालदार था, वह स्वयं भी कम न थी, बल्कि इसलिये कि वह उसकी विलासप्रियता पर मुग्ध थी, उसकी गलमुच्छों पर आसक्त थी और उसकी ऐंठ-अकड़ पर मरती थी—उसी प्रकार जिस प्रकार संसार की अन्य अगणित बालिकाएँ अपने प्रेमियों पर मोहित होती थीं, हैं और रहेंगी। रंगभूमि की सोफ़िया विनय के वैभव पर आसक्त नहीं थी, उसके ऐश्वर्य को तुच्छ समझती थी। यदि विनय जार्ज आसबर्न की नाईं सोफ़िया को अमेलिया समझकर अपने कृत्यों की डींग मारते, आत्मप्रशंसा करते, तो शायद उसे उनसे अरुचि हो जाती (४११)। जब उसे विनय और प्रभुसेवक ने कविता के निर्णय के लिये न्यायाधीश बनाया, तब भी विनय की ओर देखकर उसने मन-ही-मन कहा था—कैसा आदर्श जीवन है। (१५३) इसी को कहते हैं Distostion of facts।

इसके बाद हमारे मित्र अवधजी ने एक लंबा-सा उद्धरण देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि अमे-

लिया की भावी ननद उसे हीन दृष्टि से देखती थी। उन्हें आश्चर्य होता था कि 'आसबर्न उस पर न-मालूम क्यों मुग्ध हो गया है।' वे उसे समझातीं कि 'यदि तुम अमेलिया से विवाह करोगे, तो तुम्हारे त्याग की मात्रा बहुत ही अधिक कही जायगी।' यहाँ अवधजी ने अनावश्यक विस्तार से काम लिया है, हम इतने से ही संतुष्ट हैं।

यहाँ कई प्रश्न उठते हैं। क्या अमेलिया और आसबर्न की भाँति सोफ़िया और विनय भी विवाह करने को उत्कंठित थे?—क्या इन्दु के हृदय में भी वही मनोवृत्ति काम कर रही थी, जिसके वशीभूत होकर आसबर्न-भगिनियों ने अपने भाई को मना किया था?—(यहाँ हास्यरसाचार्य थैकरे ने अपनी स्वभावसिद्ध व्यंग्यपटुता के साथ स्त्रीजाति के इस विस्मय का चित्र खींचा है, जो किसी सुंदरी बालिका के गुलाबी गालों और नील नेत्रों को देखकर उद्भूत होता है। थैकरे कहता है—"माना कि इस नैतिक आदर्शवादिनी प्रिय जाति के कथनानुसार रूप की अपेक्षा गुण कहीं मूल्यवान् पदार्थ हैं......और यह भी माना कि साधुतापूर्ण स्त्रीचरित्र—जिसकी महिलाओं की दृष्टि में इतनी महत्ता है—एक भोले-भाले, सुस्मित और कौशलरहित, कोमल और नैसर्गिक आभा से कांत, मुखड़े की अपेक्षा अधिक गौरव और यश का पदार्थ है—पर हतभाग्य निरीह बालिकाओं को जिन्हें रूप का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है, इसी में अपनी सांत्वना समझनी चाहिए कि कुछ भी हो, आदमी तो उनकी आराधना करते हैं!") क्या उसके हृदय में यही स्त्रीसुलभ कुत्सित भावना अपना काम कर रही थी?—और क्या वह भी सोफ़िया को आसबर्न-भगिनियों की भाँति नीचा समझती थी? रंगभूमि में इन सब बातों का पता तक नहीं है। सोफ़िया ने अपने प्रेम को अंत तक दबाने का प्रयत्न किया, और विनय तो स्वयं उपाध्यायजी की ज़बानी अपने को धोखा देता रहा था, वह कई-कई दिन तक घर में न आता, सेवा-समिति के कार्यों में व्यस्त रहता, मिस सोफ़िया की ओर आँख तक उठाकर न देखता, उसके साए से भागता। इंदु ने इस भेद को जान लिया, पर उसके हृदय पर कुत्सा ने क्षण-भर के लिये भी अधिकार नहीं किया। उसने तो सोफ़िया से स्वयं कहा कि यदि धर्म बाधक न होता, तो माताजी उसे अपनी पुत्रवधू बनाकर छोड़तीं (और स्वयं अवधेशजी ने भी इसका उद्धरण दिया है)। वह इसे नीच समझती थी?—तनिक भी नहीं। उसने इस संबंध के विषय में कभी गंभीरता के साथ विचार किया था?—ज़रा भी नहीं। और यह बात उदयपुर में विनय के आत्मकथन से प्रकट है 'समझ गया, इंदु की सरलता ने यह आग लगाई है। उसने हँसी-हँसी में अम्माजी से कह दिया होगा। न-जाने उसे कभी बुद्धि होगी या नहीं। उसकी तो दिल्लगी हुई, और यहाँ मुझ पर जो बीत रही है, मैं ही जानता हूँ।" वास्तव में उसने विनय को सोफ़िया से प्रेम करने से कभी रोका ही नहीं था। उसे डर था कि कहीं विनय सोफ़िया की आँखों से न गिर जाय (और कोई भी स्नेहमयी बहन इसे सहन नहीं कर सकती) और इसी साधुभावना से प्रेरित होकर जिसमें माता का सदनुष्ठान भी सम्मिलित था—उसने विनय को इस पथ पर जाने से रोका था। विनय उस पथ पर बहुत आगे बढ़ चुका था, उसने अपना अपराध स्वीकार किया, उस मार्ग से लौट सकने में असमर्थता प्रकट की, पर साथ-ही-साथ इंदु को यह भी आश्वासन दिया कि 'इस आग की एक चिनगारी या एक लपट भी सोफ़ी तक न पहुँचेगी'। वह थैकरे का कामुक आसबर्न, उच्छृंखल आसबर्न, कुत्सित मनोवृत्तियोंवाला आसबर्न न था। उसने प्रतिज्ञा की कि 'मेरा सारा शरीर भस्म हो जाय, हड्डियाँ तक राख हो जायँ, पर सोफ़ी को इस ज्वाला की झलक तक न दिखाई देगी'। (यहाँ प्रतिभासंपन्न लेखक की लेखनी अत्यंत सजीव हो उठी है) उसके हृदय में पश्चात्ताप की वेदना हो रही थी। उसने निश्चय किया कि 'जितनी जल्दी हो सके, वहाँ से चला जाय'। पर उपाध्यायजी अपने सविस्तर उद्धरण में यह अंश भला क्यों सम्मिलित करने लगे!—उससे गणितीय समिकरण की असिद्धि की जो आशंका थी! हाँ, उन्होंने यह लिखने की उदारता अवश्य दिखाई है—'तदनंतर विनय इसे सोफ़िया से गुप्त रखने और हट जाने की प्रतिज्ञा करता है'। जार्ज आसबर्न ने भी कुछ ऐसा ही किया था क्या? फिर सादृश्य कहाँ रहा?

हमारे मित्र उपाध्यायजी को सीधी-सादी बात को जटिल रूप दे देने, बात का बतंगड़ खड़ा कर देने, सुई का

फावड़ा बना देने और नई-नई बातों के आविष्कार करने का बड़ा शौक़ है। हम अमेलिया के चरित्र-चित्रण में यह बात स्पष्ट कर आए हैं कि वह आवश्यकता से अधिक लजीली है, अपनी भावी ननदों के सामने बावली-बौरंगी बनी बैठी रहती है, और वे उसे बेहूदा और बेशऊर ख़याल करती हैं। पर वह जार्ज आसबर्न के कई-कई दिनों तक सूरत न दिखाने पर तंग आकर उसके पिता के घर जाती है। उसके वहाँ जाने का उद्देश्य जार्ज आसबर्न को देख आना रहता है, पर वहाँ पहुँचते ही वह अपनी ननदों की असह्य सहृदतया से विकल हो जाती है और वहाँ से किसी-न-किसी प्रकार निकल भागने का अवसर देखती है। अवधजी कहते हैं कि 'अमेलिया मानापमान का कुछ भी विचार नहीं करती। यद्यपि आसबर्न की बहनें उसे नहीं चाहती थीं (पर इंदु तो सोफ़िया के पीछे जान देती थी!), तथापि वह उसके पास जाने में तनिक भी नहीं लजाती थी।'......आदि।

इसके बाद अवधजी कहते हैं—'अब यह देखना चाहिए कि इस संबंध में सोफ़िया के विचार कैसे थे और दोनों प्रेमिकाओं में कुछ समानता है या नहीं।'...इसके बाद उन्होंने रंगभूमि के १६६ पृष्ठ का उद्धरण देकर बीज-गणितीय नैपुण्य के साथ सिद्ध किया है कि सोफ़िया 'तनिक भी नहीं लजाती थी।' हम दोनों प्रेमिकाओं के प्रेम, उनकी आधार-भूत स्थितियों, उनके लक्ष्यों और उनकी आकांक्षाओं को स्पष्ट रूप से लिख आए हैं। यदि अमेलिया और सोफ़िया के प्रेम में कोई सादृश्य स्थापित किया जा सकता है, तो रेबेका और सोफ़िया की उससे भी अधिक सुगमता से समता हो सकती है। उसमें आप निर्लज्जता भी पाएँगे और निर्भीकता भी। इस स्थान पर सोफ़िया की दशा तो उस प्रेम-वेदना-विकल प्राणी-जैसी है, जो अपने भाव-गोपन में अंत में असमर्थ हो जाता है, और अपने विश्वास-पात्र व्यक्ति के सामने हृदय खोलकर रख देता है। सोफ़िया अपने भाई पर विश्वास रखती थी; क्या अमेलिया भी अपनी ननदों पर विश्वास रखती थी? (और विस्मयकारी बात यह है कि यहाँ समालोचक महोदय ने प्रभुसेवक को बात-की-बात में इंदु के पद पर अधीष्ठित किया है। आख़िर सादृश्य भी तो किसी प्रकार स्थापित करना ही था!) शायद पाठक इतने ही से संतुष्ट हो जायँगे।

तदनंतर उपाध्यायजी ने यह पता लगाने का प्रयत्न किया है कि 'वैनिटी फ़ेयर में विवाह के संबंध में आसबर्न के माता-पिता (हम अवधजी को विश्वास दिलाना चाहते हैं कि आसबर्न की माता उस समय से बहुत पहले मर चुकी थी) की क्या राय है और इसी के अनुसार रंगभूमि में विनय तथा विनय की प्रेमिका सोफ़िया के माता-पिता की क्या राय है।'

अब देखिए क्या-क्या शिगूफ़े खिलते हैं। सुनिए—

'आसबर्न का पिता नहीं चाहता था कि उसके पुत्र का विवाह अमेलिया से हो। उसका पूर्ण विश्वास था और यह बात वास्तव में सत्य भी थी कि आसबर्न की शादी अमेलिया से बहुत ही अधिक धनवान् तथा श्रेष्ठ घर में हो सकती थी। अतएव वह इस विवाह के बहुत ही विरुद्ध था। वह स्पष्ट रूप से अपने पुत्र से कह देता है कि तुम अपनी शादी अमेलिया से मत करो। वह आसबर्न को अमेलिया से बोलने तक के लिये मना कर देता है। इसीलिये जब एक दिन आसबर्न अमेलिया से बातें करता था, तब आसबर्न की बहन ने उससे कहा—अमेलिया से क्यों बातें कर रहे हो? पिताजी तो मना करते हैं, परंतु आसबर्न ने कहा—अमेलिया से मैं अवश्य ही बातचीत करूँगा। कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो मुझे अमेलिया से बातचीत करने से मना कर सके।' (इस उल्लेख के अंतिम अंश के प्रारंभिक भाग में सुखसागर के भाषा-लालित्य और अंतिम भाग में क़ुरान के उर्दू भाष्य का शब्दसौष्ठव देखने को मिलता है। हाँ, 'मना कर सके' के स्थान पर 'कर सके मना' हो जाता, तो वाक्य और भी चटपटा बन जाता।) पाठकगण आसबर्न के पिता के संबंध में जो कुछ कहा गया है, उसका ध्यान रक्खें।

इसके बाद आपने वैनिटी फ़ेयर का एक उद्धरण दिया है, जिसमें वर्णित है कि किस प्रकार जार्ज का महत्त्वाकांक्षी पिता—जो खींच-तानकर एक लार्ड के परिवार से अपना रक्त-संबंध प्रसिद्ध करना चाहता था—जो किसी बड़े आदमी को देखते ही भीगी बिल्ली की तरह अदब से अभिवादन करता था—जो शुष्क था, दंभी था, निरंकुश-प्रकृति था, चिड़चिड़ा और संकीर्ण-हृदय था—जो शराब बहुत पीता था, अपने से अधिक पढ़े-लिखे आदमी के सामने दब्बू बन जाता था, पर उन्हें ख़रीदकर छोड़ देने की शक्ति रखता था, ख़ुशामद-पसंद

था और अपनी हठ के आगे किसी की नहीं सुनता था— संक्षेप में जो यशलोलुप था, धनलोलुप था और केवल सभ्य समाज में प्रवेश पा सकने की लालसा से लड़के को रुपयों की थैलियाँ देता था, जिनसे वह लार्डों के लड़कों के साथ निकृष्ट जीवन व्यतीत करता था; जो जब तक उसकी स्त्री जीवित रही, उसे नाना प्रकार के दैहिक और मानसिक कष्ट देता था, जिसने अपनी पुत्र-वधू अमेलिया के साथ पाशविक व्यवहार किया था—और जो कुँअर भरतसिंह या रानी जाह्नवी से उसी प्रकार समता किए जाने के अयोग्य था, जिस प्रकार कोई अन्य वासना-लोलुप धनी पं० मोतीलाल नेहरू या उनकी धर्मपत्नी से समता किए जाने के अयोग्य है (और इस तुलना की कल्पना-मात्र से हृदय काँप उठता है)—हाँ, हम कह रहे थे कि अवधजी ने एक उद्धरण देकर दिखाया कि किस प्रकार जार्ज का महत्वाकांक्षी पिता अपने पुत्र का नाम कुलीनों और तेजस्वियों के नाम के साथ देखकर परमोल्लास और अभिमान से फूल जाता था और किस प्रकार उसे आंतरिक विश्वास हो गया था कि उसका पुत्र अवश्य ही प्रतापी वैरन देश प्रस्थापक होगा। (आश्चर्य है, अवधजी ने यशोलोलुप वृद्ध आसबर्न का मर्यादा-लोलुप महेन्द्रकुमार के साथ सादृश्य स्थापित क्यों नहीं किया !) जार्ज आसबर्न के पिता के चरित्र का विशद अध्ययन करने के लिये पाठकों को वैनिटी फ़ेयर के निम्नलिखित पृष्ठ देखने चाहिए—१६६—१६७—१७३, २४४, २७१, २९९—२९९, ३१६—३२२; दूसरा भाग ११९—१२९, २३१—२३७, २८३, २८६, ३३१, ३४०; तीसरा भाग २४, २७—२९, ३०, ४०—८६, ८७—८८, ९९—१०६।

अब विनय की माता जाह्नवी की क्या आकांक्षा थी, क्या चरित्र था, कैसी मनोवृत्तियाँ थीं, सो स्वयं सहृदय अवधजी के उद्धरण की सहायता से ही देखिए। अवधजी कहते हैं—'अब पाठकों को आसबर्न के पिता के उपर्युक्त कथन से रानी जाह्नवी के कथन का मिलान करना चाहिए।' हम भी इससे अधिक कुछ नहीं चाहते—'रानी जाह्नवी ने सोफ़िया से कहा—बेटी......। फिर तो वीरतापूर्ण कथाओं के पढ़ने का मुझे ऐसा चस्का लगा कि राजपूतों की ऐसी कोई कथा नहीं, जो मैंने न पढ़ी हो। उसी समय से मेरे मन में जाति-प्रेम का भाव अंकुरित हुआ। एक नई अभिलाषा उत्पन्न हुई—मेरी कोख से भी कोई ऐसा पुत्र जन्म लेता, जो अभिमन्यु, दुर्गादास और प्रताप की भाँति जाति का मस्तक ऊँचा करता। मैंने व्रत किया कि पुत्र हुआ, तो उसे देश और जाति के हित के लिये समर्पित कर दूँगी।.........विनय इन लोगों के साथ जा रहा है और मैं गर्व से फूली नहीं समाती कि मेरा पुत्र जातिहित के लिये यह आयोजन कर रहा है, और तुमसे सच कहती हूँ, अगर कोई ऐसा अवसर आ पड़े कि जातिरक्षा के लिये उसे प्राण भी देना पड़ें, तो मुझे ज़रा भी शोक न होगा। इसी प्रकार पृष्ठ २२१ में रानी ने जातीय गर्व का उल्लेख किया है।'

'एक दिन रानी जाह्नवी ने देखा कि विनय सोफ़िया की ओर प्रेमपूर्ण दृष्टि से देख रहा है और सोफ़िया भी विनय पर लट्टू है। बस, अब क्या कहना है। (अभी तो बहुत कुछ कहना है) । रानी जाह्नवी का विकसित शांत मुखमंडल तमतमा उठा, मानों बाग़ में आग लग गई। अग्निमय नेत्रों से विनय की ओर देखकर बोली— तुम कब जा रहे हो ? तदनंतर रानी से उन्हें वहाँ से जाने के लिये विवश कर दिया। रानी डर गईं कि यहाँ रहने से विनय सोफ़िया से विवाह कर लेगा। रानी को यह विवाह पसंद नहीं था, इसीलिये रानी ने विनय को खदेड़ कर ही दम ली (? लिया)'। पर रंगभूमि के पाठक, विनय सोफ़िया के विवाह की आशंका से डरी नहीं थीं। उनके जातिगर्व-गर्वित हृदय को इस बात के विचार-मात्र से आघात पहुँचा कि एक पुत्र जिसे उन्होंने देश को अर्पण किया था—जिसका जीवन त्यागमय बनाने के लिये स्वयं उन्हें अनेक शारीरिक कष्ट उठाने पड़े थे—(पर अवधजी लेखक की इस उक्ति से नाराज़ हैं; वह कहते हैं कि रानी जाह्नवी का यह कथन कि उन्हें जाति की अधोगति को देखकर अपनी विलासिता पर लज्जा आती थी, उसके उद्धार के लिये उन्होंने अपने पुत्र को न कभी गद्दों पर सुलाया, न कभी महरियों और दाइयों की गोद में जाने दिया, न मेवे खाने दिए, अस्वाभाविक है। उन्हें विश्वास नहीं होता कि राजकुमार विनय को बाल्यावस्था में कोई मेवा न मिला हो।' उनकी समझ से 'इतनी दासियों के रहते हुए यह भी संभव नहीं मालूम होता कि विनय दासियों की गोद में न गया हो।' किंतु हम उन्हें परामर्श देंगे कि

लेखक के कथन को ही चुपचाप मान लिया करते हैं— अन्यथा गति ही क्या है ? यदि हम लेखक के चरित्र-चित्रण में इस प्रकार आशंका करने लगेंगे, तो टालस्टाय की सर्वोत्कृष्ट रचना War and Peace के पीरी-जैसे कामुक और आलसी जीव का एक दार्शनिक के रूप में कायाकल्प असंभव हो जायगा और विक्टर ह्यूगो को अपनी फ्रेंच साहित्य की— मेरी समझ से विश्वसाहित्य की—अमूल्य संपत्ति Les Miserable के जीन वल-जीन-जैसे पतित और अधम जीव को साधु के रूप में परिवर्तित करने के असाधारण रचनाकौशल के पुरस्कार में मिली हुई स्विनबर्न-जैसे विख्यात कवि और कला-विवेचक की सनद, जो सहृदयता और कृतज्ञता व्यक्त करने में अपनी सानी नहीं रखती—The son of Consolation (शांति-सांत्वना का पुत्र)—लाचार होकर वापस करनी पड़ेगी ।) जिनके प्राण तक बलिदान करने में वह पश्चात् पद नहीं थीं—उनके जीवन के महान् उद्देश्य, एक-मात्र आकांक्षा, स्वर्गीय अनुष्ठान और नैसर्गिक व्रत की, इस प्रकार गर्हित वासनाओं में फँसकर, इस बुरी तरह हत्या करने पर उतारू है । इसीलिये उन्हें क्रोध आ गया था, मुँह तमतमा उठा था—भीति का तो कहीं चिह्न भी नहीं था—यह वस्तु उनके स्वभाव के लिये अभिअगीय (Incompatible) थी । इसी ज़रा-सी बात का अवधजी ने इतना बतंगड़ खड़ा किया है । अब तो पाठकों की समझ में आ गई न ? अस्तु ।

हमने पाठकों से वादा किया था कि हम उनका कुछ 'शिगूफ़ों' से मनोरंजन करेंगे, लीजिए। पाठकगण, अभी यह तो न भूले होंगे कि अवधजी ने कहा था कि इस विवाह-संबंध के वरपक्ष के पिता बहुत ही विरुद्ध थे। (यद्यपि वस्तुस्थिति ऐसी न थी । वह तो रेबेका से प्रेम-संबंध स्थापित करनेवाले वैनिटी फ़ेयर के जोसेफ़ सेडली के पिता जान सेडली की नाईं, उदासीन थे, और आश्चर्य है, यह बात निपुण विवेचक की दृष्टि से कैसे बच गई । सादृश्य तो बड़ी सुविधा के साथ स्थापित हो सकता था !) पर अब--सुनने के लिये तैयार रहिए, हृदय को कड़ा कीजिए, और इस विस्मयकारी आश्चर्य-व्यापार को देखिए और अवाक् रह जाइए । कुँवर विनयसिंह के पिता कुँअर भरतसिंह--कहते कष्ट होता है--जिस प्रकार पायनियर के संपादक मि० विलसन के प्रसिद्ध लेख The disinherited father की बदौलत महान् पं० मोतीलाल नेहरू अपने तेजस्वी पुत्र पं० जवाहरलाल के पिता के पद से च्युत कर दिए गए थे— अपने पितापद से लादावा कर दिए गए। अब उन्हें डाबिन का पार्ट खेलना पड़ेगा, वह इस विवाह-संबंध से सहमत हो गए और इतने ही से संतुष्ट नहीं रहे; उन्होंने कन्या के पिता-माता को भी राज़ी करने का प्रयत्न किया; क्यों ?--क्योंकि वैनिटी फ़ेयर में भार्ता डाबिन ने वरवधू के माता-पिताओं को राज़ी करने की चेष्टा की थी; यह आपत्ति इस समय उठाना व्यर्थ है कि साहब आप तो डाबिन की एक अलग सत्ता मान चुके हैं ; इसका कुँअर भरतसिंह में निरूपण किस प्रकार कर दीजिएगा ?

सोफ़िया की मा अमेलिया की मा की तरह असहमत नहीं थी । अमेलिया की मा तो इस संबंध को हृदय से चाहती थी । 'उसने प्रेमी-प्रेमिका को कमरे में जी भरकर आलिंगन-चुंबन करने के लिये छोड़ दिया' (२७१) अवधजी को सोफ़िया की मा का सादृश्य अमेलिया की मा के साथ स्थापित करना चाहिए था, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया है । उन्होंने मा का काम पिता से लिया है । अर्थात् विनय के पिता कुँअर भरतसिंह संधिसंदेशवाहक का रूप धारण करके सोफ़िया की मा के पास पहुँचते हैं, जो अमेलिया के पिता का काम देती है । अब यह देखना चाहिए कि सोफ़िया की मा और अमेलिया के पिता में क्या अंतर है । जिन्होंने 'रंगभूमि' पढ़ी होगी, वे अच्छी तरह जानते होंगे कि मिसेज़ जान सेवक संकीर्णहृदया, धर्मोन्मादिनी और तीखे स्वभाव-वाली थीं । वह धार्मिक मतभेद होने पर अपनी लड़की को घर तक से निकाल सकती थीं और कुत्सा का यह हाल था कि रानी जाह्नवी-जैसी सहृदया महिला तक उनका हृदय अपने आदर-सत्कार से न जीत सकी थी । वह सोफ़िया के आत्म-हत्या कर लेने पर विक्षिप्त हो गई थी और आए-गयों को 'आड़े हाथों' लिया करती थीं (और इस दृष्टि से तो अवधजी को मिसेज़ सेवक की तुलना मिसेज़ सेडली से करनी चाहिए थी) । मि० सेडली बड़े उदार विचार के थे, अपने अच्छे दिनों में जी खोलकर ख़र्च किया करते थे, अपनी पत्नी और पुत्री को प्राणों से अधिक प्यार करते थे । वह प्रसन्नचित्त थे

और अपने मोटे लड़के का मज़ाक़ उड़ाया करते थे। विपत्ति के दिनों में वह विक्षिप्त नहीं हुए। उन्हें अपनी शोचनीय स्थिति का ज्ञान हो गया। वह बड़े आदमियों को देखते ही नम्रता के साथ बातें करते थे और अपने समृद्धिपूर्ण अतीति की चर्चा करके क्लबवालों की नाक में दम कर देते थे। वह अपने धेवते को बाग़ में खिलाने ले जाते और किसी के पूछने पर उसके मृत सैनिक पिता का बड़े गौरव के साथ परिचय देते थे। (२५—२६, ३१-३२, ३८—४०, ४८, १७२, २२५—२२७, २३८—२४१; दूसरा भाग १६१, १६३—१६७, २४४—२७१, २७३, २७८, ३३६; तीसरा भाग ३६, ६८—६९, ९५, ९६—९९ ।) असह्य विपत्ति का दुर्बल हृदय प्राणियों पर दो प्रकार का प्रभाव पड़ता है। या तो वह इस कोलाहलपूर्ण संसार के दैनिक आनंद या शोक के उत्सवों से उपरामवृत्ति धारण कर लेता है, उनसे अपने को एक विशिष्ट प्रकार का जंतु समझने लगता है, जिसका अवशिष्ट मानवसमाज से कोई सम्पर्क नहीं रहता और वह अपनी स्थिति में ही अकथनीय गर्व की अनुभूति करने लगता है। (कुछ-कुछ सेमुयेल बटलर की तरह *); या फिर उसे अपनी वस्तु-स्थिति का आवश्यकता से अधिक बोध रहता है। वह दूसरों की पदमर्यादा को अपनी स्थिति के तराज़ू पर रखकर तोलता है। वह अपने को अधम, क्षुद्र और पतित समझता है, आत्मगौरव से वंचित एक घृणित, गर्हित प्राणीमात्र! वह अपने से उच्च स्थितिवालों के आदर का भूखा रहता है। विक्टर ह्यूगो के शब्दों में 'तिरस्कृत व्यक्ति आदर का इच्छुक रहता है' (Ignominy wants respect) और दोनों मनोवृत्तियों वाले व्यक्तियों में, प्रेमचंदजी के शब्दों में, दिशाओं का अंतर है। कहना न होगा कि मिसेज़ जान सेवक पहले वर्ग से संबंध रखती थी और मि० सेडली दूसरे वर्ग से।

और इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को थोड़ी देर के लिये जाने दीजिए। 'अमेलिया के पिता उसका विवाह आसबर्न से नहीं करना चाहते थे—इसका अवधजी के पास क्या प्रमाण है। वैनिटी फ़ेयर में तो साफ़-साफ़ लिखा है कि वह इस विवाह-संबंध से नहीं, वर के क्रूर-हृदय पिता वृद्ध आसबर्न से क्रुद्ध थे। इसके अतिरिक्त दोनों की सगाई किसने तोड़ी थी? वृद्ध आसबर्न ने। वह अपने घोर शत्रु को आत्मसमर्पण करने को तैयार न थे। उनकी असहमति कृत्रिम थी, और उनका रोष अस्थायी था। डाबिन को—जो जार्ज आसबर्न का मित्र था, जो दोनों पक्षों में सुलह कराकर विवाह कराना चाहता था, और जिसे अवधजी की रंगभूमि में हम कुँअर भरतसिंह के रूप में देखते हैं—थैकरे के शब्दों में "उतना भय मि० सेडली के रोष का न था, जितना वरपक्ष के पिता का था, और उसे स्वीकार करना पड़ा कि उसे रसेल स्क्वेयर के उस क्रूर वृद्ध व्यापारी के आचरण के विषय में अत्यंत संदेह है। डाबिन ने सोचा कि उन्होंने विवाह का निषेध कर ही दिया है। और वह अच्छी तरह जानता था कि वृद्ध आसबर्न कैसे दृढ़ निश्चय के ज़िद्दी आदमी थे और अपनी बात पर किस बुरी तरह जम जाते थे" (२७१—२७२)।

जब यह शांति-संदेशवाहक मि० सेडली के पास पहुँचा और उसने इस संधि का भूमिकाभास आरंभ किया और उनके भावी जामाता का ज़िक्र उठाया, तो वृद्ध सज्जन ने चिढ़कर कहा, तब क्या वह मुझसे समवेदना प्रकट करता है? (२७७) दुरवस्था में हमें अपने शत्रु की समवेदना से अधिक और कोई वस्तु असह्य नहीं होती। शत्रु सामने आया और हम अपनी निम्नावस्था भूले, हमने मुखमण्डल पर उपेक्षा की मुस्कराहट उत्पन्न की, ऐंठ के साथ गर्दन उठाई और बग़ल से निकल गए। हम ऐसी स्थिति में अवसर ताकते रहते हैं कि किसी प्रकार उसे लांछित और अपमानित करने का अवसर मिले। होश-हवास दुरुस्त होने पर शायद हम उसे अत्यंत कुत्सित कार्य समझते, पर उस समय शत्रु को आघात पहुँचा सकने के सुखकर विचार से हम उन्मत्त हो जाते हैं। अतः जब डाबिन ने उन्हें विश्वास दिलाया कि इस विवाह से रसेल स्क्वेयर के मानी व्यापारी को असह्य आघात पहुँचेगा, तो "अपने शत्रु आसबर्न को ऐसा निर्मम आघात पहुँचाने के विचार से वृद्ध सज्जन को कुछ सांत्वना मिली...उनके मुखमंडल पर संतोष की-सी आभा उदित हो गई।" और अंत में उन्होंने यह कहकर बातचीत समाप्त की कि "भई, तुम लोग बड़े

---

* प्रसिद्ध समालोचक एडवर्ड शैनक्स के शब्दों में सेमुयेल बटलर 'महा घमंडी' (Morbidly Vain) था।

शैतान हो" (२७८) और स्वीकृति मिल गई। और इतने पर अवधजी कहते हैं "ऐसा सादृश्य ! कितना आश्चर्य है !" हम भी उनके स्वर में स्वर मिलाकर कहते हैं— "ऐसा वैषम्य ! कितना आश्चर्य है !"

इसके आगे अवधजी लिखते हैं —'रंगभूमि में सोफ़िया एक ऐसा पत्र लिखती है, जिसे पढ़कर विनय का हृदय विदीर्ण हो जाता है और वे शोक-सागर में डूबने-उतराने लगते हैं ।...इसी प्रकार वैनिटी फ़ेयर में अमेलिया ने भी अपने प्रेमी आसबर्न को इस प्रकार लिखा था ...।' इसके बाद आपने वैनिटी फ़ेयर का पत्र उद्धृत किया है ।

रंगभूमि के २४६ पृष्ठ पर हमें लिखा मिलता है—

"एक दिन इन भावनाओं ने उसे इतना व्याकुल किया कि वह रानी के कमरे में जाकर विनय के पत्रों को पढ़ने लगी ...! देखूँ मेरी ओर कोई संकेत है या नहीं...। विनय के पत्र ऐसी ही वीरकथाओं से भरे हुए थे। सोफ़िया यह हाल पढ़कर विकल हो गई । वह इतनी विपत्ति झेल रहे हैं और मैं यहाँ आराम से पड़ी हूँ । वह इसी उद्वेग में अपने कमरे में आई, और विनय को एक लंबा पत्र लिखा, जिसका एक-एक शब्द प्रेम में डूबा हुआ था। अंत में उसने बड़े प्रेम-विनीत शब्दों में प्रार्थना की कि मुझे अपने पास आने की आज्ञा दीजिए, मैं अब यहाँ नहीं रह सकती।"

अमेलिया का पत्र पारस्परिक संबंधविच्छेद की सूचना है, सोफ़िया का पत्र प्रेम में डूबा हुआ। अमेलिया ने पत्र अपने पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये लिखा था, जिसके जार्ज आसबर्न के पास पहुँचने के समय शायद वह उसके पहले प्रेमपत्रों के पुलिंदों से अपना सिगार सुलगा रहा होगा, या बाज़ियाँ बद रहा होगा, या घूँसेबाज़ी का आनंद ले रहा होगा या निश्चिंत मन से शराब पी रहा होगा। सोफ़िया ने पत्र अपनी स्वतंत्र इच्छा से लिखा, किसी के दबाव से नहीं ? अवधजी का यह कथन ठीक नहीं है कि "इतना ही नहीं, दोनों उपन्यासों में प्रेमिकाओं ने स्वयं ऐसा पत्र नहीं लिखा, किंतु दोनों ही ऐसा करने के लिये विवश की गई थीं।"

केवल घटनाओं के आधार पर ही यदि अवधजी सादृश्य स्थापित करने लगेंगे, तो संसार का कोई विरला ही उपन्यास इस आरोप से बच सकेगा। ऐसा कौन-सा उपन्यास है, जिसमें प्रेमी प्रेमिका को, या प्रेमिका प्रेमी को पत्र नहीं लिखती ? सादृश्य स्थापित करने के लिये यह भी प्रमाणित करना अनिवार्य है कि वस्तुतः दोनों प्रकार के पत्र एक-जैसी परिस्थिति में लिखे गए, एक-जैसे भावों से प्रेरित होकर लिखे गए, और उनका दूसरे पर एक जैसा प्रभाव पड़ा। अन्यथा रेबेका ने राडन को पत्र लिखा था और मिसेज़ ब्यूट ने पिंकरटन को।

एक पत्र में लिखा होता है—'मैं स्वयं इस संबंध को तोड़ देना चाहती हूँ, क्योंकि हम लोगों की दशा बहुत ही बिगड़ गई है और ऐसी दशा में आपसे संबंध नहीं हो सकता, और दूसरा पत्र विनयसिंह से प्रार्थना करता है कि वह उसकी लेखिका को अपने पास आने की आज्ञा दें, क्योंकि वह अब वहाँ नहीं रह सकती।"

एडवर्ड शैंक्स ने अपनी एक पुस्तक की भूमिका में लिखा है—"समालोचक बनने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को मानव-जाति के मनोविज्ञान का अध्ययन करना चाहिए।" और, कोई समझे या न समझे, अवधजी समझ गए होंगे कि इस उद्धरण से हमारा क्या आशय है।

तदनंतर अवधजी ने अमेलिया की समानता सोफ़िया के साथ तनिक स्पष्ट रूप से स्थापित की है, और एक बार नहीं दो बार; और ऐसे-वैसे नहीं, बीजगणितीय समीकरणों की सहायता से, और अंत में सफलतापूर्वक सिद्ध कर दिया है कि अमेलिया का प्रेमी और कोई नहीं है, स्वयं विनय है, जो रंगभूमि में सोफ़िया के प्रेमी का पार्ट खेलता है। पर इतने परिश्रम की तो कोई आवश्यकता न थी। यह तो आप पहले भी अनेक बार कह आए हैं। और शायद इस बीजगणितीय समीकरण से अवधजी का जी भी उकता गया होगा। अब आपने एक नई खोज की है। वैनिटी फ़ेयर में तो वृद्ध आसबर्न और वृद्ध सेडली का कुछ व्यापारिक संबंध था ही— रंगभूमि में भी वही बात है। ऐसा सादृश्य ! कितना आश्चर्य है !

वैनिटी फ़ेयर के १७२ पृष्ठ पर वृद्ध आसबर्न अपने पुत्र को अमेलिया से प्रेम-संबंध तोड़ने की सलाह देते

हुए कहते हैं—"मैं इस बात से इनकार थोड़े ही करता हूँ कि मैं सेडली ही की बदौलत बना हूँ; या यह कहना चाहिए कि इन्होंने मुझे वह रास्ता दिखा दिया जिस पर चलने से अपने बुद्धि-कौशल के प्रताप से मैं बन गया। और मैंने सेडली के प्रति इसकी कृतज्ञता भी दिखा दी है। तुम मेरी चेक-बुक देखो तो पता चले। जार्ज, मैं तुमसे भेद की बात कह देता हूँ, मैं सेडली के व्यापार को विश्वास की दृष्टि से नहीं देखता।...... और जब तक हमें दहेज़ में अमेलिया के साथ दस हज़ार पाउंड न मिले, तुम उसके साथ शादी मत करना। मैं किसी कँगले की लड़की को अपने घर में नहीं घुसेड़ना चाहता।"

अवधजी ने रंगभूमि के जिस स्थान से कुछ अंश उद्धृत किया है, वहीं हमें लिखा मिलता है; "कुँअर साहब सांसारिक पुरुष न थे।...... धूर्तों ने उन्हें मानव-चरित्र का छिद्रान्वेषी बना दिया था।... पर संयम-शीलता जहाँ इतनी सशंक रहती है, वहाँ लाभ का विश्वास होने पर उचित से अधिक निःशंक हो जाती है।... उनकी दृष्टि में जान सेवक अब केवल धन के उपासक न थे, वरन् हितैषी मित्र थे। ऐसा आदमी उन्हें मुग़ालता न दे सकता था। बोले—जब आप इतनी किफ़ायत से काम करेंगे, तो आपका उद्योग अवश्य सफल होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। आपको शायद अभी मालूम न हो, मैंने यहाँ एक सेवा-समिति खोल रक्खी है। कुछ दिनों से यही ख़ब्त सवार है। उसमें इस समय लगभग एक सौ स्वयंसेवक हैं।... मैं चाहता हूँ कि उसे आर्थिक कठिनाइयों से सदा के लिये मुक्त कर दूँ.........। उसके निर्विघ्न संचालन के लिये एक स्थायी कोष की व्यवस्था कर देना चाहता हूँ।... आपके अनुमान में कितने रुपए लगाने से एक हज़ार की मासिक आमदनी हो सकती है?"

"जान सेवक की व्यावसायिक लोलुपता ने अभी उनकी सद्भावनाओं को शिथिल नहीं किया था। जान सेवक ऐसा उत्तर देना चाहते थे, जो स्वार्थ और आत्मा दोनों ही को स्वीकार हो।"

अवधजी लिखते हैं—'जान सेवक ने कुँअर साहब को ख़ूब धोखा देने का प्रयत्न किया है और झूठ-सच बोलकर हिस्से बेचने का प्रयत्न किया है।"

यहाँ पर अवधजी की शतोमुखी विवेचनात्मिका प्रतिभा में वस्तुस्थिति और अतिशयोक्तिपूर्ण और मन-गढ़ंत बातों का कुछ ऐसा विलक्षण सम्मिश्रण हो गया है कि विश्लेषण करते नहीं बनता। इसका सुगम उपाय यह है कि हम हरएक बात को नंबरवार रखते जायँ।

१. वैनिटी फ़ेयर में द्रव्य-लालसा के वशीभूत होकर वर का पिता दस हज़ार पाउंड की इच्छा करता है।

रंगभूमि में वर का पिता पचास हज़ार के हिस्से ख़रीदता है (अर्थात् रुपए देता है, लेता या लेने की आकांक्षा नहीं करता।) इससे भी बड़ी बात यह है कि वह निःस्पृहभाव के साथ स्वयंसेवक-मंडली की आर्थिक समस्या को सुधारने के लिये ऐसा करता है।

२. वैनिटी फ़ेयर का वृद्ध आसबर्न अपने 'प्रतिद्वंद्वी' वृद्ध सेडली को घृणा, कुत्सा और द्वेष की दृष्टि से देखता है। वस्तुतः वह अपने लड़के को उसकी लड़की से संबंध-विच्छेद करने की सलाह (जो आगे चलकर आदेश के रूप में परिवर्तित हो जाती है) देता है।

रंगभूमि के कुँअर भरतसिंह की दृष्टि में उनके 'मित्र और हितचिंतक' जान सेवक (और जान सेडली और जान सेवक, क्या इन दोनों में विलियम डार्विन और विलियम क्लार्क जैसा नाम-सादृश्य नहीं है?—जान सेवक भी लड़की का पिता था और जान सेडली भी!—ऐसा सादृश्य! कैसा आश्चर्य है!) 'अब केवल धन के उपासक न थे, वरन् हितैषी मित्र थे।' कंपनी के हिस्से ख़रीद लेने से दोनों का सौहार्द्र दृढ़तर हुआ और उपन्यास के अंत तक अक्षुण्ण बना रहा, वृद्ध आसबर्न और वृद्ध सेडली की तरह कुत्सा और द्वेष में परिणत नहीं हो गया।

३. हमने भी वैनिटी फ़ेयर को ध्यान से पढ़ा है और हम कह सकते हैं कि आसबर्न और सेडली में व्यावसायिक संबंध किसी प्रकार का न था। ऊपर के उद्धरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। सेडली बाज़ार-भाव का एक दलाल था और आसबर्न एक व्यापारी था। यदि किसी को आर्थिक सहायता देने से व्यापारिक संबंध स्थापित हो जाता है, तो ऐसा अवसर शायद गणितज्ञ अवधजी को भी अनेक बार पड़ा होगा।

हाँ, जान सेवक और कुँअर भरतसिंह का व्यापारिक संबंध भी था।

वैनिटी फ़ेयर और रंगभूमि की एकरूपता का एक और उदाहरण लीजिए। हमारे सहृदय मित्र अवधजी लिखते हैं—"जब आसबर्न का उसके पिता से मनमुटाव हो गया, तब उसके पिता ने उसे धन देना बंद कर दिया। आसबर्न का पिता समझता था कि जब आसबर्न को द्रव्य की आवश्यकता होगी, तब वह अवश्य ही दौड़कर मेरे पास आवेगा। परंतु आसबर्न ने इसकी कुछ भी परवा नहीं की। इसका अंतिम फल यह निकला कि आसबर्न को रुपए माँगने के लिये अपने पिता के यहाँ आने का अवसर नहीं मिला और पुत्र पिता के द्रव्य से वंचित रह गया। इन दिनों आसबर्न और उसके पिता में कोई बातचीत नहीं होती थी। आसबर्न प्रायः घर आता ही न था। परंतु दोनों में लज्जा और ग्लानि के भाव उदय हो गए थे। पिता ने पुत्र को अपना अंतिम निश्चय सुना दिया कि जब तक तुम अपने इस विचार को नहीं बदलोगे, मैं तुम्हें कुछ भी द्रव्य नहीं दे सकता। (और इतने पर भी 'दोनों में लज्जा और ग्लानि के भाव उदय हो गए थे!')

इसके बाद आपने रंगभूमि के ७७२ पृष्ठ का हवाला दिया है, जिसमें वर्णित है कि किस प्रकार विनयसिंह के पाँड़ेपुर के सत्याग्रह में भाग लेने पर सरकार के कोप से भयभीत होकर जान सेवक के परामर्शानुसार कुँअर भरतसिंह ने जायदाद को कोर्ट आफ़ वार्ड्स के सिपुर्द कर दिया था, किस प्रकार वह हुक्काम की हाँ में हाँ मिलाना हेय समझते थे—किंतु किस प्रकार 'हुक्काम की नज़रों में गड़ना, उनके हृदय में खटकना, इस हद तक कि वे शत्रुता पर तत्पर हो जायँ, उन्हें बेवक़ूफ़ी मालूम होती थी—' किस प्रकार वह 'विनय को सीधी राह पर लाने' के लिये चाहते थे कि 'सोफ़िया से उसका विवाह हो जाय—' किस प्रकार उनका दृढ़ विश्वास था कि वे 'इस बेड़ी में जकड़कर उसकी उद्दंडता शांत' कर सकेंगे—किस प्रकार वह इसीलिये जान सेवक और उनकी पत्नी से (जो इस संबंध की घोर शत्रु थीं) मिले और (जैसा कि हम ऊपर लिख चुके हैं) उनकी सलाह से उन्होंने जायदाद कोर्ट्स आफ़ वार्ड्स के क़ब्ज़े में दे देने का निश्चय किया—किस प्रकार उन्होंने प्रत्यक्ष में विनय के लिये कोई व्यवस्था करने में असमर्थ होने के कारण अपनी वृत्ति में से कुछ-न-कुछ देते रहने का निश्चय किया—और इसी लिये किस प्रकार वह अपने एकमात्र उत्तराधिकारी को न्याय स्वत्व से वंचित करते हुए लज्जित होकर उससे आँखें चुराते थे—पर किस प्रकार वह इसके लिये विवश हो गए थे, अन्यथा सरकार के कोप की आशंका थी।

जार्ज आसबर्न के पिता अपने पुत्र का विवाह एक धनी कन्या से कराना चाहते थे। जार्ज आसबर्न असहमत हुआ। ज़िद्दी थे ही, उसे घर से निकाल दिया। जब उन्हें सूचना मिली कि उसने अमेलिया से विवाह कर लिया, तो उन्होंने उसे अपनी संपत्ति से वंचित कर दिया। उन्होंने उसे बड़ी ताकीद कर दी कि वह भविष्य में उनसे किसी प्रकार का संबंध न रक्खे। वह इतने कलुषित और क्रूर हृदय के थे, ऐसे निष्ठुर और निर्मल थे कि पुत्र के युद्ध में मारे जाने पर भी उन्होंने उसे क्षमा नहीं किया; उसकी निराश्रय पत्नी को आश्रय नहीं दिया। वह अपने पुत्र को प्यार करते थे, प्राणों से भी अधिक; "उस पर उन्हें कितना-कितना अभिमान था!" (३२८) पर वह निरंकुश प्रकृति के थे और अपनी इच्छा में किसी का व्याघात न सह सकते थे। वह उसके घोर शत्रु हो जाते थे। चाहे वह स्वयं उनका पुत्र ही क्यों न हो। वैनिटी फ़ेयर के दूसरे भाग के ११५ पृष्ठ पर लिखा मिलता है—'बस, अब मेल की कोई संभावना नहीं थी (उनका पुत्र वाटर लू युद्ध में काम आ चुका था)। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि अब उनके तिरस्कृत और क्रुद्ध गर्व को विनीत शब्दों से सांत्वना देने का साधन नष्ट हो गया था और इस विषाक्त उष्ण रक्तप्रवाह को स्वाभाविक गति पर लाने की कोई संभावना न थी। और यह कहना कठिन है कि इस घमंडी पिता के हृदय को किस प्रकार की वेदना ने व्यथित किया—इतना कि उनका पुत्र अब क्षमा की परिधि से बाहर चला गया था या यह कि जिस क्षमा की उनके गर्व को आशा-प्रतीक्षा थी, वह उनके हाथ से निकल गई।" "वह अपने पुत्र को अब भी प्यार करते थे और अब भी उन्होंने उसे क्षमा नहीं किया था" (दूसरा भाग ११८)।

एक पिता किसी निर्दिष्ट कन्या से अपने पुत्र का विवाह कराने के लिये स्वयं प्रयत्नशील होता है। इससे उसकी उद्दंडता नष्ट हो जायगी और वह बंधन में पड़कर

सरकार के कोप से बच जायगा और अपनी पैतृक संपत्ति का उपभोग करेगा। दूसरा पिता एक निर्दिष्ट कन्या से विवाह न करने का अपने पुत्र को कड़ा आदेश देता है, और उसके आज्ञाभंग करने पर अपनी संपत्ति से उसे वंचित कर देता है, उसे अंत तक क्षमा नहीं करता और उसकी विधवा की शक्ल नहीं देखना चाहता। अंतरम्! महदन्तरम्!! (पर अवधजी कहेंगे 'कैसा सादृश्य है! कितना आश्चर्य है!')

हम पीछे एक स्थान पर दिखा चुके हैं कि अवधजी की सम्मति में 'रानी जाह्नवी का यह कथन' कि उन्होंने विनय को न कभी गद्दों पर सुलाया, न कभी महरियों और दाइयों की गोद में जाने दिया और न कभी मेवे खाने दिए, बड़ा 'अस्वाभाविक मालूम होता है'। पर चूँकि वैनिटी फ़ेयर में इस बात का ज़िक्र है, इसलिये उसी के आधार पर अवधजी की रंगभूमि में भी उसका प्रसंग आया है। अवधजी का विचार है कि अमेलिया के अपने पुत्र को स्नेहाधिक्य के कारण (अवधजी ने लिखा है, 'इतना अधिक प्यार करती थी'; पाठकगण इस मार्मिक वाक्य को भूल न जायँ, आगे इससे काम पड़ेगा) 'किसी दूसरे की गोद में भर सक नहीं जाने' देने के ही 'आधार पर रंगभूमि में उक्त विषय ठूँस दिया गया है, जो' उनकी राय में 'बहुत ही अस्वाभाविक हो गया है'। क्योंकि उन्हें 'विश्वास नहीं होता कि राजकुमार विनय को बाल्यावस्था में कोई मेवा न मिला हो'। हमें भी विश्वास नहीं होता कि उपाध्यायजी ने जान-बूझकर ऐसा अन्याय कर डाला हो। अस्तु।

रंगभूमि के पाठक अच्छी तरह जानते हैं कि रानी जाह्नवी ने विनय को महरियों और दाइयों की गोद में न देकर और मेवों से वंचित रखकर, किस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये कष्टसहिष्णु बनाया था। अतएव उसके संबंध में अधिक कहकर हम अनावश्यक विस्तार नहीं करना चाहते। अब हमें वैनिटी फ़ेयर की अमेलिया और उसके स्नेहपालित पुत्र का वर्णन करना है, जिससे पाठकों को पता लग जायगा कि दोनों के लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा और आचार-व्यवहार में कैसा आकाश-पाताल का अंतर है। [आश्चर्य की बात तो यह है कि अवधजी ने यहाँ अमेलिया के साथ—सोफ़िया की नहीं—(क्योंकि उस अभागी को असमय ही आत्म-हत्या करनी पड़ी थी; और यह बात स्वयं अवधजी की समझ में भी असंभव थी, क्योंकि 'यहाँ तो विनय का विवाह ही नहीं हो पाया है' और 'आसबर्न के पुत्र के पार्ट के अनुसार विनय के पुत्र का वर्णन हो ही नहीं सकता, इसलिये'—पाठकगण इस रसायन-क्रिया को हृदयङ्गम कर लें—'आसबर्न के पुत्र का भी कुछ अंश विनय में ही आना चाहिए') रानी जाह्नवी की अनुरूपता स्थापित की है।]

सहृदय पाठकगण अमेलिया के चरित्रविश्लेषण को देखकर इस बात से पूर्णतः अवगत हो गए होंगे कि वह एक सीधी-सादी भोली-भाली ऐहिक सुखों की इच्छुक बालिका थी, जो एक स्मृति-मात्र को अपने हृदय में पंद्रह-पंद्रह वर्ष तक रखकर उसकी आराधना कर सकती थी, जिसका सारा सुख-आनंद अपने बच्चे के पोषण में केंद्रित था—(और क्या बच्चों का पोषण माताओं के लिये स्वयं एक अनिर्वचनीय—ऐसा जिसकी तुलना केवल दांपत्य-सुलभ सहवास से ही की जानी संभव है, क्योंकि वह भी अपने आनंद की एक निजी सत्ता रखता है—विलास-भावना समुद्भूत सुख नहीं है?) जो बच्चे को उसके धर्मपिता को थोड़ी देर के लिये खिलाने की अनुमति क्या देती, उस पर अपनी अतुल कृपा-वर्षा समझती; जो इस फ़िक्र में लगी रहती कि बच्चे का बालसुलभ स्नेह और किसी की सहानुभूति की ओर आकृष्ट न हो जाय, जो दरिद्र जीवन में आप भूखों रहकर उसे अच्छी-अच्छी चीज़ें खिलाती, आप फटे-पुराने कपड़े पहनकर अपने विवाह के कपड़े काट-छाँटकर उसके लिये तड़क-भड़क के कपड़े तैयार करती, जिसकी भीरुता और वात्सल्य-स्नेह ने बच्चों को अनिवार्यतः हठी, क्रोधी और शासन-प्रिय बना दिया था। (रंगभूमि के १४८ पृष्ठ पर लिखा हुआ है "नित्य कम्बल बिछाकर ज़मीन पर सोता और कंबल ही ओढ़ता है, पैदल चलने में कई बार इनाम पा चुका है। जलपान के लिये मुट्ठी-भर चने, भोजन के लिये रोटी और साग, बस इनके सिवा संसार के और सभी भोज्य पदार्थ इसके लिये वर्जित से हैं।") जो उस लड़के की घोर शत्रु हो जाती, जो नन्हें जार्जी को उँगली छुआता, जो एक बार एक लड़के के साथ उसके द्वंद्वयुद्ध की कथा सुनकर अधमरी-सी

हो गई थी (रंगभूमि के १४६ पृष्ठ पर हम उसकी माता को कहते पाते हैं—"उसे प्राण भी देना पड़े, तो मुझे ज़रा भी शोक न होगा।" ८४१ पृष्ठ पर उसकी माता उसकी आत्महत्या के बाद सोफ़िया को सांत्वना देती है—"क्यों रोती हो बेटी ? विनय के लिये ? वीरों की मृत्यु पर आँसू नहीं बहाए जाते, उत्सव के राग गाए जाते हैं...।" आदि)। कदाचित् एक बात भी ऐसी नहीं है, जिससे हम विनय को जार्जी के समान कह सकें। बीजगणितीय समीकरणों की बात दूसरी है !

आशा है, पाठकों को विनय के पालन-पोषण का ढंग अवधजी की तरह 'बहुत ही अस्वाभाविक' न लगता होगा। जाह्नवी के इसी कथन में उपन्यास के विनय से संबंध रखनेवाले अंशों की मार्मिकता निहित है।

इसके बाद एक बार आपने फिर अपने कथन का प्रतिपादन किया है। आप लिखते हैं कि वैनिटी फ़ेयर का आसबर्न ही रंगभूमि का विनय है और वैनिटी फ़ेयर में आसबर्न की प्रेमिका अमेलिया थी और उसने अपने विवाह के पहले मन में कभी दूसरे पुरुष की कल्पना तक नहीं की, और अमेलिया के माता-पिता एक प्रकार से इस विवाह के विरुद्ध थे (जो अब से कुछ ही देर पहले घोर विरुद्ध थे !) किंतु अमेलिया के मन से आसबर्न कभी दूर नहीं हुआ, और अपने पिता के कहने से अमेलिया ने आसबर्न को एक कड़ा पत्र तो अवश्य लिख दिया, पर उसमें अमेलिया ने अपनी ओर से कड़े शब्दों का नहीं प्रयोग किया। (हृदय में भगवद्भक्ति का उद्रेक हो रहा है) और वह तो आसबर्न से ही अपनी शादी करना चाहती थी।

बस, अवधजी का यह कथन है। अब से कुछ देर पहले अवधजी ने अमेलिया के पत्र के साथ सोफ़ी के पत्र का सादृश्य स्थापित किया था, जिसका विवेचन हम कर आए हैं। अब अवधजी को मालूम हुआ है कि उसमें कोई कड़ा शब्द नहीं था, और वह तो आसबर्न से ही अपनी शादी करना चाहती थी। सोफ़िया ने भी पत्र लिखा था, और कमबख़्त इतने ही से संतुष्ट नहीं हुई। वह विनय को जेल में भी दिक़ करने पहुँच गई और बोली—"अच्छा, अब तैयार हो जाओ।"

अभागे क़ैदी ने सशंकित नेत्रों से ताकते हुए पूछा—"किस बात के लिये।" पर संतोष की बात है कि उन्हें किसी बलिदान के लिये तैयार नहीं किया जा रहा था। बात सिर्फ़ जेल से बाहर हो जाने तक सीमित थी, जिसके एक सप्ताह बाद वह उससे दिल्ली में आ मिलेगी, और फिर विधाता भी उन्हें अलग न कर सकेगा।

यह बोलती-चालती भाषा में डबल सादृश्य कहलाता है !

पर हम अवधजी से विनीत भाव से पूछेंगे कि कहीं वैनिटी फ़ेयर में भी "बौरंगी ऐनी" "छैल आसबर्न" को, मुक्ति का (या मौत का, एक ही-सी बात है) परवाना लेकर, किसी क़ैदख़ाने में गई थी ? अभी तक तो आप केवल वस्तुस्थिति का ही विकृत परिचय देते थे—किसी हद तक क्षंतव्य बात थी—अब आप बेपर की उड़ाने लगे ! हमने भी वैनिटी फ़ेयर पढ़ा है, और एक बार नहीं, कई बार, और ऐसे-वैसे नहीं, निशान लगा-लगाकर पुस्तक का सत्यानाश करके ; पर हमें ऐसी कोई घटना दृष्टिगोचर न हुई। हमारे पास Standard Literature Company, London का इंपीरियल ऐडीशन है। यदि और किसी प्रेस के संस्करण में ऐसी कोई बात हो, तो क्या हम आशा करें कि उपाध्यायजी उसकी सूचना देकर हमें उपकृत करेंगे ?—हम धन्यवाद भी देंगे।

आगे बढ़िए। वैनिटी फ़ेयर में आसबर्न की शादी अमेलिया से हो जाती है और तब दोनों ब्रिसेल्स को जाते हैं। यहाँ दोनों में कुछ मनमुटाव-सा हो जाता है। इस समय यद्यपि वे दोनों एक ही स्थान पर हैं, और सब प्रकार से साथ-ही-साथ रहते हैं, किंतु प्रायः वे मिलते नहीं।...इस समय दोनों का विवाह हो चुका था और दोनों सहवास का आनंद उठा सकते थे। उनके मार्ग में कोई बाधा नहीं थी, 'किंतु वे स्वयं अपने मार्ग के कंटक बने हुए थे'। यह कथन मेरा नहीं, अवधजी का है। इस लेखक में इतना साहस नहीं था कि वास्तविकता की ऐसी घोर हत्या करता। हाँ, तो यह कथन अवधजी से संबंध रखता है।

आगे आप लिखते हैं—"अब यह देखना चाहिए कि 'रंगभूमि' में भी विनय और सोफ़िया की दशा ऐसी कहीं थी, या नहीं। क्या रंगभूमि में कहीं दोनों स्वाधीन

होने पर भी एक दूसरे से नहीं मिलते थे।" हम पाठकों को विश्वास दिला देना चाहते हैं कि 'रंगभूमि' में विनय और सोफ़िया की दशा ऐसी कहीं नहीं थी, दोनों ख़ूब ज़ोर-शोर के साथ मिलते थे और दोनों में किसी प्रकार का मनमुटाव नहीं था। पर जिस कुत्सित मिलन की ओर विवेचक महोदय का निर्देश है, वह दोनों में असंभव था; क्यों?—सामाजिक बंधनों के कारण। क्या उपाध्यायजी की दृष्टि में उनका कोई महत्त्व नहीं है, और क्या उन्हें सोफ़िया को रेबेका की भाँति विनय को लार्ड स्टेइन बनाकर भ्रष्ट जीवन बिताते देखकर संतोष होता? अमेलिया और जार्ज में मनमुटाव था, क्यों?—जार्ज रेबेका के पीछे लगा फिरता था, रातों घर न आता था, शराबख़ोरी करता था, जुआ खेलता था। पर यह अवधजी को कैसे ज्ञात हुआ कि दोनों सहवास का आनंद न उठा सके और कोई बाधा न होने पर भी अपने मार्ग के कंटक स्वयं बने रहे? आप तो अभी-अभी जार्ज और अमेलिया के पुत्र की तुलना विनय से कर आए हैं?

वास्तव में वैनिटी फ़ेयर में इस बात का ज़िक्र तक नहीं है। सीधी-सादी बात वह थी जो हम ऊपर लिख आए हैं, जब कि विनय और सोफ़ी का परस्पर संसर्ग-विषयक संयम सोफ़ी की दृष्टि में अपने लिये नहीं, विनय के लिये आवश्यक था। वह ऐसा कोई कर्म करने को तैयार न थी, जिससे विनय का अपमान, उसकी अप्रतिष्ठा अथवा उसकी निंदा हो। उसकी समझ से आत्मिक मिलाप के लिये कोई बाधा नहीं होती; पर सामाजिक संस्कारों के लिये अपने संबंधियों और समाज के नियमों की स्वीकृति अनिवार्य थी, 'अन्यथा वे लज्जास्पद हो जाते हैं।' और यदि सोफ़ी ऐसा कोई असंयत कर्म कर बैठती, तो शायद अवधजी ही सबसे पहले उसकी रेबेका के साथ तुलना करते! (पर संतोष की बात है कि अब ऐसे भय का कोई कारण नहीं है।)

इसके बाद अवधजी ने एक लंबे-चौड़े प्रकरण में कुछ अजीब गुल खिलाए हैं। आप कहते हैं कि वैनिटी फ़ेयर में आसबर्न की मृत्यु हुई, सो भी लड़ाई में; रंगभूमि में भी विनय की मृत्यु हुई, और लड़ाई में हुई (शायद आत्मघात और युद्ध-संबंधी मृत्यु में अवधजी के निकट कोई भेद नहीं है—क्या आत्मघाती मनुष्य को अपनी हत्या करने से पहले, अंतर्द्वंद्व का सामना नहीं करना पड़ता?) आसबर्न की स्मृति में गिरजे में एक स्मारक पाषाण खड़ा किया गया, जिसे देखकर उसकी बहनें अपने हृदयावेश को न रोक सकीं और रोने लगीं, विनय की आत्महत्या के बाद सोफ़िया उसे देखने के लिये चल पड़ी; पर शोकातिरेक के वशीभूत होकर मार्ग में एक मील के पत्थर पर बैठकर बिसूर-बिसूर कर रोने लगी (पर आपकी सम्मति में गिरजेवाला पाषाणचिह्न उपयुक्त है और मीलवाला अनुपयुक्त; साथ ही आपकी राय में सोफ़िया का वहाँ बैठना असमयोचित था और इसे मार्ग में रुकने की कोई आवश्यकता नहीं थी, और हम इसके उत्तर में उन्हें एक बार फिर ऐडवर्ड शैंक्स के कथन की याद दिलाना ही पर्याप्त समझते हैं और आगे बढ़ते हैं); दोनों पुस्तकों में युद्धों के अवसर पर दोनों नायिकाएँ समरस्थली से दूर रहती हैं;—वैनिटी फ़ेयर में अमेलिया वाटरलू से १४-१५ मील दूर रहती है और रंगभूमि में सोफ़िया पांडेपुर से एक-आध मील, और यदि सोफ़िया समरस्थली में ही उपस्थित रहती, तो भी यदि १४-१५ की दूरी से एक-आध मील की दूरी का परिमाण सादृश्य के रूप में परिवर्तित हो सकता है, तो एक-आध इंच या एक-आध फ़ीट का भी क्यों नहीं?—इस सर्वसम्मत नियम की व्यापकता में किसी को संदेह ही क्या हो सकता है?—और इसीलिये हम उपाध्यायजी से प्रार्थना करेंगे कि आपने उदयपुरवाले 'वाटरलू' में सोफ़िया की उपस्थिति की चर्चा नाहक़ छोड़ दी। उपर्युक्त नियम से बीजगणितीय समीकरणों की सहायता से दोनों का सादृश्य बड़ी सुविधा के साथ स्थापित हो सकता है—हाँ, अपने विषय पर आना चाहिए (और यदि पाठकों को अप्रासंगिक बातें अरोचक मालूम हों, तो वे उन्हें न पढ़ें); वृद्ध आसबर्न अपने पुत्र की मृत्यु पर शोक करते हैं, सोफ़िया भी शोक करती है। (यहाँ उसने विनय के पिता का परिधान पहन लिया था, जिस प्रकार वह, आसबर्न की बहनों की नाईं, मील के पत्थर पर बैठते समय, विनय की बहन के रूप में परिवर्तित हो गई थी—पर इतनी कृपणता की तो कोई आवश्यकता न थी, क्या विनय के पिता भरतसिंह को शोक न हुआ होगा?—और क्या आसबर्न की बहनों का पार्ट खेलने के लिये विनय की बहन

इंदु मौजूद नहीं थी ?) वृद्ध आसबर्न अपने पुत्र की मृत्यु का कारण अपने-आपको समझते हैं, और सोफ़िया भी पत्थर पर बैठी-बैठी (अर्थात् इंदु के रूप में) विनय की हत्या का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेती है। (कुँअर भरतसिंह का कलेवर पहने ! ऐं न ?—अर्थात् इस समय वह सोफ़िया, इंदु, कुँअर भरतसिंह तीनों का मिश्रित मातम मनाने का महत्त्वपूर्ण भार अपने ऊपर लेती है ! उस समय बेचारी के जी में रह-रहकर ये भाव उठ रहे होंगे—

मेरी क़िस्मत में ग़म गर इतना था ;
दिल भी या रब कई दिये होते ।

और हम नन्हीं-सी सोफ़ी की इस असहायावस्था में हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं। (हे भगवान्, इस रहस्यवाद की जटिल समस्या को यह जड़जीव किस तरह हल कर सकेगा !)

एक और बात है। जिस प्रकार दूरी या नैकट्य के न्यूनाधिक परिमाण परस्पर सादृश्य स्थापित करने में कोई व्याघात उपस्थित नहीं करते (या नहीं कर सकते, एक ही बात है), उसी प्रकार यदि घंटों, दिनों या महीनों का अपेक्षाकृत अंतर परस्पर एकरूपता स्थापित करने में कोई बाधा न दे सके, तो पाठकों को विस्मय-आश्चर्य से मुँह बाने का क्या अवसर हो सकता है ? वाटरलू युद्ध की रात्रि को अमेलिया जागी (प्रेम की किस अवस्था में अथवा प्रणय की किस श्रेणी पर ?—सो नगण्य-सी बात है । वास्तव में वह युद्ध-यात्रा की सूचना से पूर्णतः अनभिज्ञ थी और अपने पति को रेबेका के साथ प्रेमालाप करते देखकर अन्य सब स्त्रियों की भाँति मूक वेदना के साथ पलँग पर आ पड़ी थी) इसलिये नहीं कि आसबर्न युद्ध में जा रहा है, बल्कि उसको नाच से वापसी की प्रतीक्षा में। सोफ़ी भी जागी—विनय उदयपुर को रवाना हो गया—इसके सात-आठ महीने बाद सोफ़िया भी वहाँ जा पहुँची—(और आसबर्न बिदा के कुछ ही घंटों बाद गोली का शिकार हो गया था) ।—उसके बाद एक दंगा हुआ, जिसमें सोफ़िया और विनय दोनों मौजूद थे—फिर एक वर्ष तक विनय सोफ़िया को डाकुओं के पंजे से छुड़ाने की चेष्टा करता रहा—फिर दोनों एक वर्ष तक भीलों के गाँव में रहे—फिर कई महीने तक दोनों बनारस में साथ-साथ रहे—उसके बाद सोफ़िया स्वयं उसे पांडेपुर के संघर्ष में सम्मिलित करने का कारण बनी—और तब कहीं जाकर विनय के प्राण निकले अर्थात् 'युद्धयात्रा'—(यदि उदयपुर-गमन को युद्धयात्रा कहा जा सकता हो तो—) की रात को जागने के तीन साढ़े तीन वर्ष बाद ! ऐसा अवधजी का बीज-गणितीय एकीकरण ! 'आप तो गणितज्ञ ठहरे, आपको इन बंधनों की क्या चिंता !' (पर अवधजी इस वाक्य से मुझ पर नाराज़ न हों, यह प्रेमचंदजी की सम्मति है)

हम अवधजी के आरोपों का अपने ब्रैकटों की सहायता से साथ-ही-साथ उत्तर भी देते चले आए हैं, और शायद वे पर्याप्त होंगे। फिर भी हम अपने सहृदय पाठकों के पूर्ण संतोष के लिये कुछ अधिक स्पष्टता से काम लेना चाहते हैं।

१. अमेलिया युद्धयात्रा की रात्रि को युद्ध की चिंता से नहीं, किंतु स्त्री-सुलभ सौतिया डाह से जागी थी; जब सोफ़िया प्रेम के प्रारंभिक स्टेज में वियोग होने की असह्य वेदना से जागती रही थी।

२. आसबर्न यात्रा के थोड़े ही घंटों बाद मारा गया था, जब कि विनय तीन साढ़े तीन वर्षों तक सकुशल रहा था और अंत में अपने ही हाथों प्राणघात करके मरा था।

३. आसबर्न के पिता के शोकोद्रेक और सोफ़िया के शोकोद्रेक में कोई समता स्थापित नहीं की जा सकती। वह अपने पुत्र को अब भी प्यार करते थे और अब भी उन्होंने उसे क्षमा नहीं किया था (वैनिटी फ़ेयर, दूसरा भाग ११८)। 'उसे इस समय प्रबल आकांक्षा हुई कि वहाँ जाते ही मैं भी उनके चरणों पर गिरकर प्राण त्याग दूँ ।............... मैंने अपने जीवन को नष्ट कर दिया, ऐसे नररत्न को धर्म की पैशाचिक क्रूरता पर बलिदान कर दिया' (रंगभूमि ८९८)।

४. आसबर्न की बहनों को अपने मृत भाई का स्मारक देखकर, उसकी मृत्यु के कई महीने बाद, पुनः ताज़ी हो आई। अर्थात् उस स्मृति के जागृत करने का एक-मात्र कारण वह स्मारक पत्थर था। सोफ़ी के शोकोद्रेक से उस मील के पत्थर का कोई संबंध न था। वह हृदयावेग को दमन न कर सकी। उसके हृदय में भाव

उठ रहे थे—'वहाँ कैसे जाऊँ ? कैसे उन्हें स्पर्श करूँगी ? उनकी मरणावस्था का चित्र उसकी आँखों के सामने खिंच गया। उनकी मृत देह रक्त और धूल में लिपटी हुई भूमि पर पड़ी हुई थी। इसे उसने जागते देखा था। उसे इस जीर्णावस्था में वह कैसे देख सकेगी ?' (कैसा स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी चित्रण है।)

५. आसबर्न की मृत्यु का समाचार किसने सुनाया, यह कहीं कुछ नहीं लिखा हुआ है। वाटरलू-युद्ध से वापस आते हुए सैनिकों में से किसी ने कह दिया होगा। सोफ़िया को यह समाचार नायक राम-नामक एक विशिष्ट व्यक्ति ने सुनाया।

६. वाटरलू-युद्ध और पांडेपुर के सत्याग्रह की कोई तुलना नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त आसबर्न युद्ध करता हुआ दूसरों के हाथों मारा गया, जब कि विनय सैनिकों और जनसाधारण के पारस्परिक भीषण संघर्ष के प्रतिरोध के प्रयत्न में अपने हाथों !

आशा है, इतने से पाठकों की संशय-निवृत्ति हो जायगी।

रुद्रनारायण अग्रवाल

उषा का आह्वान

१

होकर सचेत आँख खोलकर देखा जब,
नीरव निशा में तो निराशा ही नवीन थी;
मंद था मयंक मुख रश्मि-राशियों से हीन,
दीन-सी कुमोदिनी थी, कौमुदी मलीन थी।
क्रांति लय-कारी "बनवारी" चारों ओर थी, न—
शोर करती हुई चकोरी रसलीन थी;
क्षीण था निपट रजनी का मुकता का पट,
फट कर प्राची, ज्योति-राशि में विलीन थी।

२

शीतल-सुगंधयुत मंद था समीर और
दिव्य था दिगंत आसमान भासमान था;
कली में विकास था फलों में परिपाक था,
अवाक् चक्रवाक में सुयोग का विधान था।
विहँग-बिहान था प्रकृति-मुसकान और—
उदित उद्यान था, अपूर्व अलि-गान था;
मनोमुग्धकारी 'बनवारी' अवधान था या—
मंगल-निधान यह उषा का आह्वान था।

बनवारीलाल

वेतन में न्यूनता
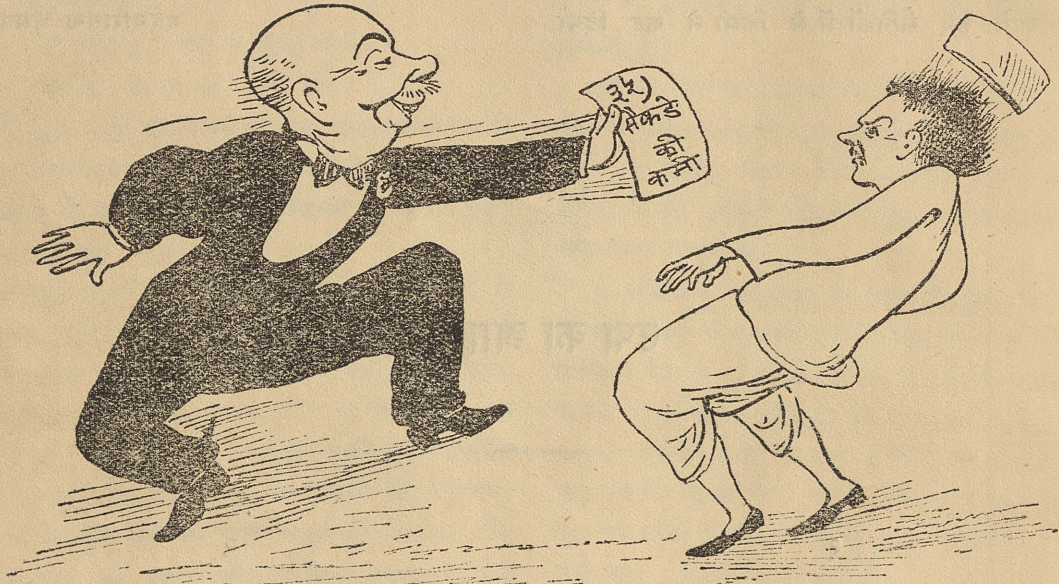
मिलन

प्रकाश अपने मा-बाप का अकेला लड़का था। जिस साल उसने लखनऊ-विश्वविद्यालय से बी० ए० पास किया, उसके माता-पिता के आनंद की सीमा न रही। प्रकाश ही उनकी अभिलाषाओं का केंद्र था। वे उसी का मुँह देखकर जीते थे। उनकी वृद्धावस्था में प्रकाश ही उनका जीवनसर्वस्व था। प्रकाश के पिता बाबू शिवसहाय, मेरठ के प्रसिद्ध वकीलों में गिने जाते थे। शहर में उनकी अच्छी ख्याति थी। ईश्वर की कृपा से उन्होंने यश एवं प्रतिष्ठा के साथ धनोपार्जन भी ख़ूब किया था। उनकी हार्दिक इच्छा यह थी कि प्रकाश भी उन्हीं की तरह वकालत पास करके मेरठ में ही प्रैक्टिस शुरू करें।

गरमी की छुट्टियाँ आरंभ हो गई थीं। प्रकाश घर आया। संध्या को वह कहीं घूमने जाने के विचार में था। उसकी छोटी बहन मुन्नी ने आकर बड़े प्यार से उसका हाथ पकड़कर कहा—"भैया, मैं भी चलूँगी।" प्रकाश ने उसे गोद में उठाकर कहा—"अवश्य—तुझे आज कंपनीबाग़ घुमाने अवश्य ले चलूँगा।" मुन्नी खिल-खिलाकर उसके गले से लिपट गई। प्रकाश का हृदय भ्रातृ-स्नेह से विकसित हो उठा। मुन्नी की आँखें प्रसन्नता से चमक उठीं, उसने कहा—"भैया, तो मैं कपड़े पहन आऊँ"। उत्तर की प्रतीक्षा न कर वह भाई की गोद से कूदकर भीतर चली गई। प्रकाश थोड़ी देर तक घर की ओर देखता रहा। फिर बोला—भगवन्! तुमने शैशव को ही मानवजीवन में सर्वोत्तम बनाया है, जिसमें पवित्रता, सुख, अज्ञानता और कौतुक का प्रेमरूप में अद्वितीय सम्मिश्रण रहता है।

× × ×

मुन्नी का हाथ पकड़े हुए प्रकाश धीरे-धीरे कंपनीबाग़ की रविशों पर टहल रहा था। मुँह से कुछ गुनगुनाता भी जाता था। फूलों से निकलती हुई भीनी-भीनी सुगंध चित्त को प्रसन्न कर रही थी। बाग़ के किनारे-किनारे मोरपंखी के वृक्ष लगे थे। उनका स्पर्श करके ठंढी-ठंढी हवा चल रही थी। सामने गुलाब के फूल पर एक रंगबिरंगी तितली आकर बैठी। मुन्नी उसे देखते ही पकड़ने दौड़ी। तितली एक फूल से उड़कर दूसरे पर जा बैठी, मुन्नी ने वहाँ भी उसका पीछा न छोड़ा। उसने तितली को पकड़ने के लिये सैकड़ों प्रयत्न किए, किंतु वह हाथ न आई। प्रकाश मुन्नी की चेष्टाओं को देख रहा था और मन-ही-मन हँसता जाता था। तितली गुलाब की क्यारी छोड़कर उड़ चली। मुन्नी चिल्लाती हुई उसके पीछे दौड़ी—"भैया, मैं इसे लूँगी"। प्रकाश ने रोका, किंतु मुन्नी तितली के पीछे पागल हो रही थी। लाचार वह भी बहन के पीछे-पीछे चला। तितली जाकर एक चंपा के फूल पर मँडराने लगी। मुन्नी बराबर उसके पीछे दौड़ती चली जा रही थी। उसका ध्यान तितली पर था। राह में एक पत्थर से ठोकर खाकर वह गिर पड़ी और रोती-रोती बोली—"तितली, तितली"। प्रकाश ने मुन्नी को गिरते देखा। वह कुछ पीछे था। वह तेज़ी से आगे बढ़ा ही था, किंतु उसके वहाँ तक पहुँचने के पहले ही दो कोमल हाथों ने मुन्नी को उठा लिया था। प्रकाश अवाक् रह गया। एक षोडशी बालिका मुन्नी को गोद में लिए बड़े प्रेम से उसके कपड़ों की धूल झाड़ रही थी। मुन्नी को सिर में हलकी-सी चोट आ गई थी। प्रकाश ने फ़ौवारे के जल में अपना रूमाल भिगोकर आहत स्थल पर बाँध दिया। इसके बाद उसने अत्यंत कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि से बालिका की ओर देखा। बालिका भी उसकी ओर निर्निमेष नेत्रों से देख रही थी। दोनों की आँखें चार हुईं। बालिका लजाकर नीचे की ओर देखने लगी। संध्या के समय अस्त होते हुए सूर्य की आभा उसके मुखमंडल पर पड़कर उसे भी अपने समान प्रदीप्त बनाने की चेष्टा कर रही थी। उसके शुभ्र ललाट पर स्वेदकण झलक रहे थे। बालिका एक पारसी साड़ी पहने थी। यद्यपि वह असाधारण सुन्दरी न थी, तो भी सुशीलता, सरलता और सहृदयता की मनोरम मूर्ति-सी ज्ञात होती थी। प्रकाश ने मुन्नी को अपनी गोद में उठाकर कुछ

हिचकते हुए कहा—"देवि ! मैं आपकी इस कृपा का धन्यवाद देने में असमर्थ हूँ। मैं आपका चिर-ऋणी रहूँगा"। बालिका ने कुछ उत्तर न दिया, किंतु उसके नेत्र उसके मनोगत भावों को प्रकट कर रहे थे। केवल एक बार उसने अपनी शर्मीली आँखों से प्रकाश की ओर देखा। फिर सिर नीचा किए हुए शीघ्रता से एक ओर चली गई। प्रकाश ने देखा—थोड़ी दूर पर एक पालकी-गाड़ी खड़ी थी, बालिका अपनी दासी के साथ जाकर उस पर बैठ गई। क्षण-भर बाद गाड़ी कंपनीबाग़ पार करके सिविल लाइंस की ओर जाती हुई दिखाई दी। प्रकाश ने एक ठंडी साँस ली। मुन्नी को लेकर फिर घर को चल दिया।

× × ×

प्रकाश अपने कमरे में एक आरामकुर्सी पर आँखें बंद किए पड़ा था। मेज़ पर लैंप जल रहा था। उसके सामने एक किताब खुली पड़ी थी, वह किसी गंभीर चिंता में निमग्न था। पिछले दिन की घटना ने उसके चित्त पर बड़ा प्रभाव डाला था। वह भी उसके जीवन का एक नया पृष्ठ था। उसके मुँह पर निराशा की झलक प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रही थी। वह कुछ सोच रहा था। इतने में नीचे सड़क के ऊपर से किसी के गाने की आवाज़ आई—"सबै दिन नाहिं बराबर जात"। इस गाने में स्वर न था, लालित्य न था, रस न था; किंतु न जाने क्यों प्रकाश इसे सुनकर चौंक पड़ा। उसने खिड़की से झाँककर नीचे देखा। एक भिखमंगा सड़क पर गाता चला जा रहा था। रात्रि की निस्तब्धता में उसका गीत कोने-कोने से प्रतिध्वनित होकर गूँज रहा था। प्रकाश कुछ देर तक खड़ा सुनता रहा। इसके पश्चात् लौटकर फिर कुर्सी पर लेट रहा। घड़ी की ओर दृष्टि डाली, साढ़े ग्यारह बज चुका था। रात्रि का द्वितीय प्रहर था, किंतु प्रकाश की विचित्र दशा थी। उसकी आँखों में नींद न थी। मेज़ से किताब उठाकर दो-चार पृष्ठ उलटे। उसे भी एक ओर रख दिया, लैंप बुझाकर बाहर छत पर आया। रात्रिकालीन, शीतल और मंद वायु की अपूर्व बहार थी।

आकाश में असंख्य तारिकाओं के मध्य में दिव्य लावण्य-युक्त पूर्ण शशधर विराजमान थे। ज्योत्स्ना से पृथ्वी प्रसन्न हो रही थी। प्रकाश ने ऊपर की ओर देखकर ठंडी साँस ली। सुनील स्वच्छ आकाश में तारों की अवर्णनीय शोभा थी। उसमें प्रकाश ने किसी हृदयांकित मूर्ति का पूर्ण आभास देखा। उसके मन में बड़ी व्यथा थी। यद्यपि वह मानसिक आवेगों को यथासाध्य गुप्त रखने का प्रयत्न कर रहा था, तो भी उसके चेहरे का चढ़ाव-उतार उसके आंतरिक भावों को प्रदर्शित करता था। जिस दिन अपरिचित बालिका से कंपनीबाग़ में साक्षात् हुआ, उसी दिन से प्रकाश की जीवनचर्या में अपूर्व परिवर्तन होने लगा। बालिका के रूप-गुण-माधुर्य एवं सलज्ज व्यवहार ने उसके हृदय पर अधिकार कर लिया। उसी लावण्यमयी मूर्ति को प्रकाश ने अपने हृदयमंदिर में स्थापित किया। पवित्र प्रेम का भी सौंदर्य अपूर्व होता है। प्रकाश प्रतिदिन कंपनीबाग़ जाता, परंतु फिर उस अनुपम प्रभा के दर्शनों से वंचित लौट आता। उसी आराध्य देवी के चिंतन में प्रकाश के दिन बीतने लगे। बालिका के परिचय से वह सर्वथा अनभिज्ञ था, पर वह अपने हृदय से उस मूर्ति का ध्यान न त्याग सका।

प्रकाश थोड़ी देर तक छत पर टहलता रहा। फिर आप-ही-आप बोल उठा—"भगवन्, तुमने इस जगत् में स्मृति और वियोग दोनों की सृष्टि की है, फिर क्या कारण है, जो एक को ही प्रधानता देकर दूसरे को उससे विमुख रखते हो? क्या तुम्हारे समदर्शी होने का यही प्रमाण है?"

× × ×

"विनोद, तुम लखनऊ से कब आए?"—प्रकाश ने पूछा।

"कल शाम की ट्रेन से।"

"और कोई आया है?"

"कोई नहीं, केवल मैं ही आया हूँ, बनारस जाने का विचार था, किंतु तुम्हारे भी कुछ समाचार न मिले थे, सोचा, तुमसे भी भेंट कर लूँ।"

"तो अभी दो-चार दिन तो रहोगे ही, संभवतः मैं भी तुम्हारे साथ बनारस चलूँ।"

"हाँ, परसों रात की गाड़ी से जाने का विचार है।"

विनोद प्रकाश का सहपाठी था। दोनों अभिन्नहृदय मित्र थे। विनोद लखनऊ में ही रहता था। उसके पिता सेक्रेटरी के दफ़्तर में काम करते थे। गर्मी की छुट्टियों में विनोद अपनी फूफी के पास बनारस जा रहा था। प्रकाश से मिलने वह मेरठ आया था।

"इतने शीघ्र चले जाओगे ?"—प्रकाश ने कहा—"अभी दो-चार दिन तो ठहरो।"

"नहीं प्रकाश, मुझे बनारस जाना ही पड़ेगा। बड़ा आवश्यक कार्य है। अगर तुम भी चलो, तो बड़ा अच्छा रहे।"

"यदि तुम परसों न जाकर दो दिन बाद चलो, तो मैं भी तुम्हारे साथ चलूँ। बनारस देखने की मेरी भी बड़ी इच्छा है। परसों पिताजी आ जायँगे। उनसे आज्ञा लेना आवश्यक है।"

"अच्छा—जो तुम चलने को कहो, तो मैं दो दिन और ठहर जाऊँगा।"

"तो ठीक हो गया ?"

"हाँ, बिलकुल ठीक।"

"प्रकाश, भाई अब बिदा दो तो, चलूँ। कल सबेरे फिर भेंट होगी।"

"नहीं विनोद, ठहरो कुछ जलपान तो कर लो, तब जाना।" "मुन्नी मुन्नी"—प्रकाश ने पुकारा।

"आई भैया"—कहती हुई मुन्नी कमरे में आ खड़ी हुई।

"जाओ, कुछ जलपान के लिये ले आओ।"

मुन्नी चली गई—थोड़ी देर बाद एक चाँदी की तश्तरी में कुछ मिठाई ले आई। दोनों मित्र खाने बैठे। प्रकाश बोला—"विनोद, तो बनारस में ठहरने का क्या प्रबंध किया जाय ?"

"क्यों ? जहाँ मैं ठहरूँगा, वहीं तुम भी रहना। स्थान खोजने की आवश्यकता ?"

"किंतु मेरा विचार गंगाजी के तट पर किसी रमणीय स्थान में ठहरने का था ?"

"फिर कोई और स्थान ठीक करो। मैं तुम्हारे साथ ही ठहरूँगा।"

"श्याम बाबू मेरे पिता के बड़े मित्र हैं। उनकी एक कोठी बनारस में दशाश्वमेधघाट पर है। पिता से कहूँ, तो वहाँ ठहरने का प्रबंध हो जाय। अच्छा स्थान है।"

"यदि वहाँ रहने का प्रबंध हो सके, तो फिर कहना ही क्या है।"—हाथ धोते-धोते विनोद ने कहा।

"अवश्य। पिताजी को आने दो, उनसे कहूँगा। वह श्याम बाबू को पत्र लिख देंगे। सब काम हो जायगा।"

"अच्छा प्रकाश, तो यह काम तुम्हारे ज़िम्मे रहा। अब इस समय मैं चलता हूँ। कल सबेरे आऊँगा, तब और बातें होंगी। प्रणाम।"

"प्रणाम भाई।"

विनोद चला गया।

× × ×

बनारस पहुँचकर दोनों मित्र श्याम बाबू की हवेली में ठहरे। गंगा का किनारा निकट होने के कारण वह स्थान बहुत ही रमणीक था। हवेली के सामने एक छोटा-सा बग़ीचा था, जिसने उस स्थान की शोभा दुगनी रक्खी कर थी।

प्रातःकाल गंगास्नान के उपरांत शहर घूमने की ठहरी। विनोद तो अपनी फूफी के यहाँ चला गया। प्रकाश ने एक ताँगा किराए पर करके शहर की राह ली। अनेक देवमंदिरों का दर्शन करने के पश्चात् छावनी के निकट आकर उसने ताँगेवाले को बिदा किया और पैदल ही एक ओर चल पड़ा। दिन चढ़ रहा था। क्रमशः धूप तेज़ होती जाती थी, किंतु प्रकाश किसी धुन में मस्त चला जा रहा था। वह कितनी दूर निकल आया, इसका उसे किंचित् ज्ञान न रहा। अकस्मात् अपने पीछे आती हुई मोटर का हार्न सुनकर वह चौंक पड़ा। उसने ज्यों ही चाहा कि रास्ते से हटकर फ़ुटपाथ पर हो रहे, त्यों ही उसे मोटर का धक्का लगा और वह सड़क पर गिरकर बेहोश हो गया। मोटर भों-भों करती हुई उसके ऊपर से निकल गई।

× × ×

जब प्रकाश होश में आया, तो उसने अपने को अस्पताल के कमरे में एक पलँग पर पाया। आहत स्थान से रक्त अधिक निकल जाने के कारण उसका सिर चक्कर खा रहा था। निर्बलता के लक्षण स्पष्ट थे। उसने अपने को एक अपरिचित स्थान में पाकर आश्चर्य से इधर-उधर दृष्टि डाली। देखा, सामने कुर्सी पर एक नर्स बैठी हुई किताब पढ़ रही है। प्रकाश ने अपने सिर पर हाथ रक्खा, तो ज्ञात हुआ कि पट्टी बँधी हुई है। एक-एक करके पहले की सब घटनाएँ उसके ध्यान में आ गईं। उसने कुछ बोलने की चेष्टा की, परंतु निर्बलता के कारण मुँह से शब्द न निकला। नर्स ने उठकर एक मात्रा ओषधि प्रकाश के मुँह में टपका दी।

प्रकाश को कुछ चेतनता आई। उसने दाहनी ओर करवट लेते हुए अति क्षीण स्वर में पूछा—"मिस, मैं कहाँ हूँ ?"

नर्स ने कहा—"महाशय, आप सिविल हास्पिटल में हैं। कहिए, कुछ कष्ट तो नहीं है ?"

प्रकाश ने उसकी बात सुनी-अनसुनी करके फिर पूछा—"मुझे यहाँ कौन लाया ?"

"महाशय, आप मोटर के नीचे आ गए थे। आपके सिर में बड़ी चोट लगी है। यहाँ एक लेडी, आपको दाख़िल करा गई है।"

"क्या आप उनका नाम बता सकती हैं ?"

"नहीं, मुझे उनका नाम तो नहीं मालूम। शायद अस्पताल के रजिस्टर पर हो। बतलाइए आपको तकलीफ़ तो नहीं हो रही है।"

प्रकाश ने फिर कुछ अन्यमनस्क भाव से कहा—"मैं कितने समय से यहाँ हूँ ?"

"आपको हास्पिटल में दाख़िल हुए आज तीसरा दिन है। लगभग साठ घंटे के बाद आपकी बेहोशी दूर हुई है। कहिए, सिर में दर्द तो नहीं है ?"

"नहीं, अब अच्छा हूँ। केवल थोड़ी कमज़ोरी मालूम होती है।"

नर्स उठकर चली गई। प्रकाश फिर बिछौने पर करवटें बदलने लगा।

× × ×

संध्या के समय प्रकाश बरामदे में आरामकुर्सी पर लेटा हुआ "पायोनियर" पढ़ रहा था। अस्पताल के नौकर ने आकर कहा—"बाबूजी, एक मिस साहब आपसे मिलना चाहती हैं—वही हैं, जो उस दिन आपको अपनी गाड़ी पर लाकर अस्पताल में दाख़िल करा गई थीं। बड़े साहब से अभी इजाज़त लेकर आई हैं।"

"तुम उन्हें पहचानते हो ? क्या वही मुझे यहाँ लेकर आई थीं ?"—प्रकाश ने पूछा।

"हुज़ूर की बात—मैंने उन्हें अच्छी तरह पहचाना है। वही आपको यहाँ लाई थीं।"

"जाओ, भेज दो।"

नौकर ने एक कुर्सी लाकर रख दी। फिर बाहर चला गया।

थोड़ी देर बाद एक युवती ने आकर प्रकाश को प्रणाम किया। युवती की वेष-भूषा साधारण थी, तो भी वह अपूर्व सुंदरी ज्ञात होती थी। उसके शरीर पर गुलाबी रंग की बनारसी साड़ी बड़ी भली मालूम देती थी। चाल-ढाल से वह किसी भले घर की लड़की जान पड़ती थी। प्रकाश ने उसके प्रणाम का उत्तर देकर अख़बार नीचे डालते हुए कहा—"बैठिए।"

वह कुर्सी पर बैठ गई। फिर पूछा—"अब आप कैसे हैं ?"

"अच्छा हूँ।"—प्रकाश ने कुछ लजाते हुए उत्तर दिया।

"यहाँ किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं है ?"

"नहीं, कष्ट तो कोई नहीं है; परंतु घर के कुछ समाचार नहीं मिले हैं ?"

"आपका निवासस्थान कहाँ है ?"

"मेरठ।"

"मेरठ !"—युवती ने बड़े आश्चर्य में कहा। प्रकाश ने अकचका कर उसके मुँह की ओर देखा। चेहरा कुछ परिचित-सा ज्ञात हुआ। वही बड़ी-बड़ी लजीली आँखें थीं—शुभ्र ललाट, हँसता हुआ फूल-सा मुखमण्डल। प्रकाश के मुँह से बात न निकली। अस्फुट स्वर में उसने कुछ कहा! उसका सारा बदन काँप रहा था। दोनों एक दूसरे की ओर कई क्षण तक देखते रहे। युवती की आँखों में आँसू छलछला आए। प्रकाश ने घबड़ाकर आँखें बंद कर लीं।

× × ×

जब प्रकाश कुछ स्वस्थ हुआ, तो उसने चकित होकर अपने चारों ओर देखा, उसके पास कोई न था, अँधेरा हो चला था। मेज़ पर दवा की शीशी के पास एक विज़िटिंग कार्ड चमक रहा था। उस पर लिखा था—"कुमुद।"

× × ×

जून की २७वीं तारीख़ थी। पिता का तार पाकर प्रकाश मेरठ वापस आ गया। घर आने पर उसने जो कुछ सुना, उससे वह व्याकुल हो उठा। बाबू शिवसहाय ने विना प्रकाश को बतलाए ही उसका विवाह बनारस के रईस बाबू हरगोविंददयाल के यहाँ पक्का कर लिया था, विवाह का मुहूर्त इत्यादि सब प्रकाश की अनुपस्थिति ही में निश्चित हो चुका था। २ जुलाई की लग्न थी। माता के द्वारा प्रकाश को सब हाल ज्ञात

हुआ। यह भी सुना कि लड़की पढ़ी-लिखी, सुंदर, सुशील और गृहकार्य में दक्ष है। अपने पिता की वह एक-मात्र संतान है। घर के सब लोग विवाह की तैयारी में लगे थे। प्रकाश अकेला अपने कमरे में बैठा सिर पीट रहा था। उसके मन में रह-रहकर यही भावना उठती थी कि उसके पिता का, बिना उसकी राय लिए, विवाह ठीक कर लेना कहाँ तक उचित था। प्रकाश पाश्चात्य सिद्धांतों का समर्थक था, किंतु उसके पिता पुराने विचारों के आदमी थे। उन्होंने विवाह के विषय में लड़के से सलाह लेना बिलकुल अनावश्यक समझा। यह प्रथा न थी।

तिलक चढ़ चुका था। पर बेचारा प्रकाश ! उसका सब उत्साह, उसकी समस्त अभिलाषाएँ, आकांक्षाएँ, उसके उत्कृष्ट विचार सब पूर्वप्रचलित सामाजिक प्रथा की वेदी पर बलिदान हो चुके थे। प्रकाश अपने मनोवेगों को यथासाध्य दबाने की चेष्टा करता था, पर सब व्यर्थ। उसकी उद्विग्निता उसके चेहरे से स्पष्ट थी। उसे कुमुद का ध्यान था। कौन कुमुद ? उसकी मनोनीत अधिष्ठात्री देवी कुमुद। जीवनसर्वस्व कुमुद, जिसको प्रथम साक्षात् में ही वह अपना हृदय दे चुका था। वह हृदय अब दूसरे का कैसे हो सकता था। हाय ! उस कुमुद को भी आसुरी प्रथा की भेंट चढ़ना पड़ा। प्रकाश के मन में अनेक प्रकार के विचार क्रमशः उठे और नष्ट हो रहे थे। कभी वह घर से भाग जाने का विचार करता, कभी आत्महत्या करके अपने दुःखमय जीवन की समस्त ज्वालाओं से शांति पाने की सोचता। परंतु कर्तव्य ! उसकी कुम्हलाती हुई आशाओं पर विजयी होकर उसे वर्तमान परिस्थिति में संतोष करने का उपदेश दे रहा था। उसी कर्तव्य के सम्मुख प्रकाश लाचार हो गया। अपने जीवन में कभी उसने माता-पिता की आज्ञा नहीं टाली थी, किंतु क्या उसका यही अंतिम परिणाम था। प्रकाश का हृदय अंतर्ज्वाला से धधक उठता था। मन कहता था डूब मरो, ऐसे जीने से न जीना ही अच्छा है। कर्तव्य कहता था—नहीं, संसार में कर्म ही सर्वप्रधान है। मातापिता की आज्ञा मानना तुम्हारा धर्म है। उनके आदेश-पालन के सम्मुख इस जगत् के संपूर्ण पदार्थ तुच्छ हैं। आशा बिचारी निरुत्साह होकर एक कोने में मुँह छिपाए पड़ी थी।

इस प्रकार एक शिक्षित आर्यसंतान के भावी जीवन-रूपी भाग्य का निपटारा हो रहा था।

× × ×

विवाह कार्य सकुशल समाप्त हो गया। बारात लौट आई। मातापिता का हृदय उत्साह और उमंग से उछला पड़ता था। उन्होंने सर्वगुणसंपन्न सुशीला वधू पाई थी। उनके आनंद की सीमा न थी। छोटे से लेकर बड़े तक सब लोग प्रसन्न थे। कन्यापक्षवालों ने देने-लेने में कोई कसर न रक्खी थी। सब लोग प्रशंसा कर रहे थे। किंतु प्रकाश !—उसके जीवन की सब आशाओं का अंत विवाह के साथ ही होना था। वही एक हृदय था, जो कर्तव्य की बेड़ियों में जकड़ा जाकर प्रकट में शांत पर वास्तव में चिता की नाईं धू-धू करके जल रहा था। विधाता की लीलाओं को कौन जान सकता है। प्रकाश ने अपने भाग्य को—दैव को ही—दोषी ठहराया। उसे सांसारिक जीवन से एकदम घृणा हो गई। उसने पूर्ण त्याग को ही उन्नति का मंत्र मानकर उसे ही अपनाने का विचार किया।

वाह रे हिंदू समाज—तेरी बलिहारी है।

× × ×

रात को लगभग दस बजे थे। प्रकाश अपने कमरे के किवाड़ बंद किए लैंप के सामने अकेला बैठा स्वामी रामतीर्थ की कोई पुस्तक पढ़ रहा था। उसकी मानसिक ज्वाला शांत न हुई थी। पुस्तक में उसका जी नहीं लग रहा था, पर आँखों में नींद भी न थी। कभी पढ़ते-पढ़ते रुककर वह कुछ सोचने लगता था। अपने भावी जीवन का चित्र उसकी आँखों के आगे घूम रहा था, जो निराशा के कलि-कलेवर से आच्छादित होकर धूमिल दिखाई देता था।

उसने पुस्तक बंद करके मेज़ के नीचे डाल दी। फिर आप-ही-आप कहने लगा—

'शोक, इन महात्माओं को देखिए। वेदांत का कैसा ढोंग रचकर एक पाखंड बनाते हैं, कैसे-कैसे सिद्धांत निश्चित करते हैं, किंतु फिर भी धर्म की ओट में, कर्तव्य की आड़ में अत्याचार होते देखकर इनका हृदय नहीं पसीजता। प्रथा—सामाजिक प्रथा—आसुरी प्रथा—इसी से भारतीय समाज का सत्यानाश हुआ। न विचारों की स्वतंत्रता है न कार्य की। हम भारतीयों

के जीवन का रहस्य इसी प्रथा के परदे से ढका है। इसी प्रथा द्वारा हम मनुष्य से पशु बनाए जाते हैं। हम अपने अधिकारों से वंचित किए जाते हैं, समाज का यही शासन-दण्ड है। ऐसे समाज को धिक्कार है, जो शिक्षित जनता के मार्ग में कंटक बनकर उसका वास्तविक स्वत्व छीन लेता है। मैं ही नहीं, मेरे-जैसे सैकड़ों मनुष्य इस समाज के प्रथा-रूपी अस्त्र का लक्ष्य बन चुके हैं। उनका जीवन भी मेरे जीवन के सदृश नष्ट किया जा चुका है। ऐसे समाज को दूर ही से प्रणाम है। बड़े-बड़े सुधारक बनते हैं, किंतु केवल वाणी से, कर्म से नहीं! यदि जीवित रहा, तो इस समाज में एक ऐसी क्रांति उत्पन्न करूँगा, जिसकी प्रचंड उष्णता में प्रथा का समूल अंत हो जायगा। वह विप्लव ऐसा अद्भुत और विकराल होगा कि उसकी लपेट में आकर सारा भारतीय समाज.........''

इसके आगे प्रकाश कुछ न कह सका।

× × ×

कमरे का किवाड़ धीरे से खुल गया। प्रकाश चौंक उठा। वह घबराकर एक क्षण द्वार की ओर देखता रहा। उसकी नवविवाहिता पत्नी ने कमरे में प्रवेश किया। प्रकाश उठकर खड़ा हो गया। इसके पहले दोनों में कभी साक्षात् न हुआ था।

लज्जित भाव से उसने घुटनों के बल बैठकर प्रकाश के दोनों पैर पकड़कर कहा—''प्राणेश!''

प्रकाश ने पत्नी के मुँह पर दृष्टि डाली। उसकी आँखों में आँसू छलछला आए। उसने कहा—''कुमुद! तुम!'' आगे उसके मुँह से कोई बात न निकली।

दोनों मिल गए। छत पर ज्योत्स्ना छिटकी हुई थी। चंद्रदेव आकाश में हँस रहे थे। प्रकृति की शांत गोद में सारा लोक अचेत था। केवल पवनदेव निशासुंदरी से अठखेलियाँ कर रहे थे।

वह अपूर्व ''मिलन'' था।

लक्ष्मीशंकर मिश्र

सूक्ति-कुंडल *

कुंडलिया

मित्र! टाँग के दर्द से, नहीं हुआ हूँ पार;
दवा दारु उपचार ने, किया मुझे लाचार।
किया मुझे लाचार, बिगाड़ा मैंने पैसा;
गए बीत छः मास, हाल वैसे का वैसा।
कहे 'देव' भर आह, दर्दघटना है विचित्र;
हट-हट आवे लौट, बड़ा सत्याग्रही, मित्र!

शालिनी

आते मौक़े, तात! उत्थानवाले;
ले लेते हैं, लाभ जी-जानवाले।
वे पाते हैं, स्थान सम्मानवाले;
जो जाते हैं, जूझ ईमानवाले।

भुजंगी

कहाँ है नहीं जो बहे धार में?
रहे जो तना तेग की मार में।
सदा हो डटा बीच मैदान में;
सभी वार दे देश की आन में।

दोहा

जीवन तो रणखेत है, जूझो निर्भय होय;
तिलक-विजय जिन पाइया, बड़भागी हैं सोय।
बाधा-बाधा करत है, तू मूरख नादान;
बाधा का बध बिन किए, क्या पाएगा मान?

सत्यदेव परिव्राजक (जर्मनी)

---

* अनुभवसागर से।

बिहारी की सतसई और उसके टीकाकार

(२)

बिहारी की सतसई तुलसी-सौरभान्वित वह 'मानस' नहीं है, जो राजहंसों के सेवन-योग्य हो। यह तो बिहारी का विहार-सरोवर है, जो अपने ढंग का अवश्य अनूठा है, सुंदर है, चेतोहर है। परंतु अत्यधिक 'विहार' होने के कारण कहीं-कहीं इस सरोवर का जल बिलकुल पंकिल हो गया है, अतएव अपेय भी है। हाँ जो जल के दोष दूर करके उसका स्वच्छ भाग ग्रहण करने में पटु हैं, वे आवश्यकतानुसार इसके जल का सेवन कर भी सकते हैं; परंतु जो ऐसी सामर्थ्य से वंचित हैं, उन्हें इधर न झुकना चाहिए, विशेषतः 'अपरिपक्व-मति' जनों को। कारण, इसके अंधाधुंध सेवन से बड़े भारी और कष्टातिशयकर रोगों के हो जाने का डर है—असाध्य बीमारियों के हो जाने का ख़तरा है।

"बड़े मियाँ तो बड़े मियाँ, छोटे मियाँ सुभान अल्लाह!" बिहारी ने तो अपने 'रसिक' आश्रय-दाता मिर्ज़ा जयसिंह को ख़ुश करने के लिये जो कुछ किया है, सो किया ही है; पर उसके टीकाकार कहीं-कहीं और भी आगे बढ़ गए हैं! हद कर दी है! इस लेखमाला में आगे इसका आभास मिलेगा।

हम इस सतसई के विषय को, अधिकांश में दूषित, पर उसके अभिव्यक्त करने के ढंग को बहुत बढ़िया समझते हैं—विषय जीवन को और उसके अभिव्यंजन का ढंग मन को हरनेवाला है। थोड़े में यही हमारी इस काव्य के विषय में सम्मति है।

सतसई का पहला दोहा है—

मेरी भौ बाधा हरौ, राधा-नागरि सोय;
जा तन की झाँई परे, स्याम हरित दुति होय।

दोहा बहुत बढ़िया है और वस्तुतः सतसई के मस्तक पर ही विराजमान होने के योग्य है। अक्षर प्रसन्न हैं—सब साफ़ झलकता है। पर खेद की बात है कि इस मंगलाचरण के दोहे से ही टीकाकारों ने अपनी कुत्सित मनोवृत्ति का परिचय देना शुरू कर दिया है। एक तो 'ठोंक-पीटकर' इस दोहे के 'विविध' अर्थ करके अनर्थ कर डाला गया है—बेचारे दोहे की दुर्दशा कर डाली गई है; फिर एक ऐसा अर्थ करने की धृष्टता भी की गई है, जो शिष्ट साहित्य-समाज में अक्षम्य अपराध है। हरि कवि ने अपनी टीका में इस दोहे का बड़ा ही उच्छृंखल—अश्लील—अर्थ किया है। परंतु अतिशय खेद की बात तो यह है कि यह अश्लील अर्थ 'संजीवन-भाष्य' में भी ख़ूब नोन-मिर्च लगाकर उद्धृत किया गया है। ऐसा दोष करके फिर 'अनुवादी न दुष्यति' लिख देने से अपराध-परिमार्जन नहीं हो सकता। अर्थ देखिए—

"१—अथवा—नायिका—(श्रीराधा) को मानिनी देखकर नायक (श्रीकृष्ण) प्रार्थना (मिन्नत, ख़ुशामद) करते हैं कि 'हे राधा नागरि! मेरी भौ (भय) बाधा, हरौ, अर्थात् तुम्हारा मान (कोप-नाराज़गी) देखकर जो मुझे भौ (भय) है, उससे उत्पन्न बाधा (दुःख) को हरो। अभिप्राय यह कि मान छोड़ प्रसन्न हो जाओ। नायक महात्मा मान छोड़ने का ढंग बताते हैं और काम की बात पर आते हैं—क्या करके, 'सोय—' या को अर्थ हमारे पास शयन करिकै।" तुम्हारे तन की कांति पड़ने से हमारा (श्रीकृष्ण का) जो यह श्याम शरीर है, 'सो, सानंद होत है।' क्यों न हो, हुआ ही चाहे।"

—संजीवन-भाष्य

कहिए, यह घासलेट-साहित्य है, या क्या? संजीवन-भाष्य के निर्माता घासलेट-साहित्य के प्रमुख विरोधियों में होकर भी अपनी क़लम से ये गंदे शब्द लिखते हैं! पाठक इस औचित्य या अनौचित्य पर स्वयं सोचें!

इस दोहे के पदों पर विचार करते हुए 'संजीवन'-भाष्य-कार लिखते हैं—"मेरी भव-बाधा" शब्द में (शब्दों में?) उपासक-बोधक 'मेरी' पद से—"जगन्नाथस्याऽयं सुरधुनि! समुद्धार-समयः—" के

समान अपनी अधमतातिशयता (अपना अधमता-तिशय ?)-द्योतन द्वारा इष्टदेव की निरतिशय महिमा की ध्वनि निकलती है !''

विचार करने पर ऊपर लिखी बातें भ्रम-पूर्ण सिद्ध होती हैं। न तो 'मेरी' पद से कोई ध्वनि निकल सकती है और न कुछ; शर्माजी ने जो पंडितराज का पद्यांश मिसाल के तौर पर पेश किया है, उसके 'जगन्नाथस्य' पद में अवश्य वह ध्वनि है। उस पद्यांश का भाव यह है कि हे भगवति सुरधुनि ! (गंगे !) यह जगन्नाथ के समुद्धार का समय है, ज़रा सँभलकर हाथ बढ़ाइए, यह मामूली पतित नहीं, पतिताग्रगण्य 'जगन्नाथ' है ! यहाँ वस्तुतः 'जगन्नाथस्य' पद से प्रार्थयिता अपना अधमतातिशय-द्योतन करता है।

बात यह है कि यहाँ गंगाजी से प्रार्थना करनेवाले स्वयं जगन्नाथ हैं; अतएव सर्वनाम 'मम' का प्रयोग होना चाहिए था, 'जगन्नाथस्य' का नहीं। इसीलिये यह 'जगन्नाथस्य' पद अनुपपन्न होकर अधमतातिशयविशिष्ट-मदर्थ का बोध कराता है। प्रकृत दोहे के 'मेरी' पद में यह कुछ भी नहीं है, कोई बात ही नहीं है। सीधा-सादा 'मेरी' पद का प्रयोग है, जो अपने सामान्य अर्थ का अभिधान करता है। ध्यान रखने की बात है कि 'अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य'-नामक ध्वनि लक्षणा-मूलक है, और लक्षणा तभी होती है, जब कोई पद बाधित हो, अनुपपन्न हो, जैसे 'जगन्नाथस्याऽयं सुरधुनि ! समुद्धार-समयः' अथवा 'वीर-सतसई' के इस द्रौपदी-प्रणयानुरोध में—

> ''जाहु भलैं कुरुराज पहँ, धारि दूतवर वेष ;
> जैयौ भूलि न कहुँ वहाँ केशव ! द्रौपदि केश।''

'वीर-सतसई' के इस दोहे के 'द्रौपदि' इस अंश में अवश्य वह अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य ध्वनि है। 'मेरी भौ (भव) बाधा' में 'मेरी' पद बाधित या अनुपपन्न नहीं है जिससे लक्षणा करनी पड़े और फिर उससे वह ध्वनि—व्यंग्य—निकले, जो उक्त लक्षणा का फल है। सारांश यह कि इस 'मेरी' पद में कोई भी ध्वनि नहीं है।

एक बात और। शर्माजी ने इस 'मेरी' पद से 'इष्ट-देव की निरतिशय महिमा' की भी ध्वनि निकाली है ! यह कैसी रही ! यह कैसी 'मेरी' है, जो एक-से-एक बढ़-कर ध्वनि-कुमारों का विशृंखल जनन करती चली जाती है ! साहित्यिक बंधुओं के सोचने की बात है।

फिर भी आगे लिखा है—''काव्य प्रकाशके ध्वनि प्रकरणोदाहृतः—

> त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
> आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्॥

पद्य के 'त्वां' 'अस्मि' 'विदुषां' आदि पदों के समान 'मेरी' पद में लक्षणा-मूलक अविवक्षित-वाच्य अर्थान्तर-संक्रमित रूप ध्वनि है।''

'काव्य-प्रकाश' और 'साहित्य-दर्पण' आदि में उक्त पद्य वाक्यगत उक्त ध्वनि के उदाहरण में उद्धृत किया गया है। इस पद्य के 'त्वां' 'अस्मि' और 'वच्मि' पदों से ध्वनियाँ निकलती हैं; पर 'विदुषां' पद से कोई भी ध्वनि नहीं निकलती। न-जाने, शर्माजी ने क्या सोचकर 'विदुषां' से ध्वनि निकलना लिखा है ? मालूम नहीं, क्या ध्वनि उन्होंने इससे निकाली है ? ख़ैर, जो है, सो तो है ही। पर इस मिसाल से भी शर्माजी को अभीष्ट-सिद्धि नहीं होती—इस पद्य के सहारे भी उस 'मेरी' से वह ध्वनि नहीं निकल सकती। इस संस्कृत पद्य में वे सब पद, जिनसे वे ध्वनियाँ निकलती हैं, एक प्रकार से अनुपपन्न हैं, अत-एव लक्षणा करके कुछ विशिष्ट अर्थ प्रतिपन्न होता है और इसीलिये, फल-स्वरूप, वे-वे ध्वनियाँ निकलती हैं।

संस्कृत-पद्य में 'अस्मि' अव्यय 'अहम्' के अर्थ में है। जिससे बात कही जा रही है, वह सामने ही है, तो फिर 'त्वां' के कहने की कोई ज़रूरत नहीं। इस प्रकार 'त्वां' पद अनुपपन्न होकर अन्य-व्यावृत्तिविशिष्ट त्वदर्थ लक्षित कराता है, जिससे निरतिशय प्रेम व्यक्त होता है। वक्ता का अभिप्राय है कि मैं तुझसे—सिर्फ़ तुझसे—यह बात कहता हूँ, यदि और कोई होता, तो मुझे कुछ ग़रज़ न पड़ी थी ! इसी प्रकार अहमर्थक 'अस्मि' भी अनुपपन्न है। 'वच्मि' क्रिया का कर्ता 'अहम्' या अह-मर्थक 'अस्मि' के अतिरिक्त और कोई हो ही नहीं सकता। तो फिर इस दशा में 'अस्मि' के देने की कोई ज़रूरत न थी। यों यह पद अनुपपन्न होकर हितकारित्व-विशिष्ट अहमर्थ लक्षित कराता है, जिससे अत्यंत हितै-षिता और वत्सलता अभिव्यक्त होती है। मतलब यह कि मैं—केवल मैं—हूँ, जो तुझे ऐसी सीख की बात कह रहा हूँ। और कोई तुझे ऐसी बातें बताने का नहीं। इसी तरह 'वच्मि' भी है। वह भी अनुपपन्न होकर 'कहता हूँ'

इस सामान्य अर्थ को छोड़कर 'उपदेश करता हूँ'—इस विशिष्ट अर्थ को लक्षित कराता है और उसके आतिशय्य का ध्वनन करता है।

परंतु प्रकृत दोहे का 'मेरी' पद किसी भी दशा में बाधित या अनुपपन्न नहीं है, जिससे उक्त ध्वनि निकले। यदि दोहे में 'मेरी' पद न हो, तो वह अर्थ किसी प्रकार निकल ही नहीं सकता, जो कवि को, इस मंगलाचरण के कर्ता को अभिप्रेत है। 'मेरी' पद के विना—'भव-बाधा हरौ'—जन्म-मरण की पीड़ा और अन्य सांसारिक दुःख श्रीराधा दूर करें, किसके ?—सो कुछ खुलासा नहीं। अतएव यहाँ 'मेरी' पद आवश्यक है, वह अनुपपन्न नहीं है; इसीलिये लक्षणा का प्रवेश-द्वार बिलकुल बंद है, जिसके विना वह ध्वनि यहाँ शशशृंगायमाण है, जिसके स्वप्न 'संजीवन-भाष्य' में देखे गए हैं।

इस दोहे के अलंकारों को गिनाते हुए शर्माजी अपने 'संजीवन-भाष्य' में लिखते हैं—"दूसरे अर्थ में 'हेतु अलंकार है—

"हेतोर्हेतुमता सार्द्धं वर्णनं हेतुरुच्यते।" (कुवलयानन्द)
'हेतु' अलंकृत होय जब, कारण कारज संग।"
—भाषाभूषण

अर्थात् जहाँ हेतु—(कारण) पूर्वक हेतुमान् (कार्य) का वर्णन किया जाय, वह 'हेतु' अलंकार कहाता है—जैसे यहाँ राधाजी का पीत वर्ण और श्रीकृष्ण-जी का श्याम वर्ण हरे रंग के होने में कारण है।"

शर्माजी का यह सब लिखना और उनके प्रमाणभूत 'कुवलयानन्द' तथा 'भाषा-भूषण' का यह 'हेतु'-लक्षण, सब कुछ ग़लत-पलत और बेमज़े का है। कारण और कार्य के एक साथ ही होने में 'हेतु' नहीं, 'अतिशयोक्ति' अलंकार का एक भेद होता है। जैसे—

समसेव समाक्रांतं द्वयं द्विरदगामिना।
तेन सिंहासनं पित्र्यं मण्डलं च महीक्षिताम्॥

गजगामी रघु ने अपने पिता का सिंहासन और राजाओं के मंडल को एक साथ ही अधिकृत किया। मतलब यह कि राजगद्दी पर बैठते ही अनति विलंब सब राजाओं को दबा दिया। यहाँ कारण—सिंहासनाधिरोहण—और कार्य—राजाओं के मंडल को दबाना—एक साथ ही कहे गए हैं। ऐसा कहने में ख़ास चमत्कार है, जो अलंकार का बीज है। यदि इसी प्रकार का कारण कार्य-सहभाव अभिप्रेत है, तो ऐसी जगह 'हेतु' नहीं, 'अतिशयोक्ति' अलंकार होगा—इसका वह भेद, जो कारण-कार्य के सहवर्णन में होता है। सो, यहाँ 'हेतु' अलंकार नहीं है। 'हेतु' तो तब होता है, जब कारण का कार्य के साथ अभेद कथन किया जाय, जैसे संस्कृत के इस पद्य में—

"तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसम्पदो हासः।
धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम्॥"

यहाँ वशीकरण का हेतु नायिका है, जो वशीकरण रूप से कही गई है।

सारांश यह कि 'कुवलयानन्द' और 'भाषा-भूषण' में जो 'हेतु' का लक्षण किया गया है, वह ग़लत है। जिसे इन्होंने 'हेतु' लिखा है, वह 'अतिशयोक्ति' अलंकार का एक भेद है। पर इस दोहे में यह 'अतिशयोक्ति' भी नहीं है और 'हेतु' तो है ही नहीं। फलतः इन लक्षणों के आधार पर शर्माजी ने जो इमारत खड़ी की थी, वह बैठ गई।

अनवरख़ाँ के अनुसार इस दोहे में शर्माजी ने एक नया अलंकार 'श्लेषाभास' भी लिखा है—'भव-बाधा' में 'भव' शब्द के अनेकार्थता को लक्ष्य में रखकर अनवरख़ाँ ने 'श्लेषाभास' भी लिखा है। अर्थात् 'भव-बाधा' समस्त-पद-गत 'भव' शब्द में, हे भव शिव ! मेरी बाधा हरो' इत्यादि भ्रम होता है।"

वस्तुतः न तो यहाँ 'हे भव शिव !' आदि का भ्रम ही होता है और न यह कल्पित अलंकार ही है। यदि कहीं भ्रम हो भी, तो इस प्रकार का कोई अलंकार वैचित्र्याभाव के कारण हो नहीं सकता और न किसी साहित्य-ग्रंथ में इस अद्भुत अलंकार की कोई कथा ही है। मालूम होता है, 'पुनरुक्तवदाभास'-नामक शब्दालंकार की धुँधली स्मृति ही इस नवीन अलंकार-कल्पना की भूल का कारण है।

इसी प्रकार कितने हो मनगढ़ंत अलंकारों और अर्थों की कल्पना की गई है। एक और अर्थ किया गया है।

"२—अथवा—तुम्हारे तन की झाईं (कांति) जब मिलाप (समागम) के समय हमारे (श्रीकृष्ण के) शरीर पर पड़ती है, तब श्याम—श्यामवर्ण शृंगाररस या (रतिपति) काम—सो पल्लवित होता है।"(संजीवन-भाष्य)

फिर "कामदेव और शृंगाररस दोनों का वर्ण श्याम है। सो, यहाँ 'साध्यवसाना' लक्षणा करके 'श्याम' पद से श्यामवर्ण-विशिष्ट 'काम' या 'शृंगार' का ग्रहण करना चाहिए।" इस प्रकार यह लिखकर, आगे साध्यवसाना लक्षणा का लक्षण आदि लिखकर सोदाहरण इसकी उत्पत्ति की गई है। शर्माजी की यह सब कल्पना निरी कल्पना ही है—कुछ तथ्य इसमें नहीं है। न तो इस दोहे का यह अर्थ ही हो सकता है और न 'श्याम' से 'काम' या 'शृंगार' का ग्रहण ही। साध्यवसाना लक्षणा का तो ठिकाना ही नहीं है। यह लक्षणा—या कोई भी लक्षणा—तभी होती है, जब मुख्यार्थ बाधित हो, और रूढ़ि किंवा प्रयोजन, इन दो कारणों में से कोई भी एक अवश्य हो। यहाँ न तो 'श्याम' पद बाधित ही है और न कुछ। यदि किसी प्रकार 'श्याम' पद अनुपपन्न मान भी लिया जाय, तो भी रूढ़ि या प्रयोजन का अभाव होने से उक्त लक्षणा अशक्य है। यहाँ लक्षणा करने का प्रयोजन तो कोई है ही नहीं, न शर्माजी ने लिखा ही है और न मेरी बुद्धि में सम्भावित ही है। रही रूढ़ि, सो, 'श्याम' पद की रूढ़ि 'काम' या 'शृंगार' में नहीं, श्रीकृष्णचंद्र में ही है। सो इस प्रकार यहाँ साध्यवसाना लक्षणा हो नहीं सकती। 'श्याम' पद से 'काम' या 'शृंगार' का बोध हो नहीं सकता, अतएव इस का सहारा लेकर किया जानेवाला वह ऊटपटाँग अर्थ कभी समर्थित हो नहीं सकता।

इसी प्रकार और भी कितनी ही मज़े की बातें इस दोहे पर विभिन्न टीकाकारों ने—संजीवन-भाष्यकार ने भी—लिखी हैं। उन सबका उल्लेख करने के लिये न तो यहाँ स्थान ही है और न अवकाश ही। जो जन अभिलाषी हों, वही इसका आनंद लें।

किशोरीदास वाजपेयी
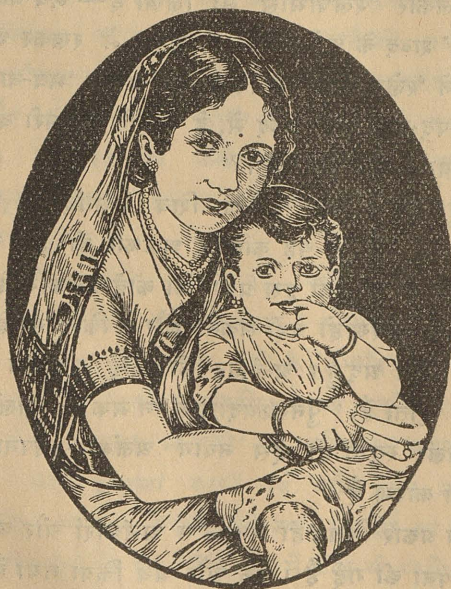
मुकुर के प्रति—

(१)

भूषित सदैव करते हो कररंज वह,
सुखद सनेह की सुधा को बरसाते तुम;
प्रीतम की मूर्ति हृदमंदिर बसा के मंजु,
आँखों से मिलाने में न आँख सकुचाते तुम।
रूपरस पीकर अघाते नहीं बार-बार,
बाहर दिखाते कभी उर में छिपाते तुम;
आरपार हृदय दिखाके अपना ये शुभ्र,
जग को कठिन प्रेम-पंथ सिखलाते तुम।

(२)

मिलते हमें हैं जब प्राणाधार मंदिर में,
आँखें सकुचाके पाँव पर अड़ जाती हैं;
उठती नहीं हैं समझावे कितना भी कोई,
जाने कौन मंत्र यह मौन मन गाती हैं।
जाते हो हृदयधन ढूँढ़ती व्यथित होके,
जाने फिर हाय इतना क्यों अकुलाती हैं;
मुकुर! तुम्हीं हो धन्य देखते ही मूर्ति वह,
आँखों से समोद बस आँखें मिल जाती हैं।

(३)

जग में न स्वच्छ तुम-सा है और कोई कहीं,
कालिमा ज़रा-सी लगते ही रूठ जाते तुम;
ऊषा जिस छवि पै लुटाती माल मोतियों की,
उसके ही कर में सप्रेम छवि पाते तुम।
थकित हुए हैं चित्रकार चित्र-चित्रण में,
चित्र उसका ही शीघ्र उर में बनाते तुम;
मलिन हृदै में हृदयेश हैं न आते कभी,
मुकुर! यही क्या सब जग को सिखाते तुम?

(४)

जिस रूपराशि पै करोड़ों कंज खिलते हैं,
उसका ही हृदयसरोज विकसाते तुम;
छाया-मात्र जिसकी छिपाए फिरता है चंद्र,
मूर्ति छविधाम वह अंक में बिठाते तुम।
जिस प्रतिबिंब पै मचलता नदी में नीर,
शांति से उसे ही नित्य उर से लगाते तुम;
अग प्रति अंग में बसाके मूर्ति प्रीतम की,
भाग्य तक हाथ में उन्हीं के सौंप देते तुम।

(५)

सहके वियोग-यातनाएँ घबराते नहीं,
रवि सम प्रखर प्रकाश दिखलाते तुम;
चाहे कितना भी दुख देवें अनुदारता से,
"आह!" तक जीभ पै कभी भी नहीं लाते तुम!
जानते भली विधि कठोरता हो प्रेमियों की,
तो भी निशिवासर उन्हीं के गुण गाते तुम;
मुकुर! तुम्हीं तो रूपराशि के पुजारी धन्य,
आँखें दिखलाते वह हृदय दिखाते तुम।

के० पी० दीक्षित "कुसुमाकर"

स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी 'दीन'

लाला भगवानदीनजी 'दीन' का जन्म फतेहपुर (हसवा) ज़िलांतर्गत बरवट ग्राम में श्रीयुत मुंशी कालिकाप्रसादजी बख़शी के घर, श्रावण शुक्ल ६ संवत् १९२३ वि० को हुआ था। आप श्रीवास्तव दूसरे कायस्थ थे। आपके पूर्व-पुरुष पहले रायबरेली में निवास करते थे। अनंतर ग़दर के समय वे लोग रामपुर चले गए और वहीं उन्हें स्थानीय नवाब की ओर से 'बख़शी' का सम्मानसूचक ख़िताब मिला था।

जन्म

प्राय: देखा जाता है कि समय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये होनेवाली महान् पुरुषों की जन्म-घटनाओं में कुछ-न-कुछ दैवी शक्ति अवश्य अंतर्हित रहा करती है। कविवर 'दीन'-जी का जन्म भी इस ईश्वरीय नियम के अनुसार ही हुआ था। आपके माता-पिता के बहुत कालपर्यंत कोई भी संतति न हुई थी। अंत में किसी साधु ने आपकी माता को संतानोत्पत्ति के लिये भगवान् सूर्य की कठिन तपस्या का विधान बताया। तदनुकूल उस देवी ने ज्येष्ठ-मास की कड़ी धूप में अनुष्ठान आरंभ किया था और प्रति रविवार को वह सूर्योदय के समय एक थाली में प्रज्वलित चतुर्मुख दीपक के साथ अन्य पूजन सामग्री संकलित कर सूर्याभिमुख खड़ी हो जाया करती थीं। ज्यों-ज्यों सूर्य भगवान् घूमते, आप भी घूमतीं और सूर्यास्त होने पर संकलित सामग्री से भगवान् का पंचोपचार पूजन कर वहीं लेट रहा करती थीं। इस प्रकार दो रविवार तक तो वह देवी अपने अनुष्ठान में पूर्णत: कृतकार्य हुईं; किंतु तीसरी बार मध्याह्न होते-होते सूर्य के प्रखर ताप के कारण वह वहाँ बेहोश हो गिर पड़ीं। अनंतर भगवान् के प्रसाद से हिंदी-साहित्याकाश के लिये सूर्यवत् आपको एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ और इसीलिये आपका नाम भगवानदीन रक्खा गया।

नामकरण

स्व० लाला भगवानदीन 'दीन'

'दीन'जी के पिता साधारण स्थिति के गृहस्थ थे। बहुधा आजीविकावश उन्हें बाहर ही रहना पड़ता था। अत: उन्होंने पुत्र को माता के पास रखकर बरवट में ही उर्दू-फ़ारसी की आरंभिक शिक्षा दिलानी आरंभ की। जब 'दीन'जी की अवस्था ग्यारह वर्ष की हुई, आपकी माता का देहावसान हो गया, जिससे आपके पिता उन्हें अपने साथ बुंदेलखंड नौकरी पर ले गए। वहाँ नौगाँव छावनी में अपने फूफा के पास रहकर 'दीन'जी ने फ़ारसी की विशेष शिक्षा प्राप्त की। चार वर्ष पीछे आप फिर घर लौट आए और वहाँ दो वर्ष तक मदरसे में पढ़ते रहे। आपने इसी समय अपने दादा से, जो एक परम भक्त पुरुष थे, साधारण हिंदी सीखी। अनंतर सत्रह वर्ष की

पारिवारिक स्थिति एवं शिक्षारंभ

हंस-दमयंती ।

एक सच्चा प्रशंसा-पत्र

बाबू नंदकिशोर शर्मा, हाई स्कूल रायबरेली से लिखते हैं—

जिस रोग में आज भारत के ९० प्रतिशत पुरुष ग्रसित हैं, जिस रोग ने असंख्य नवयुवकों का जीवन निःसार बना दिया है, और जिस कराल व्याधि के कारण नित्य ही सहस्रों युवक प्राण तक त्यागते हैं—उसके निवारण करने का सच्चा मार्ग मैं बताता हूँ। आशा है, मेरे देशभाई इस राह पर चलकर अपने इष्ट स्थान—मंज़िले-मक़सूद—तक पहुँच सकेंगे।

"मेरे एक अनन्य मित्र.........को प्रमेह, धातुरोग और नपुंसकता का मर्ज़ था, वह मृत्युदायक (Death dealing) हस्तमैथुन की कुटेव में फँस गए थे। उनके दुःख की सीमा नहीं थी, कारण कि वह अब क्लीवता (नामर्दी) को प्राप्त हो गए थे। युवती—उठती जवानी की स्त्री को इठलाती देखकर मरने पर तत्पर हो जाते थे। परंतु ईश्वर की दया से अथवा अपने भाग्यबल से, उन्होंने मुझसे, एक सच्चे मित्र के नाते, अपनी संपूर्ण मर्मस्पर्शी कथा कह दी। मैंने उन्हें आश्वासन (तसल्ली) दिया।

बाबू हरिदासजी वैद्य कलकत्ते वाले को, जो आजकल मथुरा में रहते हैं, मैं बहुत दिनों से जानता था। उनकी सुख्याति भी मैंने सुनी थी। अतएव अपने मित्र के लिये मैंने उक्त वैद्यजी से तिला नं० १—मूलिकादि तेल—लगाने के लिये और केशरपाक आदि खाने के लिये मँगवा दिया। नतीजा यह हुआ कि इन दवाओं के सेवन से मेरे मित्र महाशय पूर्ण नीरोग और संसारसुख भोगने योग्य हो गए। इन्द्रिय-दोष तो बिलकुल जाता रहा। वीर्य-रोग में थोड़ी-सी कसर है। इलाज चल रहा है, आशा ही नहीं प्रत्युत दृढ़ आशा है कि वह ज़रा-सी कसर भी पूरी हो जावेगी।

अंत में मेरी अपील अपने उन देशवासियों से है, जो उक्त व्याधियों के शिकार हो चुके हैं तथा अपने जीवन तक को खोने को तैयार हैं कि वे विना किसी संदेह के, विना अधिक देर किये, सीधे बाबू हरिदासजी वैद्य से अपना इलाज करावें। यहाँ किसी प्रकार की धोखेबाज़ी नहीं है। नपुंसकता, शीघ्रपतन और धातु-रोगियों का इलाज यहाँ सब जगह से अच्छा होता है। ओषधियों का लाभ सच्चा और निश्चित है। हाँ, बाबूजी के इलाज में देर भले ही हो। पर काम सच्चा तथा पक्का होता है।

पता—हरिदास ऐंड कंपनी,
गंगा-भवन, मथुरा यू० पी० (सिटी)

अवस्था में फ़तेहपुर के इँगलिश स्कूल में आप भरती हुए, जहाँ से सात वर्षों में एंट्रेंस-परीक्षा पास की। स्कूल में भरती होने के कुछ ही दिनों पश्चात् आपके लाड़-प्यार के एकमात्र आधार दादाजी का भी देहांत हो गया। ऐसी दशा में आपके पिताजी ने आपकी देखरेख का कुल भार वहाँ अपने घनिष्ठ मित्र श्रीपुत्तू सोनार को सौंप दिया।

शिक्षा का विकास एवं गार्हस्थ्य-जीवन में प्रवेश

'दीन'जी छुटपन से ही विनय की मूर्ति तथा भक्ति के उपासक थे, अतः आप पर श्रीपुत्तू चाचा के स्नेह-स्रोत के प्रवाह का सहसा उमड़ पड़ना स्वाभाविक ही था। दूसरे, उनके कोई संतान भी न थी। इसलिये 'दीन'जी को दादाजी का वियोग भूल-सा गया। साथ ही, श्रीपुत्तू सोनार के एक विधवा बहन भी थी, जो निःसंतति हो अपने रँडापे के दिन वहीं खे रही थी। कहना न होगा कि इन मनियाँ बुआ के कारण 'दीन'जी का मातृ-वियोग भी बहुत कुछ हलका हो गया। इन मनियाँ बुआ का शरीरपात अभी ३-४ वर्ष पूर्व हुआ है और 'दीन'जी पर बराबर इनका स्नेह एक-सा पाया गया। अस्तु; इस प्रकार शिक्षा पाते हुए 'दीन'जी जब आठवीं कक्षा में पहुँचे, आपकी अवस्था बाईस वर्ष की थी। अतः श्रीपुत्तू चाचा ने बिना इनके पिताजी से पूँछ-ताँछ किए ही इनका ब्याह कर दिया। यहाँ तक कि इनकी शादी में इनके पिताजी सम्मिलित भी न हो सके। इसी समय आपने आठवीं कक्षा पास की। उस समय तक वह स्कूल मिडिल तक ही था, अतः 'दीन'जी की विद्योपार्जन-संबंधी पिपासा ने उन्हें व्यग्र-सा बना दिया। उधर, श्रीपुत्तू चाचा ने भी आगे शिक्षा दिला सकने में अपनी असमर्थता प्रकट कर दी, जिससे आपकी वह व्यग्रता और भी बढ़ गई। किंतु संयोगवश उसी साल उस स्कूल के हाई-स्कूल होने की आज्ञा प्रांतीय शिक्षाविभाग से आ गई और अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होने के कारण 'दीन'जी को दो वर्ष के लिये आठ रुपए मासिक की छात्रवृत्ति भी मिलने लगी। किंतु इतने में 'दीन'जी का सपत्नीक निर्वाह होना असंभव था, अतः प्रधानाध्यापक से मिलकर आपको एक ट्यूशन भी करनी पड़ी और आपने वहीं से एंट्रेंस परीक्षा पास की।

आजीविका एवं काव्योदयकाल

अब लालाजी ने प्रयाग आकर वहाँ कायस्थ-पाठशाला में नाम लिखाया। इस समय आपको पाठशाला से वृत्ति मिलती थी और गृहस्थी के बोझ के कारण दो-एक जगह ट्यूशन भी करनी पड़ती थी। एफ़० ए० तक शिक्षा प्राप्त करने के अनंतर आपको गृहस्थी की झंझटों के कारण लाचार हो पढ़ना छोड़ना पड़ा और आप वहीं कायस्थ-पाठशाला में अध्यापक नियुक्त हो गए। वहाँ आपने डेढ़ वर्ष काम किया, बाद प्रिंसपल की अनुमति से स्थानीय ज़नाना-मिशन-गर्ल्स हाईस्कूल में छः मास तक फ़ारसी के शिक्षक होकर रहे। अनंतर आप राज्य-स्कूल के सेकेंड मास्टर होकर छत्रपुर (बुँदेलखंड) चले गए और सन् १८६४ से १६०७ तक वहीं रहे। इस बीच आपको हिंदी-साहित्य के अध्ययन का ख़ासा अवसर प्राप्त हुआ। यद्यपि हिंदी की ओर आपकी अभिरुचि पहले से ही उत्पन्न हो चुकी थी और आप फ़तेहपुर में अपने दादाजी को, जो एक परम भक्त पुरुष थे, नित्य तुलसीकृत रामायण का पाठ सुनाया करते थे और एक बार अपने पिताजी के साथ हरिद्वार जाने पर वहाँ दो मास रहकर उन्नीस वर्ष की अवस्था में "कृष्णचौसठिका"-नामक कविता भी बनाई थी; तथापि आपको साहित्यिक प्रतिभा के विकास का अवसर पहलेपहल छत्रपुर में ही प्राप्त हुआ। यहाँ आप अवकाश के समय बाबू जगन्नाथ-प्रसाद के पुस्तकालय की पुस्तकें पढ़ा करते थे और प्राचीन कवियों की कविता के अध्ययन के लिये आपको प्रायः राजकीय पुस्तकालय से यथेष्ट सहायता मिलती थी, जहाँ प्राचीन हिंदी-साहित्य के ग्रंथों का अच्छा संग्रह अब भी मौजूद है। इसके अतिरिक्त वहीं आपने श्रीगंगाधर व्यासजी से अलंकार तथा काव्य के कुछ नियम भी सीखे। बस, अब क्या था! आपकी साहित्यिक प्रतिभा प्रदीप्त हो उठी, आपका कवि-हृदय कमनीय कल्पनाओं के क्षेत्र में स्वतंत्र विचरण करने लगा, एवं आपके काव्य-कौशल की चर्चा चारों ओर छिड़ गई।

अनुभवज्ञान

बुँदेलखंड में रहकर 'दीन'जी को प्रांतीय भाषाओं की जानकारी का अच्छा अवसर मिला। दूसरे, आप अव्वल दरजे के अनुभवी पुरुष थे। वहाँ रहते हुए नित्य संध्या समय आप कभी

पर्वतशृंगों पर, कभी किसी नदी या सरोवर के तट पर, कभी जंगलों में एवं कभी प्रसिद्ध गठौरा की प्रशस्त युद्ध-भूमि में टहलने निकल जाया करते थे। छुट्टियों के दिन तो आप प्रायः दिन-भर का सफ़र लगाया करते थे। आपकी यह प्रकृति-पर्यवेक्षण एवं तत्संबंधी ज्ञान की लिप्सा जीवन में कभी कम न पाई गई। यहाँ तक कि बुंदेलखंड में एक बार आपकी इच्छा शेर की माँद देखने की हुई। फलस्वरूप आप अपने एक मित्र के साथ पहाड़ की ओर निकल पड़े। ऊपर जाकर, एक घने जंगल में, आपको एक माँद दिखाई दी और ज्यों ही आप झुककर माँद में झाँकने लगे, आपको भीतर चमकती हुई आँखें दिखाई दीं, साथ ही गुर्राहट का कुछ शब्द भी सुन पड़ा। अब आप लोग वहाँ से खिसक आए। दूसरी बार, एक समय आप घूमते हुए किसी सघन वन में निकल गए और वहाँ एक पर्वत-शिला पर बैठ तुलसीकृत 'विनय-पत्रिका' के पद, जिन्हें आप सदा गाया करते थे, गाने लगे। इतने में आप क्या देखते हैं कि सामने से एक अजगर आ रहा है, जो शिला से थोड़े फ़ासले तक आकर ठमक गया। 'दीन'जी उस पद को निर्भयता के साथ गाते ही रहे। अजगर भी बड़े ध्यान से उसे सुन रहा था। पद समाप्त होने पर आपने उत्कंठा के साथ पूछा—"क्या और पद सुनाऊँ?" इस पर अजगर ने स्वीकृति में सिर हिलाया और 'दीन'जी ने और भी दो-एक पद गाकर सुनाए। जब अजगर चलने लगा, तो 'दीन' जी ने फिर पूछा—"क्या कल भी आकर कुछ पद सुना जाऊँ?" इस पर भी अजगर ने सिर हिलाकर स्वीकृति दी। 'दीन'जी बराबर सात दिनों तक संध्या समय वहाँ जा-जाकर विनय-पत्रिका के पद गाया करते, जिसे सुन अजगर नित्य आकर उन्हें सुना करता। अंतिम दिन पुनः आने के लिये पूछने पर अजगर ने सिर हिलाकर निषेध किया और फिर 'दीनजी' ने भी वहाँ जाना बंद कर दिया। किंतु इस घटना ने 'दीन'जी को आश्चर्यान्वित अवश्य कर रक्खा था। अतः उन्होंने वहाँ के एक पहुँचे हुए साधु से पूछा, जिस पर उन्होंने बताया कि अजगर के वेष में लक्ष्मणजी आते थे; क्योंकि उस वन में उनका निवास-स्थान है। इसे सुन 'दीन'जी पुनः कई बार वहाँ गए, किंतु अब उस अजगर के दर्शन कहाँ? कहने का तात्पर्य इतना ही कि 'दीन'जी स्वभाव से ही निर्भय प्रकृति-पर्यवेक्षी एवं अनुभवी पुरुष थे, जिसके कारण आपकी कविताएँ बड़ी सजीव हुआ करती थीं। कहना न होगा कि इस प्रकार के प्राकृतिक तथ्यों के समावेश द्वारा कविता में जो चोज़ आ जाया करता है, उसे सहृदय व्यक्ति ही समझ सकते हैं! यही कारण है कि आज दिन भी आदि-कवि वाल्मीकि तथा कवि-कुलगुरु कालिदास का आसन काव्य-जगत् में ऊँचा पाया जाता है। 'दीन'जी की कविता-संबंधी ये बातें, साहित्य प्रेमियों के समक्ष निकट-भविष्य में ही उनकी कविताओं का संग्रह हो जाने पर दिखाई जा सकेंगी, ऐसी हमें आशा है। यहाँ पर एक बात यह और भी ध्यान देने योग्य है कि 'दीन'जी इधर कुछ दिनों से एक महाकाव्य 'मित्रादर्श' लिख रहे थे, जिसके लिये बहुत-सा प्राकृतिक मसाला संग्रह करने के लिये आपको गत वर्ष सुदामापुरी, द्वारकाजी आदि स्थानों में जाना पड़ा था।

जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, 'दीन'जी छत्रपुर में सन् १८९४ से १९०७ तक—तेरह वर्ष—रहे। इतने दिनों के भीतर आपने हिंदी के प्राचीन काव्य का ख़ासा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। साथ ही आप अरबी, फ़ारसी की बहुत उच्च शिक्षा पहले ही प्राप्त कर चुके थे। अतः आपकी खड़ीबोली की कविताओं में इन दोनों के गंगा-जमुनी सम्मिश्रण ने उस समय के विकासोन्मुख खड़ीबोली के पद्य-क्षेत्र में युगांतर-सा उत्पन्न कर दिया था, जिसके लिये हिंदी-काव्य-जगत् को 'दीन'जी का चिरऋणी रहना पड़ेगा। इसके प्रमाण में आपका एक बहुत बड़ा वीररसात्मक ग्रंथ "वीर-पंचरत्न" उपस्थित किया जा सकता है, जिसे आपने बाद को काशी में आकर लिखा था। उधर छत्रपुर में उन दिनों काव्यांगों का अध्ययन करने के पश्चात् आपने 'शृंगार-शतक', 'शृंगार-तिलक' तथा 'तुलसी-सतसई' के दोहों पर कुंडलियों की रचना की थी और हिंदी-साहित्य के प्रचारार्थ 'कवि-समाज' और 'काव्य-लता'-नामक दो सभाएँ एवं 'भारती-भवन'-नामक एक पुस्तकालय भी खोल रक्खा था। 'काव्य-लता'-नाम्नी सभा के सदस्यगण कविताएँ बना लाया करते थे, जिन्हें उनके गुरु श्रीपं० गंगाधर व्यासजी शुद्ध किया करते थे। इस समय 'दीन'जी ने और

काव्योत्थान-काल एवं साहित्य-सेवा का आरंभ

कविताओं के अतिरिक्त बड़े चुटीले फाग भी लिखे हैं, जिनका बहुत बड़ा संग्रह आपके घर में मौजूद है। आपके फागों का सम्मान वहाँ के राज-घराने में विशेष रूप से था और होली के दिनों में वे गाए जाते थे। उस समय आपकी फुटकल कविताएँ तथा लेख 'रसिकमित्र', 'रसिक-वाटिका', 'लक्ष्मी-उपदेश-लहरी' आदि स-सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में बराबर छपा करते थे। सन् १६०९ ई० में 'दीन'जी को गया से निकलनेवाली मासिक पत्रिका 'लक्ष्मी' का संपादन-कार्य भी मिला, जिसे आपने बड़ी योग्यता के साथ बहुत दिनों तक निकाला।

विस्तृत साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश

अब 'दीन'जी का मन छत्रपुर उचटा। कारण, आप एक विस्तृत साहित्य-क्षेत्र में आकर काम करना चाहते थे। इसके लिये आपने काशी को उपयुक्त स्थान समझा और उन्होंने अपने दो काशीस्थ मित्रों को इसके लिये पत्र भी लिखे। इन मित्रों ने 'दीन'जी की योग्यता की चर्चा श्रीबाबू श्यामसुंदरदासजी से की। उन्हीं दिनों बाबू साहब को संयोगवश छत्रपुर की ओर जाना भी पड़ा और वह 'दीन'जी से वहीं मिलकर, उनकी योग्यता देख उन्हें काशी बुला लाए। इस समय आपको काशी में दो काम करने को मिले। एक तो आप हिंदू-स्कूल में पर्शियन के अध्यापक नियुक्त हुए, दूसरे नागरी-प्रचारिणी सभा से निकलनेवाले प्राचीन कवियों के ग्रंथों का संपादन इन्हें सौंपा गया, जिसे आपने बड़ी उत्तमता के साथ किया। उसी के फल-स्वरूप प्राचीन कवियों के कितने ही अमुद्रित पड़े हुए दुर्बोध ग्रंथ-रत्न प्रकाशित हो साहित्य-संसार की शोभा अद्यावधि बढ़ा रहे हैं। इनमें 'हिम्मतबहादुर-विरदावली', 'सुजानचरित', 'राजविलास' आदि ग्रंथों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। 'लक्ष्मी'-पत्रिका का संपादन तो आप पहले से ही कर रहे थे। जिस समय आप नागरी-प्रचारिणी-सभा में कार्य कर रहे थे, उसी समय 'हिंदी-शब्द-सागर' के नाम से हिंदी का एक बहुत बड़ा कोश निकालने का सभा ने निश्चय किया। लालाजी उसके पाँच उप-संपादकों में से एक उप-संपादक बनाए गए और आपने बड़े अध्यवसायपूर्वक 'म' तक उसका संपादन भी किया। बाद को अपनी स्पष्टवादिता के कारण आपको सन् १६१८ के लगभग सभा से हट जाना पड़ा, और वहाँ से छूटते ही आप हिंदू-विश्व-विद्यालय में हिंदी के लेक्चरार नियुक्त हो गए।

'दीनजी' पुराने कैंडे के परम अध्यवसायी पुरुष थे।

व्यापक साहित्य-सेवाएँ एवं आलोचना-क्षेत्र

आपको जीवन में काम करते रहने की जितनी अधिक धुन रहा करती थी, उसकी चौथाई फ़िक्र भी नाम पैदा करने की नहीं रहा करती थी। इसी अध्यवसाय के कारण 'दीन'जी एक ओर तो नागरी-प्रचारिणी सभा में रहकर प्राचीन कवियों के अनेकानेक ग्रंथों का संपादन कर रहे थे, दूसरी ओर घर पर भी 'वीर-पंचरत्न'-सरीखे लोकप्रिय ग्रंथ की रचना, 'बिहारी-बोधिनी', 'कवितावली' आदि ग्रंथ-रत्नों की प्रामाणिक टीकाएँ तथा 'सूक्ति-सरोवर', 'अलंकार-मंजूषा' आदि अति प्रचलित ग्रंथों का निर्माण करते जाते थे। काशी आने के बाद आपका यह नियम-सा हो गया था कि वह प्रतिवर्ष एक नई पुस्तक निकाला करते थे। इसके अतिरिक्त समय-समय पर समालोचना-क्षेत्र के परिष्कार एवं हिंदी-साहित्य के प्रचार के लिये निरंतर विद्यादान की ओर भी आपका ध्यान बराबर बना ही रहता था। आपके कई आलोचनात्मक लेख 'बिहारी और देव' के नाम से कई पत्र-पत्रिकाओं में बड़ी शान के साथ निकल चुके हैं, जिनमें आपने हिंदी-साहित्य-संसार में कविवर बिहारी को कविवर देव से ऊँचा आसन दिलाया है। दूसरी ओर लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् श्रीपं० कृष्णविहारी मिश्रजी ने 'देव और बिहारी'-शीर्षक एक आलोचनात्मक निबंध लिखा था, जो पुस्तकाकार भी प्रकाशित हो चुका है।

हिंदी-साहित्य-विद्यालय की स्थापना

जिस समय 'दीन'जी सभा में काम कर रहे थे, उसी समय सन् १६१९ के लगभग हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की स्थापना हुई और उसकी परीक्षाओं का प्रचार-कार्य प्रारंभ हुआ। ऐसी दशा में काशी के कुछ छात्रों में इन परीक्षाओं की ओर विशेष अभिरुचि का होना स्वाभाविक था। फलस्वरूप उन्होंने सम्मेलन की परीक्षाएँ देने का दृढ़ संकल्प कर पारी-पारी से सभी स्थानीय विद्वानों के दरवाज़े खटखटाए, पर सभी के पास समयाभाव ही रहा। अंत में यह उत्सुक विद्यार्थीवृंद 'भगवान' के दरवाज़े पहुँचा। सर्वत्र से निराश इन विद्यार्थियों की दीनावस्था को 'दीन'जी तुरंत समझ गए और पढ़ाने की सहर्ष स्वीकृति दी

नहीं दी, वरन् दूसरे ही दिन से अपने घर में ही पढ़ाना भी आरंभ कर दिया । जब विद्यार्थियों की संख्या अधिक बढ़ी, तब घर में स्थानाभव के कारण 'दीन'जी उन्हें स्थानीय कंपनीबाग़ की हरी-हरी घास पर पढ़ाने लगे । किंतु बरसात के दिनों में पानी के कारण कठिनाई होने लगी । अतः ये लोग नागरी-प्रचारिणी सभा के बरामदे में एकत्र होने लगे । पर इनकी इस प्रकार की अद्भुत लगन से न-जाने क्यों सभा के संचालकों को भय हुआ । फल-स्वरूप सभा की हद के भीतर पढ़ाई ग़ैरक़ानूनी क़रार दी गई । अंत में यह बैठक 'हिंदी-साहित्य-विद्यालय' के रूप में परिणत होकर सनातन-धर्म-स्कूल और दयानंद-स्कूल के पुराने भवनों से होती हुई मालती-शारदा-सदन-पुस्तकालय, चौक में आ गई है । कहना न होगा कि यह विद्यालय अब बहुत प्रौढ़ावस्था को पहुँच चुका है और इसके संचालकों ने 'दीन'जी की स्मृति को सदैव बनाए रखने के लिये इसका नाम "भगवान 'दीन'-साहित्य-विद्यालय" कर दिया है । इस विद्यालय द्वारा कितने ही छात्र अब तक हिंदी-साहित्य की उच्च शिक्षा प्राप्त कर हिंदी-संसार में बहुत कुछ काम कर रहे हैं और भविष्य में भी इससे बहुत कुछ उपकार होने की आशा है । इस विद्यालय के संबंध में विशेष गौरव की बात यह है कि 'दीन'जी का यह एक-मात्र कीर्ति-स्तंभ आरंभ से ही हीन आर्थिक दशा में होते हुए भी, लालाजी की अपूर्व लगन एवं अध्यवसाय के कारण हिंदी-साहित्य-संसार में बड़ी शान के साथ काम करता आया है । इसमें पढ़कर कितने ही छात्र 'साहित्य-रत्न' तथा 'विशारद' हो चुके हैं । अब तक सम्मेलन की 'साहित्य-रत्न' उपाधि-परीक्षा को प्रथम श्रेणी में पास करने का गौरव यदि किसी को प्राप्त हुआ है, तो इसी विद्यालय के एक छात्र को हुआ है । विशारद-उपाधि-परीक्षा में तो इसके छात्र कितनी ही बार सर्वप्रथम तथा द्वितीय आए हैं एवं किसी समय इसका नतीजा शतप्रतिशत तक हुआ है ।

प्रकृति एवं काव्य-कौशल

हिंदू-विश्वविद्यालय में लेक्चरार हो जाने पर 'दीन'जी, पहले से ही संबंध-विच्छेद पर भी, यदा-कदा नागरी-प्रचारिणी सभा के कार्यकर्ताओं के आग्रहवश प्राचीन काव्य के संपादन का कार्य कर दिया करते थे । जिस समय सभा ने 'तुलसी-ग्रंथावली' के संपादन का निश्चय किया, लालाजी से इस कार्य में सहयोग-दान देने की प्रार्थना की गई । उस समय लालाजी ने गोस्वामी तुलसीदासजी के प्रति अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा-भक्ति का परिचय देते हुए इस कार्य को विना किसी पुरस्कार के करने की उदारता दिखाई थी । लालाजी की प्रकृति के संबंध में विशेष महत्त्व की एक बात यह थी कि वह यद्यपि समय की गति को भली भाँति समझते-बूझते थे, तथापि पुस्तक-प्रकाशन के समय उसकी भूमिका के विस्ताररूपी आडंबर के बाज़ारूपन से उन्हें बहुत चिढ़ थी । यही कारण था कि पहले बहुत दिनों तक आप बराबर ग्रंथों की भूमिकाओं में उतनी ही बातें दिखाया करते थे, जितनी विशेष महत्त्व की हुआ करती थीं । हाँ, इधर आकर आपके दो-चार ग्रंथों में जो भूमिका-विस्तार पाया जाता है, वह अपने कुछ प्रिय शिष्यों के आग्रहवश आपको करना पड़ा है । यही कारण है कि बिहारी और केशव-सरीखे महाकवियों के ग्रंथ-रत्नों की अत्यंत प्रामाणिक एवं सुबोध टीकाएँ करने का महान् श्रम उठाते हुए भी, आपको इनकी भूमिका के विस्तार से हाथ खींचना पड़ा था । 'कठिन काव्य के प्रेत' आचार्य केशव की कविता के संबंध में यह कहावत मशहूर थी—"कवि को देन न चहै बिदाई, पूँछै केशव की कबिताई"—सो लालाजी की ज़बरदस्त क़लम की करामात के आगे वह कितनी सुबोध हो गई, इसका पूरा परिचय उसके अध्येताओं को भली भाँति प्राप्त हो चुका होगा । लालाजी का व्रज, बुँदेलखंडी तथा अवधी भाषाओं पर इतना अधिक अधिकार था कि आपको जिस किसी कठिन-से-कठिन छंद का भी अर्थ लगाते देर नहीं लगा करती थी । आपके इस दावे का पता बहुतों को लग चुका था और कितने ही लोग बहुधा नए-नए छंदों को लेकर उनका अर्थ लगवाने आपके पास आया करते थे । इतना ही नहीं, आपने अपने हिंदी-साहित्य-विद्यालय में इसके लिये एक कठिनाई-निवारक सभा ही खोल रक्खी थी, जिससे बाहरवाले भी बहुधा लाभ उठाया करते थे ।

सादगी एवं मिलनसारी

लालाजी आजीवन सादगी की प्रतिमूर्ति तथा मिलनसारी के सच्चे उपासक थे । इनके अतिरिक्त भी आपमें जो अनेक व्यावहारिक सद्गुण पाए जाते थे, उनमें

स्पष्टवादिता एवं विनोदशीलता के गुण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'दीन'जी को गर्मी की छुट्टियों में अपने गाँव बरवट में मोटी धोती की कछनी काछे, कंधे पर एक अँगोछा तथा हाथों में सोंटा-खुरपी लिए बाग़ को जाते हुए जिस किसी ने देखा होगा, उससे देश की प्राचीन सादगी का अद्भुत रहस्य किसी प्रकार भी छिपा हुआ न रह गया होगा। आप बाल्यावस्था में प्रकृति के कुछ चंचल भी थे। वह अन्य बालकों के साथ नित्य प्रातःकाल बाग़ में जाते और चरने को जाती हुई भेड़ों के झुंड में से किसी पिछड़ी हुई भेड़ को पकड़ ये लोग उसे एक गड्ढे में लिटा देते और उसकी गर्दन पर जूता रख दिया करते थे, जिससे वह चुपचाप पड़ी रह जाती थी। कुछ देर बाद चरवाहों को दूर निकल गया देख ये उस भेड़ को उठाकर छोड़ देते और जब वह 'में-में' करती पीछे-पीछे दौड़ती, तो चरवाहे भेड़ को पीछे छूटी हुई समझ घबड़ा-से जाते। पेड़ों पर चढ़कर कूदना, निकटवर्ती नदी-तालाबों में जाकर तैरना आदि तो आपके नित्य के कार्य थे। आप अपनी मिलनसारी के गुण के कारण आजीवन सबके प्रिय थे। क्या शिक्षा-जीवन, क्या साहित्य-क्षेत्र और क्या अध्यापक-जीवन—सदैव आप अपने इस गुण के कारण अपने सहपाठी, मित्र, छात्र तथा सहाध्यापकों के प्रिय रहे। यहाँ तक कि कभी-कभी आपके मित्रों द्वारा जान-बूझकर भी किए गए आपकी विद्वत्ता की आज़माइश के प्रश्नों का उत्तर आप, इसे जानते हुए भी, बड़े प्रेम से दिया करते थे और जब कभी मौक़ा आ जाता, तो आप हाज़िर जवाबी से भी नहीं चूकते थे। हिंदू-विश्व-विद्यालय तथा हिंदी-साहित्य-विद्यालय में पढ़ाने का आपका ढंग भी अनोखा ही था। आप जिस कक्षा में पढ़ाने को जाते, सबसे पूर्व छात्रों को ख़ूब हँसाकर पढ़ाना आरंभ करते। आपका कहना था कि हँसने से मस्तिष्क में विकास एवं प्रफुल्लता आती है, जिससे विद्यार्थी आसानी के साथ अपने पाठ से अभ्यस्त हो सकते हैं। कहा जाता है कि आपके अध्यापन-संबंधी उत्कर्ष को, संभवतः सहन न कर सकने के कारण किसी ने एक बार इसकी शिकायत आपकी कक्षा में शोर अधिक होने के व्याज से मालवीयजी तक पहुँचाई थी। लालाजी के पास जिस समय भी जो आदमी आता, उससे—कहो कैसे चले?—यह बिना पूछे आप न रहते और उसकी बातों को बड़े प्रेम के साथ सुन अपनी सामर्थ्य-भर उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते। आप स्पष्टवादी तो इतने अधिक थे कि अपने समय को व्यर्थ नष्ट होता देख, अपने बड़े-से-बड़े प्रेमी तक से "अच्छा, अब आप जाइए, मुझे काम करना है।"—यह कहते तनिक भी नहीं सकुचाते थे। उन लोगों से लालाजी की सदा चिढ़ रहा करती थी, जो नाम के पीछे सदा दीवाने से फिरा करते हैं, आपका यह अटल सिद्धांत था कि काम करो, नाम स्वयं पीछे-पीछे दौड़ा फिरेगा। अपनी स्पष्टवादिता के ही कारण आपको अगर-मगर के कँटीले रास्ते से सदा झिझक थी और कभी-कभी तो काम आ पड़ने पर इस प्रकार की बातें करनेवालों से बेहद चिढ़ भी जाया करते थे। दीनदयालु वह परले दर्जे के थे। कितने ही विद्यार्थी उनसे रुपए और पुस्तकें बातें बनाकर हो झटक ले जाते। अपनी विनोदशील प्रकृति के कारण आप अपने मित्रों एवं छात्रों के सम्मुख सदा हँसते हुए ही पाए जाते थे। यहाँ तक कि आपने अपने अनेक मित्रों के विभिन्न विनोदात्मक नाम 'मुग्धा नायिका', 'परकीया नायिका' आदि रख छोड़े थे। कहने का तात्पर्य इतना ही कि 'दीन'जी में जितनी अधिक सादगी थी, उतनी ही मिलनसारी भी थी और जितनी अधिक स्पष्टवादिता थी, उतनी ही विनोदशीलता भी पाई जाती थी।

व्यापकता

'दीन'जी की विद्वत्ता सर्वतोमुखी थी। आप सुकवि थे, समालोचक थे, लेखक थे, अनुवादक थे, टीकाकार थे और थे कुशल संपादक। 'दीन'जी ने समय-समय पर बहुत-सी कविताएँ की हैं, किंतु खेद है कि अभी तक आपके 'वीर-पंचरत्न' और 'नवीन बीन'-नामक दो ही ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। आपने कविता के लिये उर्दू की बहरों के ढंग पर एक नया छंद ही निकाल रक्खा था। इसके अतिरिक्त आपने पद तथा अन्य प्रचलित छंद भी कहे हैं। आप कविता करते समय रसों के अनुकूल छंदः का प्रयोग करना अत्यावश्यक समझते थे। समस्यापूर्ति में आप इतने अधिक पटु थे कि कवि-सम्मेलनों में जाकर विना अपना हाथ दिखाए नहीं आते थे। आपकी कविताएँ बहुधा राष्ट्रीय भावों से ओत-प्रोत और शिक्षाप्रद हुआ करती थीं। इधर आपको कुछ ऐसी धुन-

सी बँध गई थी कि प्रायः कुल पूर्तियाँ आप श्रीराम-जानकी के संबंध की हो किया करते थे, जिससे आपकी अनन्य रामभक्ति का पता मिलता है। आपने 'मित्रादर्श'-नामक महाकाव्य तथा 'महाराष्ट्र देश की वीरांगनाएँ'-नामक खंडकाव्य भी लिखना आरंभ किया था, किंतु इनके थोड़े-से अंश ही लिखे जा सके। समालोचना-क्षेत्र में तो आपके उस्तादी के हाथ इतनी सफ़ाई से पड़ते थे कि पाठकों के सम्मुख आलोच्य कवि के वास्तविक गुण-दोषों का चित्र-सा खिंच जाया करता था। किंतु कभी-कभी आप इसमें अपनी स्पष्टवादिता का इतना अधिक समावेश कर दिया करते थे कि आधुनिक युग के कुछ लोगों को वह खटकती हुई-सी मालूम पड़ा करती थी। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि समस्त काव्यांगों के ज्ञाता एवं प्रकृति के परम पुजारी होने के कारण आप समालोचना-क्षेत्र में आलोच्य कविता की तह तक की बारीकियों को सहज ही दिखा सकने में सदा समर्थ पाए जाते थे। कहना न होगा कि हिंदी-साहित्य में पिछले दिनों के संकुचित समालोचना-क्षेत्र के प्रसार का बहुत कुछ श्रेय 'दीन'जी को प्राप्त है। 'दीन'जी की लेखन-शैली एक विचित्र ढंग की थी। आपकी भाषा, साधारण बोल-चाल की उर्दू-मिश्रित बामुहावरा हुआ करती थी। मँजी हुई भाषा में चुस्त मज़मून बाँधना आपको सदा पसंद था। फलस्वरूप आवश्यकता से अधिक लेख-विस्तार को आप नापसंद करते थे। 'दीन'जी का अनुवाद भी विद्वत्तापूर्ण हुआ करता था। अनुवाद करते समय मूल-लेखक के भावों के विलुप्त न होने का आप सदा ध्यान रखते थे। संपादन-कला और टीकाकारी में तो 'दीन' जी इतने अधिक सिद्धहस्त थे कि हिंदी-साहित्य के कितने ही दुर्बोध प्राचीन ग्रंथों को, जिन्हें क्लिष्टता के कारण बहुत कम लोगों को पढ़ने का साहस होता था, सर्वसाधारण के लिये सुबोध बना दिया। किसी ग्रंथ का संपादन करते समय उसमें पाठांतर कर देना आपको रुचिकर न था, इसलिये बहुधा आप ऐसे अव्यक्तार्थ स्थलों के लिये मूल-पाठ से मिलता-जुलता कोई साभिप्राय पाठ ही ढूँढ़ निकाला करते थे; क्योंकि पाठांतर देकर प्रस्तुत विषय को घपले में रख छोड़ना आप संपादकों की कमज़ोरी समझते थे। 'दीन'जी ने इस क्षेत्र में इतना अधिक काम किया है कि उसके कारण कुछ लोगों को आपके कोरे संपादक तथा टीकाकार होने का भ्रम-सा हो गया है। किंतु ऊपर दिखाई गई आपकी साहित्य-क्षेत्र की व्यापकता को देखते हुए यह उन लोगों का भ्रम ही कहा जायगा। यह बात दूसरी है कि इस क्षेत्र में आप इतने अधिक सिद्धहस्त हो गए थे कि अपना सानी नहीं रखते थे। आपकी टीकाएँ बड़ी विशद हुआ करती थीं। इसका कारण आपका अगाध ज्ञान-बल ही था।

स्व० लाला भगवानदीन (अपने दो शिष्यों-सहित)

आपकी साहित्यिक जानकारी इतनी बढ़ी-चढ़ी हुई थी कि किसी कविता का अर्थ करते समय कवि के मर्म को टटोलते आपको देर ही न लगती थी । इसके अतिरिक्त साहित्य के गौण अंगों—ज्योतिष, वैद्यक, तंत्रशास्त्र आदि—में भी आपका ख़ासा प्रवेश था । आपने अलंकार पर 'अलंकार-मंजूषा' तथा व्यंग्य पर 'व्यंग्यार्थ-मंजूषा' नामक रीति-ग्रंथ भी लिखे हैं । 'दीन'जी की अध्यापन-शैली इतनी मनोहर थी कि घंटों पढ़ने के बाद भी विद्यार्थियों का मन पढ़ने से नहीं उचटता था । आपके पढ़ाए हुए कितने ही छात्र कवि, लेखक, संपादक आदि होकर हिंदी-साहित्य-संसार में बहुत कुछ काम कर रहे हैं। आपके छात्रों में मुख्य ये हैं—राय गोविंदचंद्र बी०ए० विशारद, श्रीपं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र 'मुकुंद' साहित्यरत्न, श्रीपं० रामचंद्र शर्मा 'साहित्य-रत्न', श्रीपं० श्रीदेवाचार्य 'देव' साहित्यरत्न, श्रीबाबू कृष्णदेवप्रसाद गौड़ एम्० ए० एल्० टी० विशारद, श्रीपं० बेचन शर्मा 'उग्र', श्रीपं० मोहनवल्लभ पंत बी० ए० विशारद, श्रीपं० रमाकांत चौबे विशारद, श्रीबाबू कालिकाप्रसाद विशारद (सहकारी संपादक 'आज'), श्रीपं० रामप्रसाद पांडेय विशारद, श्रीपं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा 'रसिकेश' एम० ए०, श्रीबाबू बजरंगबली गुप्त विशारद, श्रीपं० श्रीकृष्ण शुक्ल विशारद आदि ।

लालाजी अपने माता-पिता की एकमात्र संतान थे । आपकी तीन शादियाँ हुई थीं और उनसे कई संतानें भी हुईं, किंतु सभी काल-कवलित हो गईं । आपकी दूसरी शादी प्रसिद्ध कवियित्री श्रीमती बुंदेलाबाला के साथ हुई थी । आपने स्वयं इन्हें पढ़ा-लिखाकर सुशिक्षित एवं कवियित्री बनाया था । आजकल आपकी विधवा पत्नी 'बाला'जी की छोटी बहन हैं । लालाजी अपने बाद अपनी विधवा स्त्री, पुस्तकें, हिंदी-साहित्य-विद्यालय (अब भगवान 'दीन'-साहित्य-विद्यालय) तथा शिष्य छोड़ गए हैं । सुना जाता है कि स्थानीय नागरी-प्रचारिणी सभा लालाजी के स्मारकस्वरूप उनका चित्रोद्घाटन करनेवाली है ।

कुटुंब

'दीन'जी ने यों तो अनेक ग्रंथों का संपादन, प्रणयन, टीका-टिप्पणी, अनुवाद आदि किए हैं, किंतु आपके 'वीर-पंचरत्न' का समादर हिंदी-संसार में विशेष रूप से है । यहाँ तक कि मध्यप्रदेश में यह पुस्तक घर-घर पाई जाती है और इसके अध्याय-के-अध्याय लोगों को याद हैं, जिन्हें वे गीति-काव्य की भाँति गाया करते हैं । आपको 'अलंकार-मंजूषा' ने साहित्य-संसार में विशेष ख्याति पाई है । 'भक्ति-भवानी'-नामक कविता लिखने पर कलकत्ते की बड़ाबाज़ार-लाइब्रेरी से आपको एक स्वर्ण-पदक मिला था । 'रूस पर जापान क्यों विजयी हुआ ?'-शीर्षक निबंध के लिये एक बार आप एक सौ रूपए के पुरस्कार से पुरस्कृत किए गए थे । आपने कई एक प्राचीन कवियों की प्रामाणिक जीवनियाँ भी लिखी हैं ।

समादृत ग्रंथ तथा पुरस्कृत लेख एवं कविताएँ

माया-नटी के आदेश से विकराल काल के छाया-रूप परदे के भीतर कविवर 'दीन'जी के जीवन-नाटक का अंतिम दृश्य, लगभग चौंसठ वर्ष की अवस्था में ही, बड़ी तेज़ी के साथ तैयार किया जा चुका था । इसके आरंभ का समय ता० ६ जुलाई सन् १९३० ई० का मध्याह्नोत्तर-काल नियत था, जब कि 'दीन'जी अपनी गर्मी की छुट्टियाँ बरवट गाँव (फ़तेहपुर) में ही बिता, कालेज खुलने का समय सन्निकट देख, अपने काशीस्थ मित्रों एवं छात्रों के सम्मिलन-रूपी विविध मनोरथों के रथ पर सवार हो घर से निकल पड़े । रेल पर सवार होते-होते आपको बड़े ज़ोरों का ज्वर चढ़ा और ज्यों-त्यों रात में आप काशी पहुँचे । सबेरा होते ही आपके बाएँ अंग में, काँख के नीचे, कुछ लाल सूजन देख पड़ी, जो दिनोंदिन बढ़ती जाती थी और उसकी असह्य वेदना ने आपको व्याकुल कर रक्खा था । यहाँ आने पर सभी साध्य उपाय किए गए, किंतु ज्वर में अंतर पड़ने पर भी सूजन में किसी प्रकार की कमी न हुई । अनंतर ता० १५ जुलाई को स्थानीय किंग एडवर्ड अस्पताल के इन्चार्ज डाक्टर एल्० एन्० राय बुलाए गए और उन्होंने सूजन के रोग का निदान "इरिपलास" (जहरबात) के नाम से किया । डाक्टर से यह भी पता चला कि 'दीन'जी के उसी बाएँ कंधे पर जो एक बड़ा मसा था, उसकी निवृत्ति के लिये लालाजी द्वारा उस पर आम के टूँसे का रस

रुग्णावस्था के कुछ संस्मरण

लगाए जाने पर, उसके फट जाने से उसका विष उनके अंग में फैल गया है। साथ ही, डाक्टर की राय उन्हें अस्पताल ले चलने की हुई और 'दीन'जी ता० १६ को अस्पताल पहुँचाए गए। कौन जानता था कि 'दीन'जी आजीवन अपने कंधे पर काल को ढोए फिरते हैं। इतने पर भी काल को तरस न आई! न आई!

अस्पताल का जीवन सर्वथा दुःखकर होते हुए भी अपने प्रिय विद्यालय के छात्र-मंडल के बीच 'दीन'जी सदा प्रफुल्लित ही पाए जाते थे। यौवनकाल में हृदय में सवेग बहनेवाली रसिकता का वह प्रवाह यद्यपि कुछ मंद पड़ गया था, तथापि उसका प्रवाह निरंतर जारी था और उनके प्रकृति-पर्यवेक्षण की पूर्वाभिलाषा, बहुत अधिक अशक्त होते हुए भी, ज्यों-की-त्यों पाई जाती थी। अस्पताल पहुँचते ही वहाँ अचानक कोयल कुहुक पड़ी। इसे सुन 'दीन'जी-सरीखा रसिक एवं प्रकृति-पर्यवेक्षी पुरुष भला रोग-शय्या पर कैसे लेटा रह सकता था! वह कहने पर तुरंत उठाकर बैठाए गए; किंतु उनका दूसरा अनुरोध उन्हें कोयल तक ले चलने का उस समय पूरा न किया जा सका। फलस्वरूप कुछ देर बाद, अपने को वहाँ अकेला पा वह स्वयं कोयल के शब्द की ओर चल पड़े। इतना ही नहीं, उन्हीं दिनों अस्पताल में ही अपने छात्रों का एक वर्षा-कवि-सम्मेलन करने के लिये आप परम उतावले देख पड़ते थे, जिसमें स्वयं भी अपनी कविताएँ सुनाने की अभिलाषा प्रकट करते थे। अस्पताल में २-३ दिन ही बीत पाए थे कि सूजन को बैठता हुआ देख सबके हृदयों में आशा की झलक कुछ दिनों के लिये आभासित हो उठी। इसी समय, एक दिन 'दीन'जी को कविवर 'देव' की यह सवैया याद आई—

"माखन सौं मन दूध सौं जोबन हैं दधि तैं अधिकै उर ईठी,
छैल रँगीलिका छाछिके आगे समेत सुधा बसुधा सब सीठी;
नैननि नेह चुवै कवि 'देव' बुझावत चैन वियोग अमीठी,
ऐसी रसीली अहीरी अहै कहु क्यों न लगै मनमोहनै "मीठी"

इसे वहाँ उपस्थित छात्रों को सुनाकर "मनमोहनै मीठी" शब्दों को लेकर आप 'देव' कवि की ज़बाँदानी पर बेहद झुँझला उठे और कहने लगे कि लालाजी तो शब्दों पर मरनेवाले हैं। जब दूध, दही, माखन आदि सब सामान अहीरिन के साथ ही मौजूद हैं, तो "मनमोहनै मीठी" कैसा? इतने में आपके एक प्रिय शिष्य ने यह कहा कि गुरुजी, क्या यहाँ 'गोपालहिं' शब्द चाहिए? आप मुस्कराकर कहने लगे—'हाँ, यही मैं भी कहता हूँ।' 'दीन'जी के इन शब्दों में ज़बाँदानी की कितनी गर्वोक्ति मौजूद थी, इसे कोई सहृदय व्यक्ति ही समझ सकता है। हिंदी-साहित्य-क्षेत्र के इस महारथी ने अपने जीवन में जिस व्रत का अवलंबन कर रक्खा था, उसका वह आजीवन, मरते दम तक, पूरा प्रयासी पाया गया। किंतु 'दीन'जी का वह प्रयास भ्रांत आधार पर कभी स्थित न हुआ, बल्कि सदा सत्य आधार ही ढूँढ़ता रहा।

अस्तु, इसके दो-एक दिन बाद ही लोगों की आशा की वह झलक दुराशारूप में परिणत हो गई। कारण, आपकी वह सूजन स्वयं तो बैठ गई, किंतु त्रिदोष-सरीखे भयंकर रोग को उसने उत्पन्न कर दिया, दस्तों का ताँता बराबर आठ दिनों तक बँधा रहा. रही-सही शक्ति भी जाती रही तथा आपके हृदय में तेज़ी के साथ उठी हुई श्वास कीधड़कन ने सभी के दिलों को धड़का दिया। इतने पर भी 'दीन'जी का ज्ञान पूर्ववत् बना रहा, आपको रसिकता का सरस बिरवा मुरझाने न पाया और ज़बाँदानी का हौसला पस्त न हुआ। आशा की झलक ने दुबारा फिर पलटा खाया, किंतु अधिक दिनों तक वह न रह सकी। पहले की वह बैठी हुई सूजन निर्मूल न हुई थी, जिससे समय पाते ही ता० २५ की शाम को दाहनी कनपटी पर वह कालरूप में आ डटी। प्रातःकाल, नित्य के नियमानुसार डाक्टर ने सुई लगाई। सुई देते समय नित्य की भाँति "सीताराम-सीताराम" की रट लगाते हुए लालाजी आज झुँझलाकर कह बैठे—"यार! तुमने तो तमाम बाँह छेद डाली, इतने छेद तो आशिक-माशूक भी नहीं करते हैं।" 'दीन'जी ने इस वाक्य से, इस अत्यंत अशक्तावस्था में भी, डाक्टर से कोमल शब्दों में 'तरस' की भिक्षा कैसे मार्मिक ढंग पर माँगी थी, इसे बिरला सहृदय व्यक्ति ही समझ सकता है! धन्य! साहित्यिकता के आजीवन दीवाने 'दीन' और आपका कवि-हृदय, जिसने मरते दम तक आपका साथ देते हुए रुग्णावस्था की दारुण-से-दारुण यंत्रणाओं तक को भुला रक्खा था। इसी दिन आपने अपने एक छात्र से यह भी कहा था कि मैं डाक्टरों की दवाओं से नहीं अच्छा होऊँगा। एक अच्छा कवि-सम्मेलन करो और मुझे बढ़िया आम की भाँग छनाकर कविताएँ सुनाओ, तो मैं अच्छा हो जाऊँ।

स्वर्गवास

इसके अनंतर ता० २८ जुलाई, सन् १९३० ई० का वह दिन उपस्थित हुआ, जिसने हिंदी-संसार की कितनी ही आशाओं पर पानी फेर दिया, साहित्यिक क्षेत्र पर वज्रपात का कारण हुआ और कविता-कामिनी को अंत में विधवा बनाकर ही छोड़ा। अर्धरात्रि से ही कफ के प्राबल्य तथा कनपटी की सूजन के गलेपर्यंत भयानक रूप में प्रसार के कारण लालाजी की बेचैनी अधिक बढ़ गई। प्रातःकाल हुआ और—और उसके गर्भ में एक साहित्यिक के जोवन की अनित्यता का कुछ प्रत्यक्ष आसार लक्षित हो रहा था तथा विकराल काल की छाया उसमें प्रच्छन्न रूप से अंतर्हित थी। ऐसी दशा में लालाजी की अर्जित सुकृति-राशि ने ज़ोर पकड़ा और अपने अमर कीर्तिस्तंभ 'हिंदी-साहित्य-विद्यालय' के प्रति आपके प्रगाढ़ प्रेम में उफान आया। चट पालकी मँगाई गई और आप विद्यालय-भवन में लाए गए। यहाँ पहुँचते ही बग़ल के श्रीराधा-कृष्ण के मंदिर से विष्णु-चरणोदक आया, जिसे पान-कर आपने बहुत कुछ सांत्वना प्राप्त की।

भगवान् के अत्यंत क्षीण हो जाने के कारण आज का दिन भी शीघ्र ही बीत चला। संध्या के रूप में विकराल काल की छाया प्रकट हो चली, जिसकी सहायता पा रोग-राहु ने आज रात में साहित्यिक संसार में अवश्य राहज़नी करने का दृढ़ संकल्प कर लिया। संभवतः यही कारण था कि भगवान् दिनकर आज शीघ्र ही भाग निकले। संध्या हो चुकने पर बग़ल के ठाकुरद्वारा में आरती हुई और लालाजी की आरती दी गई। राहु बराबर अपनी ताक में लगा हुआ था, जिसके कारण अपने सहायक मित्र भगवान् का भावी अनिष्ट स्मरण कर हिमकर भी चिंतित देख पड़ता था। एक प्रहर रात बीतते-बीतते भय-विह्वल हिमकर ने अपनी ज्योति क्षीण कर दी, ताकि राहु को अंधकार में मार्ग ही दिखाई न दे सके। हुआ भी यही, भुवनभास्कर भगवान् तो पहले से ही भाग निकले थे, हिंदी-साहित्याकाश के भगवान् में उसे उनका भ्रम हुआ और उसने आ दबाया। 'दीन' जी के जीवन-नाटक का अंतिम भयावह कारुणिक दृश्य समाप्त हुआ, उनके नेत्रपटलों का अंतिम परदा पड़ गया, दर्शक चीख़ उठे और प्रकृति निस्तब्ध हो उठी।

देवाचार्य देव

दीपक-दीप्ति

(१)

तेरी प्रशंसा क्या करें,
तू श्रेष्ठ और अनूप है;
हे दीप ! इस संसार में
तू ब्रह्म का ही रूप है।

(२)

उपकार में तल्लीन हो,
नर नित्य पाते हैं तुझे;
तो भी न गाते गुण कभी,
पर वे जलाते हैं तुझे।

(३)

तू निज दशा को देखकर,
होना कभी मत शोक में;
है, क्योंकि मिलता सुख नहीं
उपकारियों को लोक में।

(४)

आश्चर्य है इस बात का,
तू स्नेह-युत होकर भला;
करता नहीं है स्नेह, पर
देता शलभ को है जला।

(५)

प्रेमी-निरादर कर महा,
जो लूटते असु-संपदा;
तेरी तरह वे भी जगत में,
हैं जला करते सदा।

(६)

नीचे हुआ तमयुक्त क्यों,
द्युतिमय बनाकर गेह को;
करता मुदित क्यों तू हमें,
अपनी जलाकर देह को।

(७)

खाकर तिमिर तू ज्योति को,
उत्पन्न कैसे कर रहा?
क्यों कालिमा से कांतिमय,
है गेह को तू भर रहा?

(८)

संभव यही, है उगलता,
तू भुक्ततम को इस तरह;
है भस्म रह सकती बता,
तेरे उदर में किस तरह?

(९)

है कामिनी-शृंगार में,
जो काम आता सर्वदा;
है लोचनों का हार जो,
या है, अलौकिक संपदा।

(१०)

है यामिनी जब जगत की,
तेरा दिवस होता तभी;
उस काल तू सो जायगा,
जब जाग जाते हैं सभी।

(११)

कर प्राप्त उच्चासन सदा,
सम्मान पा करके महा;
है प्राणियों को प्रेम से
उपदेश तू यह कर रहा।

(१२)

"मेरे सदृश ही जागती,
है ज्योति तुममें कांतिमय;
पर, दीप्ति मेरी भ्रांतिमय
है और वह सुख-शांतिमय।

(१३)

"मुझको जलाने से कभी,
उद्धार हो सकता नहीं;
मन का अँधेरा बंधुओ,
मुझसे मिटेगा क्या कहीं?"

(१४)

"उससे मिलाओ ज्योति को,
अपनी मिटाओ आपदा;
है जगमगाती ज्योति जो
सर्वत्र, सबमें, सर्वदा।"

कुमार प्रतापनारायण

कालिदास का मदन-दहन

(शेषांश)

किंतु कालिदास का पूरा कुमारसंभव तथा उनके अन्य ग्रंथ पढ़ने पर एक और बात भी मन में स्थान कर लेती है। कालिदास उस समय के कवि थे, जब भारतवर्ष में पौराणिक देवताओं का अस्तित्व विश्वसनीय था ; और जल के देवता वरुण, आग के देवता अग्नि, मृत्यु के देवता यम आदि की ही भाँति मनोविकारों के देवता और देवी काम और रति माने जाते थे। पौराणिक कथाओं के अनुसार मदन-दहनवाली इस प्रसिद्ध घटना के पूर्व 'काम' भी अन्य देवताओं की भाँति शरीरधारी था, और इसी घटना के बाद वह अशरीरी, अतनु, होकर संसार में रहने लगा।

मेरा विश्वास है कि कालिदास अपने काव्यों में हमारे सामने तत्कालीन भारत के उस विश्वास को लेकर ही आते हैं। यह बात और स्पष्ट हो जाती है, जब हम आगे देखते हैं कि मदन-दहन होने पर काम की स्त्री रति का विलाप एक पूरे सर्ग में कराया जाता है। वास्तव में देखा जाय, तो काम-विकार के नष्ट होने पर 'रति' नाम की किसी वस्तु या विकार का बाक़ी रह जाना और विलाप करना असंभव है। पर कालिदास काम के देव-स्वरूप को स्वीकार करते हैं और प्रत्येक देवता के साथ उसकी पत्नी का होना स्वाभाविक होने के कारण वे 'रति' को भी अपने काव्य से हटा नहीं सकते ! और इसी विश्वास के अनुसार वे इंद्र और काम का संवाद करा देते हैं। हमें भी कवि के इस विश्वास के होते हुए भी, उसके साथ उसी रस का उपभोग करते हुए चलने में कोई आपत्ति तब तक नहीं है, जब तक वह इस विश्वास के कारण किसी स्थान पर यह न भूल जाय कि काम वास्तव में एक विकार है। अर्थात् वह उसके शरीरी होने से कोई अनुचित लाभ न उठाए।

इस प्रकार कवि ने अपना क्षेत्र बहुत कोमल, बहुत नाज़ुक बना लिया है। देखें, वह कितना सफल होता है !

अब तक कथा के साथ-साथ हम शंकर के आश्रम के पहरेदार नंदी के प्रसंग तक आ चुके हैं ; और यहीं से यह कोमल क्षेत्र और कोमल होता जाता है, अतः आगे बढ़ने के पहले हमें इस प्रसंग पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए।

वसंत की सेना का आगमन, प्रकृति का उद्दीपक परिवर्तन देखकर शिव के गणों का नायक नंदी अन्य गणों को सावधान रहने का संकेत करता है। उसकी आज्ञा का तुरंत पालन होता है। गण ही नहीं—वे तो उसके अधीन थे ही—पर सारा कानन (शायद कानन का रूपक गणों के साथ बाँधा गया है !) उनकी आज्ञा मानता है, शांत हो जाता है। सारा लड़ाई का जोश ठंढा हो जाता है।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यह नंदी कौन है ? क्या वास्तव में शंकर का कोई सेवक है ? पर यदि ऐसा है, तो उसने वसंत द्वारा परिचालित प्रकृति को किस तरह वश में किया ?

मेरी समझ में इसका बड़ा सुंदर अर्थ इस प्रकार होगा। शंकर समाधि-मग्न हैं। अपनी आत्मा का अवलोकन कर रहे हैं। उनकी सारी इंद्रियाँ इस समय अचेत हैं। उनकी देह, उनके बाह्य उपकरण, सब निर्जीव-प्राय हैं। क्योंकि शंकर का ध्यान उधर नहीं ! शंकर की देह के इन बाह्य उपकरणों का ही रूपक शायद नन्दी के साथ बाँधा गया है। नंदी का यहाँ मुख्य कार्य यही होता है कि वह प्रकृति के उद्दीपन को रोक देता है। दूसरे शब्दों में—वसंत-जनित प्रकृति का उद्दीपन शंकर की देह-स्थित भिन्न-भिन्न इंद्रियों के साथ टकराना चाहता है, उन्हें भी उद्दीप्त करना चाहता है। यदि वे इंद्रियाँ चेतन होतीं, तो अप्सराओं के गाने से शंकर के कान मुग्ध हो जाते, फूलों की सुगंध से घ्राणेंद्रिय मत्त हो उठती, शीतलवायु के स्पर्श से शरीर रोमांचित हो उठता, वह सुहावना दृश्य देखकर आँखों में एक विचित्र भाव

उत्पन्न हो जाता। पर शंकर समाधिस्थ थे, उनकी इंद्रियों से टकराकर प्रकृति की वह उद्दीपन-शक्ति नष्ट हो गई; अर्थात् उस उद्दीपन का शंकर की इंद्रियों पर कोई प्रभाव न पड़ा—और इस प्रकार, नंदी की आज्ञा से प्रकृति की चंचलता दूर हो गई!

किंतु—

"दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरःशुक्रमिव प्रयाणे।
प्रान्तेषु संसक्तनमेरुशाखं ध्यानास्पदं भूतपतेर्विवेश ॥४३॥

काम शंकर के आश्रम में घुस जाता है। नंदी की देखरेख का कोई फल नहीं होता। क्यों? इसीलिये कि काम सूक्ष्म विकार है। वह जाकर उन अचेतन इंद्रियों में स्थान कर लेता है। ज्यों ही शंकर सचेत होंगे—उनकी इंद्रियाँ 'काम' के आदेश से मचल उठेंगी। और इस प्रकार काम का शंकर के आश्रम में इस प्रकार प्रवेश करना बड़ा रहस्य-पूर्ण है।

वहाँ जाकर कामदेव क्या देखता है—

"स देवदारुद्रुमवेदिकायां शार्दूलचर्मव्यवधानवत्याम्।
आसीनमासन्नशरीरपातः त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श ॥ ४४ ॥
पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायं ऋज्वायतं सन्नमितोभयांसम्।
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये ॥ ४५ ॥
भुजङ्गमोन्नद्धजटाकलापं कर्णावसक्तद्विगुणाक्षसूत्रम्।
कण्ठप्रभासङ्गविशेषनीलां कृष्णत्वचं ग्रन्थिमतीं दधानम् ॥४६॥

एक देवदारु के वृक्ष के नीचे सिंह-चर्म पर संयमी शंकर समाधि में बैठे हैं। पर्यंक-बंधन आसन लगाए हैं। शरीर बिलकुल सीधा है। दोनों कंधे झुके हुए हैं। गोद में उत्तान रक्खे हुए दोनों हाथ खिले हुए कमलों के समान जान पड़ते हैं। उनका जटा-कलाप साँपों से बँधा हुआ है। कानों में दुहरी अक्षमाला पड़ी हुई है, और ग्रंथि-युक्त कृष्ण मृग के चर्म का आर्जन धारण किए हुए हैं।

यह तो हुआ शंकर का शारीरिक स्थूल वर्णन! जिससे कामदेव ख़ूब परिचित था। पर आगे जो कुछ देखा वह कामदेव के लिये विशेष भावोत्पादक था।

"किञ्चित्प्रकाशास्तिमितोग्रतारैः भ्रूविक्रियायां विरतप्रसङ्गैः।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैः लक्ष्यीकृतघ्राणमधो मयूखैः ॥ ४७ ॥
अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरङ्गम्।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निर्वातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ॥४८॥
कपालनेत्रान्तरलब्धमार्गैः ज्योतिःप्ररोहैरुदितैः शिरस्तः।
मृणालसूत्राधिकसौकुमार्य्यां बालस्य लक्ष्मीं ग्लपयन्तमिन्दोः॥४९॥
मनोनवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥ ५० ॥

उनके आँखों की भीषण, चमकदार पुतलियाँ निश्चल होकर नासिका की ओर देख रही थीं और भौंहें चढ़ी हुई थीं। क्या यह रूप देखकर भी कामदेव न डरा होगा?

अंतश्चर प्राणादि वायु-समूह को रोकने से उनकी विचित्र ही आकृति हो गई थी। कवि इस संबंध में तीन उपमाएँ देता है। (१) वे बिना बरसते हुए बादलों के समूह के समान जान पड़ते थे। (२) अथवा वे तरंग-हीन समुद्र की भाँति थे। (३) या वायु-रहित स्थान में निश्चल दीप-शिखा की भाँति!

कितनी उत्तम उपमाएँ हैं! शंकर की समाधि-अवस्था का कैसा सुंदर चित्र है। उनकी गंभीरता और निश्चलता का अपूर्व दृश्य सामने आ जाता है। उनके सिर के कपाल-नेत्र की राह जो ज्योति के अंकुर निकल रहे थे, उनके आगे बालेंदु की शोभा फीकी पड़ रही थी। कितना शांत दृश्य है।

वे अपने मन को समाधि द्वारा भीतर-ही-भीतर नवों द्वारों के मार्ग से हटाकर अपने वश में करके उस आत्मा को अपने ही में देख रहे थे, जिसे आत्मज्ञानी लोग अक्षर, अनाशवान् कहते हैं।

शंकर का इतना सुंदर वर्णन पढ़ते-पढ़ते भी पाठक को यह वर्णन अधिक विस्तृत-सा जान पड़ता है, उसका जी ऊबने लगता है—वह सोचने लगता है कि वह तो 'किरातार्जुनीय' के नारद-वर्णन से कुछ कम नहीं! वह संस्कृत के कवियों के वर्णनों की इस अहैतुक विस्तृति पर झुँझलाना ही चाहता है कि सहसा वह देखता है—

स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रं पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम्।
नालक्षयत्साध्वससन्नहस्तः स्रस्तं शरं चापमपि स्वहस्तात् ॥५१॥

(अर्थात्—इतने पास से शंकर का यह रूप देखकर कामदेव डर के मारे इस प्रकार जहाँ का तहाँ खड़ा रह गया कि उसके हाथ से धनुष-बाण कब गिर गए—यह उसे जान भी न पड़ा!)

पाठक का सारा संदेह दूर हो जाता है। कवि की प्रतिभा के सामने मस्तक झुका देता है। कवि को शंकर भी समाधि-अवस्था से मदन को भयभीत करा देना इष्ट है। इसकी पूर्ति वह कदापि इतनी सफलता से न कर सकता, यदि वह शंकर की समाधि-अवस्था का, उस

शांति पूर्ण तेजस्वी मूर्ति का, उनकी प्रभावमयी गंभीरता का इस प्रकार वर्णन न करता ! यदि संक्षिप्त रूप में शंकर का वर्णन करके कवि कामदेव के हाथों से डर के मारे धनुष-बाण छुड़वा देता, तो यह अस्वाभाविक-सा जँचता। शंकर का प्रभाव तो उससे अवश्य कुछ बढ़ जाता, पर कामदेव सर्वथा कायर बन जाता। फिर वह शिव को जीतने चला ही किस बूते पर था ? किंतु अब ऐसा होना महा स्वाभाविक है, परम सुंदर है !

पर अब तो इस प्रकार कवि सारा काम ही चौपट किए दे रहा है। इस प्रकार डरकर यदि काम अपने कार्य से विमुख हो गया, तब तो कुछ बात ही नहीं हुई। किंतु कालिदास ने यह विघ्न भी डालकर अपना काम ही बनाया है, और वह भी बड़ी ख़ूबी के साथ !

जिस समय कामदेव इस प्रकार भयभीत होकर जहाँ का तहाँ खड़ा रह गया, उसी समय—

निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्य्यं संधुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन।
अनुप्रयाता वनदेवताभ्यामदृश्यत स्थावरराजकन्या ॥ ५२ ॥

अपने शरीर की शोभा से कामदेव के निर्वाण-प्राप्त वीर्य को प्रज्वलित करती हुई-सी पार्वती आती दिखाई पड़ीं।

कैसा अपूर्व दृश्य है ! इसी बहाने पार्वती का सौंदर्य भी कितने स्वाभाविक रूप से कितने उच्च शिखर पर पहुँचा दिया गया है। जिसे देखकर कामदेव की गई हुई हिम्मत फिर लौट आई। वह यथार्थ ही असामान्य सुंदरी होगी।

इस प्रकार पहले कामदेव को शंकर के रूप से डराकर, उसको उसके कार्य में निरुत्साह करके कवि ने फिर पार्वती को बुलाकर जिस ख़ूबी से उसमें फिर उत्साह उत्पन्न किया है—यह सब अत्यंत कवित्वपूर्ण है, परम सुंदर कल्पना है ! इससे इसमें कितना नाट्य-सौंदर्य बढ़ जाता है, यह रसिक पाठक ही अनुभव कर सकते हैं।

गोसाईंजी ने इस समय यहाँ पार्वती को नहीं बुलाया है। संभवतः पार्वती को काम का अस्त्र बनाना भक्त तुलसीदास को न रुचा हो ! किंतु यदि यथार्थ में देखा जाय, तो पार्वती के न होने पर कामदेव का अपना काम पूरा कर लेना एक अनर्गल कल्पना ही है ! मैं पहले ही कह चुका हूँ कि कालिदास यद्यपि कामदेव को एक देवता समझकर, एक व्यक्ति मानकर, उसकी कहानी कह रहे हैं ; पर वे यह कभी नहीं भूले कि वह एक मानसिक विकार है। वे उसके वास्तविक स्वरूप को भूल जाने का दुस्साहस नहीं कर सके। तभी तो उन्होंने विना किसी स्त्री के काम का कार्य पूरा होते नहीं समझा। यह बराबर उनके ध्यान में था कि दोनों आलम्बन-विभावों (नायक-नायिका) के विना काम का कार्य अधूरा ही रहता है। काम का कार्य शृंगार-रस से संबंध रखता है। नायक के मन में काम-विकार उत्पन्न करने के लिये जो सर्वोत्तम साधन हो सकते थे, उन्हीं से यहाँ कालिदास ने काम लिया है। सबसे पहले नायक के आसपास उसने शृंगार-रसोत्पादक वायुमण्डल बनाने की आवश्यकता समझकर उद्दीपन-विभाव उत्पन्न किया। यह काम वसन्त की सहायता से संपन्न हुआ। सारी प्रकृति मत्त होकर नायक को उन्मत्त करने का प्रयत्न करने लगी। किन्नरियाँ नाना प्रकार के सुंदर गीत गाने लगीं। उद्दीपन-विभाव का पूरा सामान कर दिया गया। साधारण कामी पुरुष के मन को उत्तेजित करने के लिये तो इतना ही पर्याप्त होता है; उसका मन इतने ही से विचलित हो जाता है। किंतु संसार में ऐसे पुरुष भी कम नहीं, जिनके मन केवल उद्दीपन-विभाव से ही विचलित नहीं होते। फिर ये तो शंकर ही थे। उन पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। अब कामदेव का असली साधन था—नायिका ! शृंगार-रस का कार्य है नायक-नायिका में परस्पर रति उत्पन्न करना, किंतु जब नायिका ही न होगी, तब नायक के मन में रति उत्पन्न होगी ही किसके लिये ? काम का यही तो मुख्य साधन है। उसके विना काम से शंकर को जीतने का प्रयत्न कराना उसके वास्तविक स्वरूप को समझने के सिवा क्या है ! काम एक मानसिक विकार है, जो नायक-नायिका में परस्पर एक दूसरे के प्रति उत्पन्न होता है—यह एक साधारण बात है।

पर गोसाईंजी को संभवतः काम के वास्तविक स्वरूप का ध्यान न रहा। वे उसे एक व्यक्ति ही समझकर सब कुछ करा गए। मानो वह भी कोई ऐसा ही साधारण प्रकार का शत्रु था, जो तीर चलाकर किसी को मार डालता।

अस्तु ! यहाँ पार्वती का आना नितांत आवश्यक था और उन्हें लाकर कालिदास ने अपनी पूर्ण प्रतिभा का परिचय-मात्र दिया है।

पार्वती की शोभा का, उनके सौंदर्य का वर्णन भी कालिदास ने यहाँ परिस्थिति के अनुकूल ही किया है। उस समय पार्वती जो आभूषण पहने थीं, वे सब पुष्पों के ही थे। कवि जानता था कि ऐसे समय, जब कि वहाँ का सारा वायु-मंडल ही प्रकृति की सुंदर छटा दिखा रहा है, पार्वती का पुष्प-शृंगार ही सबसे सुंदर जान पड़ेगा—और सारे शृंगार इस समय फीके पड़ जायँगे। इस प्रकार इस दृश्य में एक प्रकार का सात्विक सौंदर्य भी लाने का प्रयत्न किया गया है। वे उस समय साक्षात् प्रकृति देवी की ही मूर्ति बन गई थीं। वन-देवियाँ उनके पीछे आ रही थीं। अशोक के फूलों के गहनों के सामने पद्मराग मणि फीकी पड़ती थी; कर्णिकार के फूल सोने को लज्जित करते थे; सिंधुवार के फूल मोतियों के कलाप जान पड़ते थे—इस प्रकार उनके सारे आभूषण पुष्पमय ही थे। यही नहीं, बल्कि कवि तो उन्हें चलती-फिरती हुई लता के ही रूप में देख रहा है। कैसी सुंदर कल्पना है। स्तनों के भार से मानो कुछ झुकी हुई-सी पार्वती के साथ फूलों के बोझ से झुकी हुई लता का कैसा सुंदर साम्य है। कामदेव की दूसरी प्रत्यंचा के रूप में जो केसर की माला की करधनी वे पहने थीं, उसके कुछ नीचे खिसक जाने के कारण वे हाथ में उठाए हुए हैं! कैसा सुंदर चित्र है, कितना स्वाभाविक! उनके सुगंधित निश्वास से खिंचकर एक भौंरा उनके बिंबाधर के पास मँडरा रहा है, जिसे चंचल दृष्टि से देखती हुई वे अपने हाथ के कमल से हटा रही हैं। कैसा सजीव चित्र है! धन्य हो कवि! रति को भी लज्जित करनेवाली ऐसी सर्वांग-सुंदरी पार्वती को देखकर जितेंद्रिय शिव को भी जीतने का 'काम' को विश्वास हो गया—

पार्वती का यह विचित्र रूप-वर्णन अपूर्व है। संस्कृत के छंदों का लालित्य, भाषा का माधुर्य देखते ही बनता है—

"अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्धुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥ ५३ ॥
आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम् ।
पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥ ५४ ॥
स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनःपुनः केशरदामकाञ्चीम् ।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण मौर्वीं द्वितीयामिव कार्मुकस्य ॥ ५५ ॥
सुगन्धिनिःश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम् ।
प्रतिक्षणं सम्भ्रमलोलदृष्टिः लीलारविन्देन निवारयन्ती ॥ ५६ ॥
तां वीक्ष्य सर्वावयवानवद्यां रतेरपि ह्रीपदमादधानाम् ।
जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंस ॥ ५७ ॥

इस कोमल-कांत-पदावली में कैसा सुंदर चित्र छिपा हुआ है! पाठक मुग्ध हो जाते हैं। किंतु अब तो और भी मधुर, और भी कोमल दृश्य सामने आ रहा है।

"भविष्यतः पत्युरुमा च शम्भोः समाससाद प्रतिहारभूमिम् ।
योगात्स चान्तःपरमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपारराम ॥ ५८ ॥
ततो भुजङ्गाधिपतेः फणाग्रैरधः कथञ्चिद्धृतभूमिभागः ।
शनैः कृतप्राणविमुक्तिरीशः पर्यङ्कबन्धं निबिडं बिभेद ॥ ५९ ॥
तस्मै शशंस प्रणिपत्य नन्दी शुश्रूषया शैलसुतामुपेताम् ।
प्रवेशयामास च भर्तुरेनां भ्रूक्षेपमात्रानुमतप्रवेशाम् ॥ ६० ॥

अब पार्वती अपने भावी पति शंकर के आश्रम के द्वार पर पहुँच गईं, और उसी समय दैवयोग से शिव भी परमात्मा की ज्योति के दर्शन कर चुके, तथा समाधि तोड़कर आसन-भंग किया। इसी समय उनके द्वारपाल नन्दी ने अभिवादन करके पूजन करने को आई हुई पार्वती के प्रवेश के संबंध में पूछा। शिव ने भौंहों के संकेत से उनके आने की स्वीकृति दे दी, और पार्वती का प्रवेश कराया गया।

नंदी के रूपक के संबंध में जो बात मैं कह चुका हूँ, वह यहाँ भी लागू होती है। शंकर का बाह्य इंद्रियाँ ही 'नंदी' हैं। इसका विश्लेषण पहले प्रसंग में मैं कर ही चुका हूँ। यहाँ भी इसकी संगति अच्छी तरह मिल जाती है। शंकर ने समाधि से जागकर अपनी इंद्रियों को चेतन कर दिया। उनकी नेत्र आदि इंद्रियों ने पार्वती की उपस्थिति का अनुभव करके शंकर को सूचना दी। यही नंदी का कार्य हुआ।

अब कामदेव शंकर से लड़ाई छेड़ता है—

"तस्याः सखीभ्यां प्रणिपातपूर्वं स्वहस्तलूनः शिशिरात्ययस्य ।
व्यकीर्यत त्र्यम्बकपादमूले पुष्पोच्चयः पल्लवभंगभिन्नः ॥ ६१ ॥
उमापि नीलालकमध्यशोभि विस्रंसयन्ती नवकर्णिकारम् ।
चकार कर्णच्युतपल्लवेन मूर्द्ध्ना प्रणामं वृषभध्वजाय ॥ ६२ ॥"

पहले पार्वती की सखियों ने उन्हें प्रणाम करके अपने हाथ से तोड़े हुए वसंत-ऋतु के फूल उनके चरणों पर चढ़ाए। उमा ने भी शंकर के सम्मुख अपना मस्तक झुकाया, किंतु ऐसा करते समय उनके कृष्ण केशपाश

से नया कर्णिकार का फूल और कान से कोमल पल्लव उनके आगे गिर पड़े।

एक ही क्रिया को दो विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न प्रकारों से कराकर कवि ने कैसा कौशल दिखाया है! सखियाँ प्रणाम करती हैं और साथ ही फूल भी चढ़ाती हैं। किंतु उमा प्रणाम करती हैं, तो उनके शरीर से फूल गिरकर स्वयं ही चढ़ जाते हैं। इस कल्पना-मात्र ही में सौंदर्य होने पर भी शंकर पर इसका एक अद्भुत प्रभाव डालना कवि का प्रधान उद्देश्य है। इस प्राकृतिक भाव-भंगी से सचमुच शंकर मुग्ध हो गए होंगे! पर अभी कवि ने उनके भाव को प्रकट नहीं कराया।

"अनन्यभाजं पतिमाप्नुहीति सा तथ्यमेवाभिहिता भवेन।
न हीश्वरव्याहृतयः कदाचित्पुष्णन्ति लोके विपरीतमर्थम् ॥६३॥"

शंकर ने आशीर्वाद दिया कि "अनन्यभाक् (जो तुम्हारे अतिरिक्त और किसी भी स्त्री को प्रेम न करे) पति पाओ!"

अब—

"कामस्तु बाणावसरं प्रतीक्ष्य पतंगवद्वह्निमुखं विविक्षुः।
उमासमक्षं हरबद्धलक्ष्यः शरासनज्यां मुहुराममर्श ॥ ६४ ॥"

काम, समय निकट आया जान, उमा के सामने शंकर पर निशाना बाँधकर बार-बार प्रत्यंचा को छूता हुआ तीर छोड़ने के अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

अब कामदेव की करामात, कवि के कौशल और इस कथा के मुख्य भाग का सर्वोत्तम अंश आता है। काम यदि इस समय सफल हो गया, तो शंकर की हार है, पार्वती की जीत! देवताओं के बाजे बजने लगेंगे और फूल बरसने! पर यदि कामदेव हार गया और शंकर जीत गए तो? तब तो पार्वती और देवतागण सभी अत्यंत निराश हो जायँगे। देखें, कवि क्या कराता है।

"अथोपनिन्ये गिरिशाय गौरी तपस्विने ताम्ररुचा करेण।
विशोषितां भानुमतो मयूखैः मन्दाकिनी पुष्करबीजमालाम् ॥६५॥
प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात् त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च।
सम्मोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम् ॥ ६६॥
हरस्तु किंचित्परिलुप्तधैर्य्यः चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिंबफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥ ६७॥
विवृण्वती शैलसुतापि भावमंगैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥ ६८॥"

शंकर को प्रणाम करके, उनका आशीर्वाद पाकर पार्वती सूर्य की किरणों में सूखे हुए मंदाकिनी के कमलों के बीजों की माला अपने कोमल लाल-लाल हाथों में लेकर महादेव को पहनाने के लिये आगे बढ़ीं। अपने भक्त को प्रिय होने के कारण शंकर ने उस माला को अपने गले में डलवा लिया—और इसी समय कामदेव ने अपने धनुष पर 'सम्मोहन' नाम का अमोघ बाण चढ़ाया! शंकर कुछ अधीर हो गए—ठीक उसी भाँति जिस प्रकार चन्द्रोदय के आरंभ में समुद्र का जल! और उन्होंने बिंबाफल के समान रक्त अधर और ओंठवाले उमा के मुख की ओर ताका! उनको अपनी ओर ताकते देख उमा के हृदय में भी भाव—प्रेम—उत्पन्न हुआ। उनके अंग छोटे-से कदंब के समान पुलकित हो गए; और लज्जित होकर उन्होंने बड़ी सुंदरता से अपना मुख तिरछा करके आँखें नीची कर लीं।

पर शंकर तो परम संयमी थे! अधिक देर तक यह भाव उन पर अधिकार नहीं किए रह सकता था—

"अथेन्द्रियक्षोभमयुग्मनेत्रः पुनर्वशित्वाद्बलवन्निगृह्य।
हेतुं स्वचेतोविकृतेर्दिदृक्षुः दिशामुपान्तेषु ससर्ज दृष्टिम् ॥ ६९ ॥
स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम्।
ददर्श चक्रीकृतचारुचापं प्रहर्त्तुमभ्युद्यतमात्मयोनिम् ॥ ७० ॥

उन्होंने बलपूर्वक अपने इंद्रिय-क्षोभ को रोक लिया और अपने चित्त-विकार के हेतु को देखने के लिये चारों ओर दृष्टि डाली। क्या देखते हैं कि वीरासन पर बैठा हुआ काम कंधा झुकाए, प्रत्यंचा खींचे—बस तीर छोड़ने ही वाला है! (अर्थात् शंकर के विवेक ने उनके प्रबल काम-विकार की सूचना उन्हें दे दी!)

कैसा सुंदर वर्णन है! कालिदास ने काम की क्रियाओं को बड़े उपयुक्त रूप में दिखाया है। कवि ने कामदेव को तीर नहीं छोड़ने दिया; क्योंकि उसके तीर छोड़ने का अर्थ ही कामोत्पादन कर देना है। फिर तो शंकर काम-विजयी नहीं कहा सकते। और न कवि ने यही किया है कि शंकर के मन में तनिक भी विकार उत्पन्न न हो। ऐसा होने पर भी काम-विजय में उन्हें कुछ अधिक श्रेय न मिलता। जिसके मन में विकार ही न आए, उसके काम को जीतने में कोई विशेष बात नहीं! अतः कवि ने बड़ी सुंदरता से शंकर का मन कुछ चंचल करके एकदम उन्हें सम्हाल दिया है।

और इस प्रकार मदन-दहन हो जाता है—

"ततः परामर्शविवृद्धमन्योर्भ्रुभंगदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य तस्य ।
स्फुरन्नुदार्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात ।।७१।।
क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ।। ७२ ।।

अंत को क्रुद्ध शंकर के तीसरे नेत्र (अर्थात विवेक-बुद्धि) से आग निकल पड़ी और आकाश में देवताओं की खुशामद की आवाज़ फैलने भी न पाई थी कि काम-देव उस अग्नि से जलकर राख हो गया।

देवताओं की आशा चूर्ण हो गई । शंकर को यह सबक़ मिल गया कि 'काम' से बचने के लिये स्त्री-सन्निकर्ष का त्याग करना अत्यंत आवश्यक है। वे वहाँ से चल दिए—

"तमाशु विघ्नं तपसस्तपस्वी वनस्पतिं वज्र इवावभज्य ।
स्त्रीसन्निकर्षं परिहर्तुमिच्छन्नन्तर्दधे भूतपतिः सभूतः ।। ७४ ।।

कालिदास ने यहाँ अपने एक मत का भी प्रतिपादन किया है । संसार में कुछ लोगों का विचार है कि विकार-हेतु के रहने पर विकार किसी प्रकार दबाया ही नहीं जा सकता । यह आग और फूस का संबंध है, अतः वे ही महान् हैं, जो इनको साथ-साथ न रहने दें, विकार-हेतु को नष्ट कर दें; अपने मन को भी रोकें, पर विकारो-त्पादक वातावरण से सदा दूर रहें । किंतु दूसरे प्रकार के लोगों का विश्वास है कि ऐसा तो सब कोई कर सकता है । किंतु महान् वही है, जो विकार के हेतु के रहने पर भी मन को वश में कर लें । उनके विचार से मन को संयत रखने का अभ्यास करने से यह साध्य है ।

कालिदास ने शंकर को दूसरे मत के प्रतिपादक के रूप में उपस्थित किया है । जब (पहले सर्ग में) हिमाचल ने पार्वती को शंकर के आश्रम में उनकी सेवा करने को भेजा, तब शंकर ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया । उन्होंने सोचा—

"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः" ।। १ । ५९ ।।

किंतु अब वही शंकर इतना प्रयत्न करके भी अपने उस विचार के अनुसार कार्य करने में सफल न हो सके । अंत को उनका मन बदल गया । वे पहले प्रकार के विचार-वाले लोगों में मिल गए । उन्होंने भी स्वीकार किया कि विकार का हेतु रहने पर मन को वश में करना असंभव है । तभी तो—

'स्त्रीसन्निकर्षं परिहर्तुमिच्छन्
अन्तर्दधे भूतपतिः सभूतः ।'

वे स्त्री का सान्निध्य छोड़कर चले गए । इस प्रकार जान पड़ता है कि कालिदास भी पहले प्रकार के मतवाले लोगों में हैं, और उसी मत की विजय यहाँ उन्होंने कराई है ।

इस प्रकार एक ओर तो शंकर के विचारों में ज़बर्दस्त परिवर्तन होता है, और दूसरी ओर पार्वती भी चेतती हैं ।

"शैलात्मजापि पितुरुच्छिरसोऽभिलाषं,
व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च ।
सख्योः समक्षमिति चाधिकजातलज्जा,
शून्या जगाम भवनाभिमुखी कथञ्चित् ।।७५।।"

पार्वती का जो यह विचार बन-सा गया था कि शंकर मेरे रूप को देखकर मुग्ध हो जायँगे और मेरे पिता की तथा मेरी अभिलाषा पूरी होगी, उस पर बड़ा भारी आघात पहुँचा । उन्हें अपना रूप बिलकुल फीका जान पड़ने लगा । इस पर भी सखियों के सामने अपना यह अपमान ! बहुत लज्जित होकर पार्वती अपने घर को लौट गईं ।

किंतु वास्तव में इस प्रकार पार्वती का कोई अनिष्ट नहीं हुआ । उनके विचारों में भी बड़ा भारी परिवर्तन हो गया । वे समझ गईं कि प्रेम-साम्राज्य में रूप-सौंदर्य को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है । रूप से प्रेमी को वश में नहीं किया जा सकता । इसके लिये तो प्रेम-त्याग-तप की आवश्यकता है । इसीलिये इन्होंने अपने रूप को अब व्यर्थ समझा—

'व्यर्थं समर्थ्य ललितं वपुरात्मनश्च ।'

पाँचवें सर्ग में हम पार्वती को तपस्या के लिये तैयार देखते हैं । वहाँ पार्वती इस सिद्धांत पर आ गई हैं—

"तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती ।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ।।५।१।।
इयेष सा कर्तुमबन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ।।५।२।।

पार्वती ने अपने रूप की निंदा की; क्योंकि यदि प्रेमी प्रसन्न न हुआ, तो उस रूप से क्या लाभ ? अतः उन्होंने तपस्या करके शंकर का प्रेम पाने का निश्चय कर लिया ।

इस प्रकार पार्वती रूप, विकार आदि की निम्न-श्रेणी से उठकर प्रेम के विशाल साम्राज्य में आती हैं । वे

त्याग-तपस्या का महत्त्व समझती हैं, और अंत में शंकर-पार्वती का विवाह होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मदन-दहन से, कालिदास के नायक और नायिका, दोनों ही के सिद्धांतों में बड़ा भारी परिवर्तन होता है। एक और चमत्कार है! पहले हम देखते हैं कि काम की जीत होने पर ही शंकर-पार्वती का विवाह संभव है। कवि पाठक पर इस प्रकार से यह प्रभावित कर देता है कि वह बराबर यही चाहता है कि काम की जीत हो और नायक-नायिका का सम्मिलन। पर बात-ही-बात में कवि पासा पलट देता है। पार्वती, देवता—सभी निराश हो जाते हैं और साथ-ही-साथ पाठक भी! पर कुछ देर में कवि वह कौशल दिखाता है कि सभी दंग रह जाते हैं। मदन-दहन होने पर भी शंकर-पार्वती का विवाह होता है। अब पार्वती, देवता, सभी की आशाएँ पूरी होती हैं, सभी प्रसन्न होते हैं, साथ-ही-साथ पाठक भी! पर पाठक अब एक दूसरे ही प्रकार के वायुमंडल का अनुभव करता है। वह देखता है कि यदि पहली सीढ़ी पर सफलता मिली होती, तो वह बहुत ही नीची श्रेणी की होती। किंतु यह तो अपूर्व है! कितनी सात्त्विक!

इस प्रकार तमोगुणी विजय से सतोगुणी विजय, रसातल से देवलोक, तालाब से समुद्र में पहुँचकर पाठक कवि की पूजा किए बिना नहीं रह सकते।

यही है मदन-दहन का वास्तविक महत्त्व! किंतु अब हम गोसाईंजी की ओर लौटते हैं। गोसाईंजी का यह प्रसंग और ही ढंग का है। उनका शिव-पार्वती की भक्ति से परिप्लावित हृदय कालिदास की भाँति पार्वती को कामदेव का साधन बनाना सहन न कर सका। वे जगन्माता पार्वती का यह रूप कल्पना में भी नहीं देखना चाहते। किंतु यहाँ गोसाईंजी चूक गए हैं। वे कालिदास की छाया भी नहीं छू सके। मैं यह नहीं कहता कि गोसाईंजी में वह प्रतिभा नहीं थी। पर वे यहाँ कुछ भ्रम में अवश्य पड़ गए। उनकी भक्ति-प्रवणता और भावुकता के ही कारण यह सब हुआ।

किंतु दो कवियों के दो प्रसंगों की तुलनात्मक आलोचना करते समय इस प्रकार की छूट नहीं दी जाती। यहाँ पर काव्य-कार की आलोचना 'कवि'—'कलाकार' की दृष्टि से ही की जाती है, 'भक्त' की दृष्टि से नहीं!

भक्त-हृदय क्षमा करें—गोसाईंजी यहाँ कालिदास से निश्चय ही बहुत पीछे रह गए हैं। इस भारी भ्रम के कारण तुलसीदास का यह प्रसंग बहुत फीका पड़ गया है। उन्होंने पार्वती को शिव के सामने उपस्थित न करके इस प्रसंग को प्राणहीन कलेवर-सा कर दिया है। इस प्रकार उन्होंने कामदेव को 'काम' (एक मानसिक विकार) न समझकर केवल एक व्यक्ति ही समझ लिया है। पर कालिदास ने काव्य-सौंदर्य की रक्षा के लिये काम को एक व्यक्ति का रूप तो दिया ही है! साथ ही वे एक महाकवि की भाँति उसके वास्तविक स्वरूप को भी नहीं भूले और इसीलिये उन्हें 'मदन-दहन' के प्रसंग में बड़ी अद्भुत सफलता मिली है।

तुलसीदास ने इधर का प्रसंग इस भाँति लिखा है—

"रुद्रहिं देखि मदन भय माना। दुराधर्ष दुर्गम भगवाना॥
फिरत लाज कछु कहि नहिं जाई। मरन ठानि मन रचेसि उपाई॥
प्रगटेसि तुरत रुचिर ऋतुराजा। कुसुमित नव तरुराज बिराजा॥
बन उपबन बापिका तड़ागा। परम सुभग सब दिसा बिभागा॥
जहँ तहँ जनु उमगत अनुरागा। देखि मुएहु मन मनसिज जागा॥
जागइ मनोभव मुएहु मन बन सुभगता न परै कही।
सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन अनल सखा सही॥
बिकसे सरन बहु कंज गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।
कलहंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अपछरा॥
सकल कला करि कोटि बिधि, हारेउ सेन समेत।
चली न अचल समाधि सिव, कोपेउ हृदय-निकेत॥
देखि रसाल बिटप बर साखा। तेहि पर चढ़ेउ मदन मन माखा॥
सुमन चाप निज सर संधाने। अति रिस ताकि स्रवन लगि ताने॥
छाँड़ेसि बिषम बिसिख उर लागे। छूटि समाधि संभु तब जागे॥
सौरभ पल्लव मदन बिलोका। भयउ कोप कंपेउ त्रयलोका॥
तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत काम भयउ जरि छारा॥"

इस प्रकार तुलसीदास ने अपने कामदेव से 'कोटि-विधि' से 'सकल कला' कराकर उसे हरा दिया। किंतु सिवा एक वसंतोद्दीपन के (जो अकेले वसंत ने ही कर डाला) उससे कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कराया गया। फिर वह क्या-क्या कोटि विधि की सकल कला करके हार गया? क्या उसने शिव के सम्मुख कोई अपूर्व सुंदरी तरुणी भी खड़ी कर दी?

एक और भी अच्छा मज़ाक रहा। यह सारा का

सारा कार्य हो रहा है शिव-पार्वती के विवाह के लिये ! ऐसी अवस्था में जब कामदेव शंकर के मन को विकृत करने गया है, तब उसे निश्चय ही पार्वती को ही आलंबन बनाना चाहिए । यदि किसी अन्य सुंदरी को वह उनके सम्मुख ले जाता है और उस पर शंकर का मन चंचल हो जाता है, तब तो उनके उसी से विवाह करने की अधिक संभावना है । फिर इससे शंकर-पार्वती के विवाह में कौन-सी सुविधा होती ?

इसीलिये इस समय कालिदास ने जो सबसे उत्तम साधन इस समय हो सकता था, वही ग्रहण किया । वे साक्षात् पार्वती को और बड़े स्वाभाविक ढंग से वहाँ ले आए । किंतु तुलसीदास यों ही रह गए । कालिदास की पार्वती के कारण शंकर का मन विकृत होते देख उनका सिर लज्जा से नीचा हो गया । उन्हें कालिदास पर क्रोध आया, और साथ ही उनकी पार्वती पर भी ! उन्होंने पार्वती को अपने इस प्रसंग में आने ही न दिया ।

समझ में नहीं आता—इस प्रकार गोसाईंजी का कामदेव क्या काम करने आया था ! यदि कामदेव की विजय ही हो जाती, जिसके लिये वह आया ही था और शंकर काम के वश में हो जाते, तब क्या वे (शिव) किसी काल में पार्वती के आने की प्रतीक्षा करते रहते ? या उनका कामातुर मन वहाँ जिसे पाता, उसी पर रम जाता ! हो सकता था कि ऐसी अवस्था में वहीं की किसी अप्सरा पर ही वे मुग्ध हो जाते, और कुछ देर तक आनंद भोग करके वे तृप्त हो चुकते और फिर यदि आगे (देवताओं की अभिसंधि से ?) पार्वती उनके पास आतीं, या पार्वती से विवाह करने का उनसे प्रस्ताव किया जाता, तब उस समय तक वे विकार-रहित हो चुके हुए रहते, और उन पर कोई भी प्रभाव न पड़ता । इस प्रकार कामदेव उन पर विजय प्राप्त करके भी कुछ काम न बना सकता । किंतु कालिदास के कामदेव की यदि जीत हुई होती, तो निश्चय ही शंकर-पार्वती का विवाह हो जाना निश्चित रहता । क्योंकि वे पार्वती के कारण ही काम से हारते—उन्हीं के कारण विकार-ग्रस्त होते । अस्तु ।

कालिदास 'काम' के वास्तविक स्वरूप को भूले नहीं थे, यह केवल उतने ही से प्रकट नहीं होता । अनेक स्थलों पर इसके प्रमाण मिलते हैं । जिस समय पार्वती ने शंकर को सिर नवाकर प्रणाम किया और उनके कानों से फूल गिर पड़े, उस समय कामदेव ने अपनी प्रत्यंचा को कई बार छुआ । इससे कवि का स्पष्ट संकेत है कि पार्वती की उक्त क्रिया से शंकर के मन में जो एक अव्यक्त विकार का भाव उदय हुआ होगा, वही 'काम' का अपने धनुष की प्रत्यंचा को छूना है । और इसीलिये, उस समय शंकर के मन में जिस किसी भी अंश में विकार उत्पन्न हुआ, उसे कवि ने स्पष्ट शब्दों में प्रकट करना आवश्यक नहीं समझा । कवि समझता था कि 'काम' की इस क्रिया का चित्र खींचने से ही शंकर के मन की विकारोत्पत्ति का कथन हो जाता है ।

इसके बाद जिस समय पार्वती ने शंकर के गले में माला डालने को हाथ बढ़ाया और शंकर ने उसे स्वीकार कर लिया, उस समय पार्वती के कर-स्पर्श, आदि से शंकर के मन में जो विकार उत्पन्न हुआ, उसे स्पष्ट रूप से न कहकर कवि पाठकों का ध्यान काम की ओर आकर्षित करता है, जो अपने धनुष पर 'सम्मोहन' (मोहनेवाला) नाम का अपना अमोघ बाण चढ़ा रहा था । अर्थात् शिव मोहित हो गए !

कैसा क्रम-पूर्वक(Step by Step)कार्य हो रहा है, मानो कवि यहाँ 'काम' की पूरी व्याख्या ही करने बैठा है ! वह उसके धनुष-बाण का रहस्य समझा रहा है ! वह बता रहा है कि इस अपूर्व धनुष-धारी (काम) के तीर चढ़ाने के पूर्व प्रत्यंचा को बार-बार छूने का क्या रहस्य है, उसके धनुष पर तीर चढ़ाने का क्या अर्थ है और उसको खींचने का ('चक्रीकृतचारुचापं'), छोड़ने को तैयार होने का ('प्रहर्तुमभ्युद्यतम्') क्या भाव है । कामदेव को तीर चढ़ाकर धनुष खींचने तक का अवसर देकर ही कालिदास रुक गए । उन्होंने उसका तीर छूटने न दिया । क्यों ? केवल इसीलिये कि यदि वह छूट जाता, तब तो ले ही बीतता ! उसका तीर 'अमोघ' है । इसी से यह स्पष्ट है कि तीर छूट जाने का—उनके शरीर में लग जाने का—अर्थ है उनका परास्त हो जाना, काम के आधीन हो जाना ।

कालिदास ने यहाँ काम के तीर छोड़ने की क्रिया को चार भागों में बाँट दिया है—प्रत्यंचा को छूना, धनुष पर तीर रखना, तीर खींचना, और उसे छोड़ देना । यहाँ

पर पहले तीन कार्य तो हो चुके—बस चौथा ही न हुआ! मानो शंकर के सामने जब उनका एक शत्रु (मित्र के वेश में) आकर खड़ा हुआ, तब उन्होंने उसकी ओर ताका, उसके आने पर प्रसन्नता प्रकट की, उससे बात-चीत की, पर इतने ही में (शायद उसकी बातचीत में कुछ अस्वाभाविकता-सी पाकर) वे उसे पहचान गए और उसे आत्म-समर्पण न होने दिया!

इस प्रकार कालिदास के शंकर 'काम-वासना' के वश में होकर संभवतः उसके क्रियात्मक होने के समय तक चेत गए और आत्म-दमन कर लिया—अथवा मदन-दहन कर दिया!

किंतु गोसाईंजी के मदन-दहन का कोई भाव नहीं है, कोई अर्थ नहीं!

अस्तु! कामदेव को देखकर, अर्थात् उसे शत्रु के रूप में अपने मन में प्रवेश किए देखकर कालिदास के शिव का तीसरा नेत्र खुल जाता है—उन्हें ज्ञान होता है, विवेक की विजय होती है—और कामदेव का नाश हो जाता है। कैसा सुंदर चित्र है।

कालिदास का कुमारसंभव-काव्य शिव-पार्वती के विवाह को लेकर ही रचा गया है और इसीलिये मदन-दहन का प्रसंग उनके लिये अत्यंत महत्त्व-पूर्ण था। पर गोसाईंजी तो राम-कथा के गायक कवि हैं। शायद राम की भक्ति प्राप्त करने के लिये ही उन्होंने शिव-चरित भी संक्षेप में कह दिया है, पर कुछ बेमन से, कुछ विरक्ति के साथ! अथवा यों कहिए कि यह उनका विषय नहीं था, इसमें उन्हें रुचि नहीं थी, इसका स्वाद उनके लिये मीठा न था, यह उनकी चटनी थी। इसीलिये गोसाईं-जी ने शिव-चरित के एक छोटे-से अंश 'मदन-दहन' पर उतनी सूक्ष्मता से विचार न किया होगा, जितना कालि-दास ने। यही कारण है कि इस प्रसंग के वर्णन में कालिदास से तुलसीदास की कोई समता नहीं।

यह तुलना तो मैंने यों ही कुतूहल-वश कर डाली है। वास्तव में पाठकों को कालिदास के इस अपूर्व कवित्व-कौशल की दिव्य झाँकी दिखाने के लिये ही मैंने इतना लिखा है।

सुमंगलप्रकाश

पवित्र-परिवर्तन

खोला भूतनाथ ने तृतीय नेत्र क्रुद्ध होके,
ज़ालिमों की ज़ालिम-जमात जलने लगी।
चालबाज़ियों का चक्रव्यूह चूर-चूर कर—
चाल चौगुनी से अग्निधारा चलने लगी।

सुतल-वितल औ रसातल-तलातल में,
गर्व की अदंड-मंडली भी गलने लगी।
पाप का प्रचंड अभिशाप दूर होके, आज—
पुण्य के प्रताप की सुबेलि फलने लगी!

रामसेवक त्रिपाठी

चोर
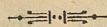
१

"अम्मा, क्या तुमने मेरी जेब से कुछ निकाला है ?"

"नहीं तो, मैंने तेरा कोट छुआ तक नहीं। क्यों क्या हुआ ?"

"कल मैंने जेब में ३२ रुपए रख दिए थे। दो रुपए तो पड़े हुए हैं लेकिन दस-दस के तीन नोट ग़ायब हैं।"

रामकिशोर की कालेज की पढ़ाई इसी साल इलाहाबाद में आरंभ हुई थी। जन्माष्टमी की छुट्टियों में वह घर आया था। छुट्टियाँ पाँच दिनों की थीं; परंतु समाप्त होने के एक दिन पहले ही इलाहाबाद जाने का उसका इरादा था। सब तैयारी हो गई थी। बाबूजी (पिता) से उसने एक महीने के ख़र्च के लिये तीस तथा रेल-ख़र्च के लिये दो रुपए ले लिए थे। लेकिन देर हो जाने के कारण गाड़ी छूटने की आशङ्का से उस दिन उसका जाना न हो सका। मा, चाची तथा छोटी बहन के कहने से वह एक दिन के लिये रुक गया था।

रुपए जेब में रखकर उसने कोट अपने कमरे में टाँग दिया। एक बार उसके मन में आया कि कहीं ऐसा न हो कि कोई उन्हें निकाल ले जाय। लेकिन उसका कमरा दुमंज़िले में था। वहाँ घर के लोग तथा कहार को छोड़कर कोई न जाता था। इसलिये उसने सोचा—यहाँ से रुपए कौन ले जायगा ? फिर एक दिन की बात है, कल तो चला ही जाऊँगा। कौन अब जेब से निकालकर बकस में रक्खे ?

उस समय का टँगा हुआ कोट दिन-भर और रात-भर टँगा रहा। दूसरे दिन जब जाने का समय आया, तब उसने कोट उतारा। जेब में देखा, तो तीस रुपए के नोट ग़ायब। सोचा, शायद अम्मा ने निकालकर रख लिए हों। खोने के डर से वह ऐसा कई बार कर चुकी थीं। अम्मा का यह उत्तर सुनकर कि मैंने तो तेरा कोट छुआ तक नहीं, वह आश्चर्य में पड़ गया। कोट की जेबों को फिर से देखा, कमरे में चारों ओर देखा, किताबों को उलट-पलटकर देखा, पर नोटों का कहीं पता न लगा। खोने के लिये तो उसने कई बार दो-दो एक-एक रुपए खो दिए थे, पर घर से इस प्रकार उसके रुपए कभी नहीं खोए थे। चाची से पूछा, बहन से पूछा, छोटे भाई से पूछा; परंतु जब किसी से भी कुछ पता न लगा, तब वह समझ गया कि किसी ने उन पर हाथ साफ़ कर दिया।

रामकिशोर की मा के लिये तीस रुपए खो जाने की बात छोटी न थी। एक तो इतने रुपए खो गए, दूसरे उसी के बेटे द्वारा। उसका कलेजा धक से हो गया। एक ही क्षण बाद वह कहार के सम्मुख आ खड़ी हुईं। उन्होंने पूछा—"बोल, तूने तो रुपए नहीं निकाले ?"

कहार बर्तन माँज रहा था। उसने उत्तर दिया—"चाची, हमका जानी ? कैसे रुपइया ?"

इतने ही में रामकिशोर की आँखें उस ओर गईं। उसने मा को बुला लिया और कहा—"अभी थोड़ी देर ठहर जाओ; जल्दी न करो।

देखो शायद यहीं कहीं मिल जायँ। अभी किसी से इसके बारे में कुछ न कहना।"

बहुत ढूँढ़ा, पर नोट न मिले। अब वह सोचने लगा कि चोर का पता किस प्रकार लगे? और फिर उसके साथ क्या करना चाहिए? सोचा—कहार को छोड़कर कोई दूसरा व्यक्ति मेरे कमरे में आता ही नहीं। वही कमरा साफ़ करने, चारपाई बिछाने तथा अन्य समय भी आता है। वह यहाँ हर समय आ सकता है। उसको छोड़कर यह काम किसी दूसरे का नहीं हो सकता। क्या करना चाहिए। उसे समझाऊँ? शायद चोरी स्वीकार कर ले।

कहार को बुलाकर पूछा, परंतु उसने उत्तर दिया—"मालिक, हमका नाहीं मालूम। हम तो कोट छुआ तक नाहीं। संझा का चरपइया बिछावत मा चाचो का बुलाय लीन रहै। हम नहीं लीन।" रामकिशोर ने कहा—"अच्छा, जाओ।" वह चला गया।

उसके रुख़ से रामकिशोर को एक प्रकार का विश्वास-सा हो गया था कि उसी ने रुपए लिए हैं—"शाम को चाची के बुलाने की कौन ज़रूरत थी? क्या वह कमरे में अकेले नहीं जा सकता था? सफ़ाई देने के लिये वह चाची को बुला लाया। अवश्य उसी ने नोट निकाले हैं।" उसे पूरा विश्वास हो गया था कि कहार ही ने चोरी की है। वह जानता था कि इस प्रकार विना देखे किसी पर शक न करना चाहिए। वह जानता था कि सारे सबूत होने पर भी संभव हो सकता है कि उसने रुपए न लिए हों। पर उसका हृदय नहीं मानता था। वह तर्क से काम लेने की बहुत चेष्टा करता था; पर उसका हृदय उसे बार-बार विश्वास दिलाता था कि कहार ही ने नोट निकाले हैं।

अब सवाल उठा कि करना क्या चाहिए। उसने सोचा—ग़लती तो मेरी ही थी। मैंने कोट में इस तरह रुपए रक्खे क्यों? मुझे इतना लापरवाह न होना चाहिए था। बाबूजी को मालूम होगा, तो बहुत क्रुद्ध होंगे। मैं तो किसी प्रकार उनका क्रोध सह भी लूँगा, पर उस बेचारे की मौत हो जायगी। उसे वह धमकायँगे पीटेंगे, पिटवायँगे, पुलिस में देकर जेल भिजवा देंगे। उसकी न-जाने क्या-क्या दुर्गति होगी!

वह सुना करता था कि ग़रीबों पर क्या-क्या अत्याचार होते हैं। आज उसे इस बात का दुःख था कि उसी के कारण एक ग़रीब पर मार पड़ेगी। वह सोचता था, एक तो यही निश्चित नहीं कि वही चोर है। फिर यदि हो भी तो उसका क्या दोष? दोष मेरा ही है। मैंने रुपए इस प्रकार छोड़ दिए। कोई भी—स्वयं बाबूजी—इस प्रकार रुपए पड़े पा जायँ, तो कौन कह सकता है कि उसकी नियत न डोल जायगी?

इस समय रामकिशोर के नेत्रों के सम्मुख—मानसिक नेत्रों के सम्मुख—उस बेचारे कहार की दयनीय दशा का नग्न चित्र खिंच रहा था—"बेचारे के दो छोटे-छोटे बच्चे हैं, उनकी न-जाने क्या दशा होगी? स्त्री है, उसका क्या हाल होगा? यों ही भारतवर्ष में स्त्रियों के प्रति इतना निर्दय व्यवहार होता है। उफ़्! उस बेचारी ने क्या अपराध किया है, जिससे उसका प्राणाधार जेल की दीवारों के अन्दर सड़े? क्या करूँ? क्या यह बात फैला दूँ कि रुपए मिल गए? हाँ, अच्छा तो है—परंतु मेरे पास फिर रुपए कहाँ से आँवेंगे? महीने का ख़र्च किस प्रकार चलेगा? हर महीने यों ही ख़र्च की कमी रहती है, फिर तीस रुपए कहाँ से लाऊँगा? कोई ऐसा

मित्र भी तो नहीं है, जिससे इतने रुपए उधार ले सकूँ।"

इस समय रामकिशोर त्रिशंकु हो रहा था। एक ओर तो ग़रीबों के प्रति सहानुभूति और दूसरी ओर रुपए न होने के कारण वह निश्चय न कर पाता था कि क्या करना चाहिए। वह उस ग़रीब को कष्ट में न डालना चाहता था। सबसे अधिक तो उसे उसके बच्चों तथा उस अबला पर दया आती थी, जिसकी हर तरह से दुर्दशा होने की संभावना थी। पर वह यह भी जानता था कि उसे रुपए कहीं से नहीं मिल सकते।

अंत में उसने यह निश्चय किया कि उसे जेल तो न जाने दूँगा। बहुत करेंगे, तो बाबूजी इसे मार लेंगे। इसे थाने तक न भिजवाने दूँगा, फिर चाहे मुझे घर ही से क्यों न लड़ना पड़े।

२

"चाची, हमका बचाय लेओ, चाचा थाने भेज देहैं। चीप साहब औ एक सिपाही नीचे बैठ हैं। चाचा बजार गेहैं।"

"बचा तो मैं लूँ। पर क्या मालूम कि तूने चोरी नहीं की?"

"चाची, तुम्हरी नौकरी माँ चार बरस हुइगे, अब तक हमसे ऐस कबहूँ नहीं भा।"

वास्तव में कहार को रामकिशोर के यहाँ नौकरी करते पाँच वर्ष से भी अधिक हो गए थे। बहुत दिनों से वह चार ही वर्ष कहता आया है। अभी तक उसने पाँच वर्ष कहना आरंभ ही नहीं किया। वह पहले एक गाँव में रहता था। बेकारी के कारण उसे अपना गाँव छोड़ना पड़ा। आकर 'सहर' में रहने लगा। अपनी गँवारी भाषा का वह बहुत कुछ परित्याग कर चुका था, लेकिन फिर भी अभी वह 'सहर' की बोली नहीं बोल सकता था। उसकी भाषा में 'सहर' और देहात दोनों की झलक दिखाई देती थी।

रामकिशोर की मा ने कहा—"हाँ नौकरी करते तो बहुत दिन हो गए। पर क्या मालूम कि अब तू धीरे-धीरे सब गुन सीखता नहीं जाता?"

"चाची, रुपइया तो हम नहीं लीन। कैसे बताई। थाने में हमपै मार पड़ी। चार-छै रुपइया डाँड़ पर जैइहैं। लड़कन-बच्चन का पूछैंवाला कौनौ न रही। उनकी का दसा होई?"

यह कहते हुए उसके आँखों में आँसू भर आए। आगे उससे कुछ कहते न बना। रामकिशोर की मा का हृदय बहुत कोमल था। वह उसके आँसू न देख सकीं। उन्हें उसकी दशा पर तरस आया। सोचा, "यह चोरी नहीं कर सकता। चोर की सूरत ही दूसरी होती है। फिर अगर इसने रुपए लिए भी हों, तो क्या थाने भिजवाने से मिल जायँगे?"

वह बेचारी रामकिशोर के पास गईं। कहा—"बेटा, उसको थाने भिजवाने से क्या होगा, क्या रुपए मिल जायँगे? सुना है, नीचे चीप साहब और एक सिपाही आए हैं। बाबूजी नहीं हैं। जाओ, चीप साहब को भगा दो, कह दो हमारे यहाँ चोरी-ओरी कुछ नहीं हुई, तुम यहाँ क्यों आए हो?"

रामकिशोर को मा की बात सुनकर संतोष हुआ। वह स्वयं चाहता था कि कहार पुलिस में न दिया जाय। उसने सोचा कि कम-से-कम अम्मा तो मेरा साथ देंगी।

उसने कहा—"मैं भी तो यही चाहता हूँ कि बेचारे की दुर्गति न हो। जाता हूँ, चीप साहब से बातें करूँगा। भगा तो नहीं सकता; क्योंकि बाबूजी के बुलवाने पर ही वे आए होंगे, परंतु

मैं हर तरह से कोशिश करूँगा कि वह पुलिस में न दिया जाय।"

३

रामकिशोर के बाबूजी ने जैसे ही इस चोरी का हाल सुना, वैसे ही उन्होंने कहार को बुलाकर उससे पूछा—"बता रुपए कहाँ रक्खे?" परंतु कहार ने यही कहा कि मैंने चोरी नहीं की। उन्होंने उसे डराया, धमकाया; पर कुछ फल न हुआ। एक तमाचा मारा, पर उसका भी कुछ असर न पड़ा। तो अब उन्हें चीफ साहब को बुलवाना पड़ा। उन्हें पक्का विश्वास था कि मार से भूत भी भागते हैं। उन्होंने सोच लिया था कि यदि यह पुलिस की मार से चोरी स्वीकार कर लेगा, तो अच्छा है, नहीं तो जेल भिजवा दूँगा।

उन्होंने चीफ साहब के पास आदमी भेजा। उत्तर आया कि आते हैं। जब आधे घंटे तक चीफ साहब न आए, तो वह एक काम से बाज़ार चले गए। उनके बाज़ार जाने के लगभग बीस मिनट बाद ही चीफ साहब एक सिपाही के साथ आ धमके। लोगों ने उन्हें कुर्सी पर बैठाया। बैठकर उन्होंने और आदमियों से चोरी के बारे में पूछना आरंभ कर दिया। उनके आने के १५ मिनट बाद रामकिशोर भी आ गया। उसे देखते ही चीफ साहब दुआ-सलाम करने के बाद बोले—

"क्या आप ही के कोट से चोरी हुई थी?"

"जीहाँ, मेरा ही कोट था। तीस रुपए के नोट कोई ले गया। अच्छा है, उसी के काम आएँगे।"

"वाह! आपने भी खूब कही। इसीलिये तो इतनी चोरियाँ होती हैं। अगर किसी को चोरी की सज़ा न मिली, तो उसकी हिम्मत बढ़ जाती है और वह धीरे-धीरे पक्का चोर बन जाता है। अगर पहली ही बार उसे सज़ा मिल जाय, तो फिर वह चोरी का नाम भी न लेगा।"

"सज़ा पाने से लोग और अधिक बिगड़ जाते हैं। यदि कोई एक बार जेल हो आए, तो फिर वह वहाँ जाकर पक्का बदमाश बन जाता है। अधिकतर लोग आरम्भ में ग़रीबी ही के कारण चोरी करते हैं। जब बेचारों के पास खाने को नहीं रहता, पहनने-ओढ़ने के कपड़े भी नहीं रहते, बाल-बच्चे भूखों मरते हैं, तभी वे चोरी करते हैं। उस समय उनके मस्तिष्क में अनुचित-उचित का विचार नहीं रह जाता। अगर वे दो-चार रुपयों की चीज़ें चुरा लेते हैं, तो उन पर मार पड़ती है, वे जेलों में ठूँस दिए जाते हैं। वहाँ पर उनके साथ अमानुषिक व्यवहार होता है, इधर घर में लड़के-बच्चे, बहन, भाई, माता-पिता सब भूखों मरते हैं। जब तक वे जेल से छूटते हैं, तब तक उनकी अच्छी मनोवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। समाज भी उनका तिरस्कार करता है। अंत में वे सब बुराइयाँ सीख लेते हैं—चोरी करते हैं, शराब पीते हैं। और जहाँ दो-चार बार जेल हो आए, फिर तो जेल से ज़रा भी नहीं डरते। वहाँ पर उन्हें घर से भी अधिक आराम मिलने लगता है। उन्हें जेल के अंदर भी बदमाशी करने का मार्ग मिल जाता है।"

"तो फिर आपका क्या मतलब? क्या आप यह चाहते हैं कि किसी को दंड दिया ही न जाय?"

"हाँ, मैं यही चाहता हूँ?"

"वाह, फिर तो एक दिन के अंदर ही दुनिया तबाह हो जाय, दिन-दहाड़े डाके पड़ें, चोरियाँ हों। किसी को ज़रा भी भय न रहे।"

"तो क्या इन सब बातों के रोकने का कोई दूसरा उपाय नहीं हो सकता?"

"दूसरा उपाय क्या होगा ? क्या आप यह चाहते हैं कि सबको उपदेश दिया जाय ? परंतु आपको यह समझ लेना चाहिए कि उपदेश से कहीं कुछ भी नहीं होता। सब जानते हैं कि झूठ बोलना बुरा है ; पर कितने मनुष्य हैं, जो कभी झूठ नहीं बोलते। उपदेश का असर बहुत देर तक नहीं रह सकता।"

"नहीं, मैं यह नहीं कहता कि उपदेश देने से ही बुराइयाँ दूर होंगी। मेरा तो यह कहना है कि जिन कारणों से बुराइयाँ होती हैं, उन कारणों को ही दूर कर दीजिए। चोरियाँ इसीलिये होती हैं कि लोग भूखों मरते हैं। सरकार को चाहिए कि ऐसा प्रबंध करे कि सबको खाने-पीने को मिलने लगे।"

"यह होना नामुमकिन है। और क्या आप यह समझते हैं कि ऐसा करने से दुनिया में चोरियाँ नहीं होंगी ?"

"चोरियाँ तो अवश्य होंगी, पर इतनी नहीं।"

"तब फिर दुनिया से चोरियाँ मिट नहीं सकतीं। और फिर चोरों को दंड देना ज़रूरी है।"

"पर उनके साथ अमानुषिक व्यवहार करना ज़रूरी नहीं है। ऐसा करने से आप उनका सुधार नहीं कर सकते, उलटा बिगाड़ देंगे। सरकार को चाहिए कि उन्हें शिक्षा दे और कला-कौशल सिखावे। उन्हें बिगाड़ने के बजाय डेढ़-दो साल के अंदर उनकी मानसिक एवं नैतिक शक्ति विकसित की जा सकती है। ऐसा करने से वे बदमाशी करने का नाम तक न लेंगे, और स्वतंत्रतापूर्वक अपना जीवन-निर्वाह कर सकेंगे। बहुत संभव है, उनकी वे शक्तियाँ, जो बुराई की ओर लगी थीं, अच्छाई की ओर लग जायँ, तथा वे साधारण मनुष्य से अधिक उन्नति कर संसार के इतिहास में अपना नाम अमर कर जायँ।"

"जैसा आप कहते हैं, वह न तो कभी हुआ है और न हो ही सकता है। दुष्ट के साथ दुष्टता करनी चाहिए। आपकी बातें तो मेरी समझ ही में नहीं आतीं।"

इसी समय रामकिशोर के बाबूजी भी बाज़ार से लौट आए।

ये बातें चीप साहब की समझ में किस प्रकार आतीं ? उनका जीवन तो दूसरे ही साँचे में ढला था। वह कहते थे कि चोर और डाकू बड़े नीच हैं, उन्हें कड़ी-से-कड़ी सज़ा देकर ही उनका अस्तित्व मिटाया जा सकता है। लेकिन यदि उनका अस्तित्व मिट जाता, तो शायद सबसे अधिक विपत्ति इन्हीं के ऊपर आती—इनकी शान न रह जाती, इनकी छड़ी का जन्म सार्थक न होता, मुँह से किसी को गालियाँ सुनने को न मिलतीं, और न जेब ही गरम होती।

रामकिशोर के बाबूजी आते ही उनसे बोले, "कहिए चीप साहब, मिज़ाज़ तो ठीक हैं। आपको चोरी का सब हाल तो मालूम ही हो गया होगा।"

"जीहाँ, मालूम तो हो गया, पर आपको किस पर शक है ?—उसी कहार पर ?"

"उसी ने चोरी की है, यह काम किसी दूसरे का नहीं हो सकता। पर यह तो बताइए कि उसके साथ क्या किया जाय।"

"बस, उसे थाने में दे दीजिए। या तो चोरी कबूल लेगा या जैसा किया है वैसा भुगतेगा।"

"पर बिना पक्का सबूत पाए आप उसे कैसे ले सकते हैं ? कोई आँखों का देखा सबूत तो है नहीं।"

"हाँ, क़ानूनन तो नहीं ले सकता, पर इससे क्या होता है। कोई दिखलाकर तो चोरी करता नहीं। आप जानते ही हैं कि चोरी उसी ने की। वह चोर है, उसे सज़ा मिलनी ही चाहिए।"

बाबूजी भी यही चाहते थे। वह केवल अपनी ओर से झूठा गवाह पेश नहीं करना चाहते थे। चीफ साहब ने तो उनके मन की ही बात कह दी। वह बोले—"हाँ, बात तो ठीक है।"

चीफ साहब बोले—"जीहाँ, बदमाश को तो सज़ा ज़रूर मिलनी चाहिए। अभी पंद्रह दिन की बात है, मैं ख़ज़ाने में रुपए लेने गया। गिन-कर रुपए रक्खे, बीस रुपए की एक गड्डी वहीं रक्खी रह गई और मैं थाने चला आया। एक आदमी वहीं पर बैठा हुआ था, उसी ने रुपए उठा लिए। परंतु जब उससे पूछा, तो वह साफ़ इनकार कर गया। अब किसी भी डकैती के मामले में फँसा-कर बीस की जगह बीस सौ ख़र्च करा दूँगा।"

रामकिशोर बाबूजी के सम्मुख चुपचाप बैठा था। वह उनकी बात को काटना नहीं चाहता था। वह यह जानते हुए कि वह बुरा कर रहे हैं, उन्हें किसी काम में रोकता न था। यहाँ तक कि वह स्वयं अच्छे-से-अच्छे काम को केवल इसी-लिये नहीं करता था कि घरवाले बुरा मानेंगे। वह समझता था कि उसके सिर पर उनके ऋण का एक बोझ लदा हुआ है। यही बात उसके मार्ग में बड़ी रुकावट पैदा करती थी। लेकिन अब वह चुप न बैठ सका। वह नहीं चाहता था कि एक ग़रीब पर अत्याचार हो। इसलिये बोला—"पर यदि उसने चोरी की ही न हो? और यदि की भी हो, तो उस बेचारे को जेल भिजवाने से क्या फ़ायदा होगा? ज़्यादा-से-ज़्यादा यह कोशिश कीजिए कि अगर उसने चोरी की हो, तो स्वीकार कर ले। आपको रुपए लौटा दे, फिर उस पर और उसके घरवालों पर विपत्ति लादने से हमें क्या फ़ायदा होगा?"

पहले तो बाबूजी ने रामकिशोर की बात न मानी, पर अंत में उन्हें माननी पड़ी। रामकिशोर भी आज अपनी बात पर दृढ़ था। वह यह नहीं चाहता था कि कहार पर चीफ साहब के कोड़े पड़ें। अंत में बाबूजी ने यह तय किया कि उसे सज़ा न हो, पर उससे चोरी स्वीकार कराई जाय। रामकिशोर समझता था कि डराने-धमकाने और ज़्यादा-से-ज़्यादा दो-एक घूँसे मारने से भी यदि वह स्वीकार न करेगा, तो छोड़ दिया जायगा।

बाबूजी को उसने अकेले में समझा दिया कि "यदि आप उसे थाने भेजिएगा, तो चीफ साहब उससे कुछ रुपए लेकर छोड़ देंगे और कह देंगे कि मैं क्या करूँ, वह कबूलता ही नहीं।" अतः घर पर ही एक कमरे में चीफ साहब के सामने कहार बुलाया गया।

कहार फुसलाया, डराया और धमकाया गया। परंतु जब इसका कुछ असर न हुआ, तो उस पर मार पड़ी। रामकिशोर इसे देख न सका। वह वहाँ से हट गया। कहार ने बाबूजी के हाथ जोड़े, पैर पड़े; पर जब तक वह चोरी स्वीकार न करता तब तक वे उसे किस प्रकार छोड़ सकते थे?

४

रामकिशोर की मा का विश्वास था कि कहार ने चोरी नहीं की। उन्होंने बाबूजी से कहा—

"क्या मालूम कि उसी ने चोरी की है?"

"अगर चोरी न करता, तो वह इतना भोला नहीं है कि तीस रुपए लाकर दे देता?"

"रुपए न देता, तो करता क्या? डरता था कि जेलख़ाने भिजवा दिया जाऊँगा। बेचारा घर के गहने गिरवी रखकर रुपए लाया। पहले तो वह तुम्हारे ही पास गहने लाया था। बेचारा कहता था कि गहने जमा कर लो और तनख़्वाह

से ३० रुपए काटते रहना। परंतु तुम उस पर उलटे ग़ुस्सा हुए।"

"मैं उसकी सब चालाकी जानता हूँ। सोचता रहा होगा कि दया में आकर रुपए न लेंगे। गहनों का सब ढकोसला था। घर में रुपए रक्खे हैं। दो-एक दिन में गहने छुड़ा लेगा। और दिखाने के लिये यह हो गया कि उसने चोरी नहीं की।"

"मेरी समझ में तो उसने चोरी की ही नहीं फिर जैसा तुम समझो। अब उसे नौकरी से अलग न करना, तुम्हीं ने उसे विश्वास दिलाया था कि अगर चोरी स्वीकार कर लोगे, तो नौकरी से न हटाऊँगा।"

"हाँ, अभी तो न हटाऊँगा, पर सोचता हूँ कि दो-एक महीने में कोई दूसरा आदमी तलाश कर लूँगा। मैं नहीं चाहता कि मेरे घर में चोर रहे। आज उसने तीस रुपए चुराए। कल वह बड़ी चोरी कर सकता है। उसका क्या विश्वास?"

"विश्वास करने से धोखेबाज़ भी विश्वासपात्र बन जाते हैं, और अविश्वास करने से विश्वास-पात्र भी धोखा देने लगते हैं।"

"ख़ैर, आप मुझे शिक्षा देने की कृपा न कीजिए। मैं स्वयं समझता हूँ कि मुझे क्या करना चाहिए।"

इसके लिये रामकिशोर की मा के पास कोई उत्तर नहीं था। बेचारी पहले ही डरती थीं, समझती थीं कि पुरुषों के कामों में दख़ल देने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है। जानती थीं कि दुनिया में उन्हें किसी को भी समझाने का कोई हक़ नहीं है। स्त्रियों को यदि किसी के समझाने का हक़ है, तो अपने ही को। उन्होंने भी यह सोच-कर अपने को समझा लिया कि हाँ, ठीक है, जैसा वह कहते हैं, वही ठीक होगा। वह अधिक बुद्धिमान् हैं, अपना कर्तव्य अच्छी तरह जानते हैं। मैं भला कैसे कह सकती हूँ कि कहार ने चोरी नहीं की। मैं उसके पेट का हाल क्या जानूँ?

वह कभी किसी बात में अपने पति से बहस नहीं करती थीं। आज उनके हृदय में उस बेचारे कहार पर बहुत दया आई, इसीलिये उन्होंने इतनी बातें कीं। इन बातों में भी बहस करने का उनका विचार न था। उन्होंने तो साहस कर केवल अपने विचार प्रकट किए थे। इसी में उन्हें संतोष था। अपने पति को वह किसी प्रकार का मानसिक आघात नहीं पहुँचाना चाहती थीं। वह उनके मार्ग में रोड़े न अटकाकर फूल ही बिछाना चाहती थीं। ऐसा करने के लिये वह सब कुछ त्याग सकती थीं। अपने अधिकारों को स्वयं अपने पैरों से कुचल सकती थीं। यदि सच पूछा जाय, तो उन्हें किसी अधिकार की आव-श्यकता न थी, वह अपने ऊपर भी अपना अधि-कार नहीं चाहती थीं। उनके हृदय में जो तूफ़ान आया था, वह ज्यों-का-त्यों बैठ गया। वायुमंडल पहले की तरह फिर शांत हो गया।

× × ×

रामकिशोर ने सब कुछ देखा। कहार पर मार पड़ते उसने अपने चर्मचक्षुओं से तो अच्छी तरह नहीं देखा, परंतु कमरे के अंदर—कमरे के अंदर नहीं—अपने मस्तिष्क के अंदर उसने उसके चीख़ने, हाय करने और कराहने को सुना तथा चीफ़ साहब के निर्दय प्रहारों को भी देखा।

एक ग़रीब और उसकी समझ में निरपराध व्यक्ति पर यह अत्याचार! और यह सब उसी के कारण हुआ! यदि वह रुपए ठीक तौर से रखता, तो यह सब क्यों होता? वह सोचता था, अगर इसकी जगह मैं होता, तो शायद डूब मरता। वह नहीं समझता था कि मामला यहाँ तक बढ़

जायगा कि उससे रुपए इस प्रकार वसूल किए जायँगे।

अब क्या करना चाहिए, यही उसके सामने प्रश्न था। क्या वह चुपचाप बैठा रहे? कहार के पिटवाने में उसका कोई हाथ नहीं था। उसका बस चलता, तो वह उससे कुछ कहता तक न। अतएव वास्तव में उसका कोई दोष न था। परंतु इससे क्या होता है? वह तो यह समझता था कि मेरी लापरवाही से ही इसकी यह दुर्दशा हुई है, और अब मेरा कर्तव्य है कि मैं इसके लिये कुछ-न-कुछ अवश्य करूँ। वह अपनी मा की तरह चुप बैठनेवाला व्यक्ति न था। हाँ, वह दूसरों पर अपना अधिकार नहीं समझता था, परंतु अपने ऊपर तो वह अपना ही अधिकार मानता था। वह यह जानता था कि उसे अपने बाबूजी का कहना मानना चाहिए, परंतु वह यह भी भली भाँति जानता था कि कहार के प्रति उसका क्या कर्तव्य है।

परंतु वह जो कुछ करना चाहता था, वह कर सकता था या नहीं? घर की बातों में उसका कोई हाथ न था। घर का एक पैसा भी वह छू न सकता था। उसकी कुछ समझ में न आया कि क्या करे। बेचारा बड़ी देर तक बैठा इसी के बारे में सोचता रहा।

५

इस चोरी के कारण रामकिशोर सबेरे की गाड़ी से इलाहाबाद न जा सका, अतः अब उसने शाम की गाड़ी से जाना निश्चय किया।

घर से चलने में अब केवल पंद्रह मिनट रह गए थे कि उसने कहार को चुपचाप अपने कमरे में बुलाया।

कहार बेचारा सहम गया। उसकी समझ में न आया कि रामकिशोर ने उसे क्यों बुलाया। रुपए तो ले ही लिए गए थे, अब उससे क्या काम है? फिर भी वह संकेत पाते ही चुपचाप चला गया। रामकिशोर ने कहा—

"मुझे बहुत दुःख है कि मेरी लापरवाही के कारण तुम पर इतनी आफ़त आई।"

कहार ने कुछ उत्तर न दिया, परंतु उसने मन में कहा—हाँ आफ़त तो आई, पर इससे आपको क्या मतलब?

रामकिशोर ने फिर कहा—"मैं नहीं चाहता था कि बाबूजी चीफ साहब को बुलाते। मेरा बस चलता, तो यह कुछ न होने पाता। भला तुम्हीं बताओ मैं क्या कर सकता था।"

इस बार भी उत्तर देने का उसे साहस न हुआ। परंतु उसने अपने मन में कहा—कर तो सब कुछ सकते थे, परंतु यों कहो कि कुछ करना न चाहते थे। अब मीठी-मीठी बातें बनाने चले हैं। मैं सब समझता हूँ। मैं आपकी बातों में नहीं आ सकता।

यद्यपि उसने कुछ उत्तर न दिया, पर उसकी मुखाकृति से रामकिशोर साफ़-साफ़ समझ गया कि वह उसकी बात से असंतुष्ट है।

इस बार रामकिशोर ने उसके कंधे पर हाथ रखकर कहा—"भाई, तुम नहीं जानते कि मुझे कितना दुःख है। मैं ज़्यादा तो नहीं कर सकता, पर जिस प्रकार हो सकेगा तीस रुपए जमा करके तुम्हें दे दूँगा। तुम ज़रा भी दुःख न करो। जो कुछ हो गया वह अब हो गया। उसके लिये दुःख करने से क्या होगा? अभी यह दस रुपए का नोट लो, और मैं जब-जब छुट्टियों में आऊँगा, तुम्हारे लिये रुपए ज़रूर लाऊँगा। यदि तुम्हारे पास कुछ रुपए हों, तो गहने छुड़वा लो, नहीं तो

में जल्दी-से-जल्दी छुड़वाने की कोशिश करूँगा। तुम्हारे ऊपर बहुत बुरा कलंक लग गया; और मेरे ही कारण—इसके लिये मैं हाथ जोड़कर तुम से क्षमा चाहता हूँ।"

कहार हक्का-बक्का हो गया। उसके मुँह से एक शब्द भी न निकल सका। रामकिशोर की आँखों से आँसू टपकने लगे।

अब वह अधिक देर तक न ठहरा। इक्के पर सामान लद चुका था। वह आँसू पोंछकर जैसे ही कमरे से निकला, वैसे ही किसी ने उसे पुकारा। वह समझ गया कि इक्कावाला जल्दी मचा रहा है। ज़ीने से नीचे उतरा और बाबूजी के चरण-स्पर्श कर इक्के पर सवार हो गया। इक्के पर दो सवारियाँ पहले ही से बैठी थीं। उसके बैठते ही घोड़ा चल दिया।

इधर कहार नोट को मुट्ठी में लिए रामकिशोर के मुँह की ओर देखता ही रह गया। पहले तो बेचारा समझ ही न सका कि क्या हो रहा है। जब तक सब बातें उसकी समझ में आईं, जब तक उसने रामकिशोर का सच्चा रूप देखा, तब तक वह यह निश्चय न कर सका कि क्या करे। और जिस समय उसे पश्चात्ताप हुआ, जिस समय उसकी इच्छा हुई कि रामकिशोर के पैर पकड़कर अपने अपराध की माफ़ी माँगे और आँसुओं की धारा से अपने हृदय को साफ़ करे, उस समय तक रामकिशोर का इक्का चल पड़ा था।

रामकिशोर अपने हृदय का तूफ़ान उस बेचारे दोषी कहार के हृदय में छोड़ गया था। यह तूफ़ान दो-चार-छः घंटे या चार दिनों के अंदर शांत होनेवाला तूफ़ान न था। वह तो तभी शांत होगा, जब रामकिशोर घर लौटेगा। क्या संसार में चोर को इससे भी कड़ा दण्ड दिया जा सकता है?

दामोदरदास

भारतीय वीर-देवियाँ *

१

केवल न कोमल कमल रहती हैं सदा,
काम पड़ता तो वज्र-रूप बन जाती हैं;
'रसिकेंद्र' हाथ दिखलातीं काट-छाँटवाले,
भूतल में वैरियों के बदन बिछाती हैं।
क्रोध करतीं तो जल उठती कराल ज्वाला,
पल में प्रबल खल-मंडल जलाती हैं;
शक्ति है अशेष देश भारत की देवियों की,
वीर-वेश धारतीं तो प्रलय मचाती हैं।

२

सौख्य की तुला में तुलतीं जो सुमनों से सदा,
डुलतीं समीर लगने से सुकुमारियाँ;
खींचती हैं चित्त में पवित्र पति-भक्ति-चित्र,
सींचती हैं प्रेम-वाटिका की नित्य क्यारियाँ।
वे ही जब वीरता की मूर्ति बनती हैं, तब—
धर्म पर आहुति की करतीं तयारियाँ;
अमरों की प्यारियाँ भी लेतीं बलिहारियाँ हैं,
होतीं पूज्य भारत में ऐसी वीर-नारियाँ।

× × ×

३

बरछी-बरौनियों से वेधती विमूढ़-बल,
कुटिलों को काटती कटाक्ष की कटारी से;
लंपटों की लालसा लचाती लाल लोचनों से,
अंत अधमों का करती हैं ओज-आरी से।
देख देह-दीप्ति दंभियों का दर्प दूर होता,
पातकी परास्त होते पति-प्रेम प्यारी से;
तरणि-सा तेज तचता है तरुणी का तब—
वैरी बन कौन बचता है वीर-नारी से?

'रसिकेंद्र'

* अप्रकाशित 'पारिजात-हरण'-नामक खंड-काव्य से।
—लेखक

वायोलिन

प्राचीन आचार्यों के मत से वाद्य साढ़े तीन प्रकार के हैं—(१) चाम (२) तार (३) हवा से बननेवाले, और आधे में मंजीरा, झाँझ-जातीय वाद्य माने गए हैं। विदेशी लोगों के साथ-साथ भारत में भी वहाँ के बाजे आ पहुँचे। हारमोनियम, प्यानो, वायोलिन, मेंडोलिन, कार्नेट, क्लेरियोनेट इत्यादि अँगरेज़ी राज्य के साथ-साथ भारत में आए है। इन दिनों भारतवर्ष में हारमोनियम का ख़ूब प्रचार है। छोटे-छोटे गाँवों तक में यह पहुँच चुका है। इसके प्रचार का एक मुख्य कारण यह है कि इसमें ज़्यादा बुद्धि ख़र्च करने की ज़रूरत नहीं है। स्वरों को मिलाने या दुरुस्त करने की कोई ज़रूरत नहीं पड़ती। धम्मन खोलकर ज्यों ही उसे दबाया कि आवाज़ निकली। हमेशा हर घड़ी तैयार है। सिर्फ़ बजाना सीखने की ज़रूरत है। सितार या सारंगी की तरह खूँटियाँ मरोड़कर स्वर मिलाने की ज़रूरत नहीं है।

पहले हारमोनियम का प्रचार योरप में बहुत ज़्यादा था। अब वहाँ इसका स्थान प्यानो ने छीन लिया है। वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि हारमोनियम के कर्कश स्वर मस्तिष्क को हानि पहुँचाते हैं। भारत में हारमोनियम का प्रचार बहुत बढ़ रहा है। जर्मन या अमेरिकन रीड के सस्ते हारमोनियम बहुत बिकते हैं। इनसे दिमाग़ को अत्यंत हानि पहुँचती है। महँगे पेरिस, के सरिल स्वर के हारमोनियम ही, जो बहुत महँगे होते हैं, अच्छे ट्यून किए हुए हों, तो हानि कम पहुँचाते हैं। इसीलिये विदेशी लोगों ने हारमोनियम का बुरी तरह बहिष्कार कर प्यानो बजाना शुरू कर दिया है। प्यानो महँगा वाद्य है, इसलिये सर्वसाधारण इसे ख़रीद सकने में भी असमर्थ हैं।

'वायोलिन', जिसके बजाने की विधि हम लिख रहे हैं, तंतुवाद्य है। यह वाद्य विदेशी है। इसका भारत में बंगाल को छोड़कर बहुत कम प्रचार है। यहाँ तक कि लोग इसके नाम तक से परिचित नहीं हैं—देखना तो दूर रहा! बंगाल में इसका बहुत प्रचार है। वहाँ लोग घर-घर इसे बजाते देखे जाते हैं। यह विदेशों से भी बनकर आता है और अब भारत में भी बनने लगा है। चित्र नं० १ के देखने से इसकी सूरत-शक्ल का पता लग जायगा। इस बाजे को अँगरेज़ी में वायोलिन (Violin) और भारतीय भाषा में बेला कहते हैं। हमारे देश में भी इस क़िस्म का एक बाजा होता है। उसे चिकारा कहते हैं। यह चिकारे का सुधरा हुआ रूप कहा जा सकता है। सारंगी भी इसी प्रकार की होती है, किंतु बहुत भिन्नता है। सारंगी में नीचे फ़ौलाद या पीतल के तार होते हैं, जिन्हें तुरप कहते हैं, और ऊपर के तार ताँत के होते हैं। वायोलिन में सिर्फ़ चार ही तार होते हैं—देखिए चित्र

चित्र० नं० १

नं० १ में चार तार साफ़ दिखाए गए हैं। इसका पहला तार रुपहला होता है और शेष तार ताँत या फ़ौलाद के मोटे या पतले क्रम से लगते हैं, देखो चित्र में अ, इ, उ और ए। ये तार बाज़ारू तार नहीं होते, ख़ास करके इसी के लिये तैयार किए जाते हैं, जो वायोलिन बेचनेवालों के यहाँ से मोल मिल सकते हैं।

तार चढ़ाने का तरीक़ा यह है कि टेलपीस (Tail piece) (चित्र में देखो 'टे') में चार छिद्र होते हैं। उन चारों छेदों में एक-एक तार डाल देना चाहिए। इन तारों के एक छोर पर धातु की एक ऐसी छोटी-सी चीज़ बँधी रहती है, जो तारों को वहाँ से निकलने नहीं देती। यदि न बँधी हों, तो आप तार के सिरे पर गाँठ लगा दें या ऐसी कोई वस्तु बाँध दें, जिससे तार छिद्रों में अड़ जायँ। अब पहले तार को ब्रिज (देखो चित्र में ब्रि) के पहले गड्ढे में से ले जाकर खूँटी नं० १ (देखो चित्र में खूँ० १) के छेद में डालकर घुमाओ और कस दो। इसी प्रकार दूसरे तार को ब्रिज पर से ले जाकर दूसरी खूँटी में और तीसरे को तीसरी खूँटी में तथा चौथे तार को चौथी खूँटी में लगा दो। यहाँ समझाने के लिये प्रत्येक खूँटी पर नंबर डाल दिए गए हैं। अ तार खूँ० १ पर, इ तार खूँ० २ पर, उ तार खूँ० ३ पर और ए तार खूँ० ४ पर होगा। खूँटियों पर अच्छी तरह लिपट सके, इसलिये तार हमेशा ४-६ अंगुल बड़ा रखना चाहिए।

इस बाजे में चार तारों की चार खूँटियाँ होती हैं। इन्हें अँगरेज़ी में पेग्स (Pegs) कहते हैं। कुछ लोग इन्हें चाबी कहते हैं। जिस काली पटरी के ऊपर से ये तार खूँटियों तक पहुँचते हैं, उस भाग को टंग (Tongue) कहते हैं। देखो चित्र नं० १ में 'टे'। टेलपीस और टंग के बीच में जो एक लकड़ी का टुकड़ा-सा खड़ा किया जाता है और जिस पर तार गुज़रते हैं, वह ब्रिज कहलाता है। इसे हिंदी-भाषा में घोड़ी कह सकते हैं। वायोलिन के चित्र नं० १ में यह साफ़ नहीं दिखाई पड़ती, परंतु चित्र नं० २ देखिए। यह ब्रिज का चित्र है। यह ब्रिज कहाँ लगाया जाना चाहिए ? यह बात चित्र नं० १ में देखी जा सकती है। वायोलिन के पेंदे में एक छोटा-सा आँकड़ा होता है। देखो चित्र नं० १ में 'क'। टेलपीस एक ताँत के टुकड़े से इस आँकड़े में फँसाया जाता है।
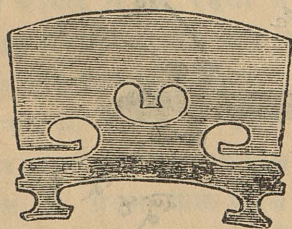
चित्र नं० २

तार चढ़ाने की दो पद्धतियाँ हैं—(१) पाश्चात्य और (२) भारतीय। पाश्चात्य पद्धति में पहला तार रुपहला होता है और शेष तार मोटी-पतली ताँत के क्रम से लगते हैं। भारतीय पद्धति में पहला तार रुपहला और शेष तार फ़ौलाद के लगाए जाते हैं। इन दोनों पद्धतियों में से भारतीय पद्धति अच्छी है; क्योंकि ताँत के तारों से जब मींड़ निकाली जाती है, तो उसके रेशे निकलने लगते हैं, किंतु तारों में यह दोष नहीं आने पाता। साथ ही भारतीय पद्धति के तारों से, संगीत में माधुर्य उत्पन्न होने के कारण, वह आकर्षक बन जाता है।

यह बाजा जिस वस्तु से बजाया जाता है, उसे ब (Bow) कहते हैं। हिंदी में इसे गज़ कहा जा सकता है। सारंगी बजाने के गज़ से यह अधिक लंबा होता है। देखो चित्र नं० ३। गज़ के एक सिरे को जहाँ एक का अंक लिखा गया है, बाईं ओर घुमाने से नं० २ का भाग सरकने लगता है और उसमें लगे बाल तंग हो जाते हैं। इसी तरह दाहनी ओर घुमाने से गज़ के बाल ढीले हो जाते हैं। अंक तीन इस चित्र में यह बता रहा है कि यह भाग अर्थात् सीधी छड़ी लकड़ी है और नीचे की ओर बाल हैं। देखो अंक ४। जब वायोलिन बजाना हो, तब गज़ के बालों को तंग कर लेना चाहिए और बजा चुकने पर जब रखना हो, तो बालों को रूमाल से पोंछकर और ढीला करके रख देना चाहिए। बजाने के पहले गज़ के बालों को राजिंस (Rosins) पर धीरे-

चित्र न० ३
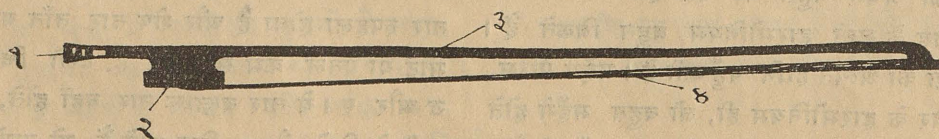
घोरे घिस लेना चाहिए। राज़िंस को हिंदी में बेरची या विरोजा कहते हैं। किसी भी वाद्ययंत्र-विक्रेता के यहाँ से राज़िंस दो-तीन आने में ख़रीदा जा सकता है।

अब वायोलिन के स्वरों को मिलाना चाहिए। पहले तार को अर्थात् चित्र नं० १ में दिखाए गए 'अ' तार को स्वर में मिला लो। अर्थात् उसका स्वर क़ायम कर लो। अब दूसरा तार अर्थात् चित्र नं० १ के 'इ' तार को पहले तार के स्वर के पंचम में मिला लो। तीसरे तार को पहले तार के तीव्र स्वर में अर्थात् टीप में मिलाओ। अर्थात् वह पहले तार के स्वर से दुगुन स्वर में हो। इसी तरह दूसरे तार में चौथे तार को दुगुन में मिलाओ। समझने के लिये यों मान लीजिए कि हारमोनियम के प्रथम सप्तक के षडजस्वर में पहला तार, पंचम में दूसरा तार और दूसरे सप्तक के षडज में तीसरा तथा पंचम में चौथा मिला लो। पहलेपहल बिना किसी स्वर-वाद्य के वायोलिन का मिला सकना नौसिखिए के लिये कठिन होता है, इसलिये हारमोनियम आदि किसी बाजे से मिला लेना चाहिए और धीरे-धीरे बिना बाजे के तारों को स्वर में मिला सकने का अभ्यास बढ़ाना चाहिए।

वायोलिन बजने के लिये तैयार हो गया। अब उसे किस प्रकार पकड़ना चाहिए, यह बताना बाक़ी रह गया। इसके पकड़ने की दो तरकीबें हैं—एक देशी और दूसरी विदेशी। देशी पद्धति में वायोलिन ठुड्डी के नीचे दबा रहकर, बाएँ हाथ पर नाक की सीध में सामने रक्खा जाता है और विदेशी पद्धति के लिये चित्र नं० ४ देखिए। वायोलिन किस प्रकार पकड़कर बजाना चाहिए, यह बात चित्र नं० ४ से आपको भली भाँति समझ में आ सकती है। चित्र में अच्छी तरह देख लीजिए कि टंग के नीचे की लकड़ी के बाएँ और बाएँ हाथ का अँगूठा रहेगा और दाहनी तरफ़ शेष चारों उँगलियाँ, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिका टंग के दाहनी बाजू रहेंगी। इन्हीं उँगलियों को यथास्थान तारों पर रखने और उठाने से वायोलिन में स्वरों की उत्पत्ति होती है।

बाजे को बाएँ हाथ से थाम लो। और दाहने हाथ में गज़ (Bow) उठा लो। गज़ को उस जगह से पकड़ना चाहिए, जहाँ उसके दाहने भाग पर अँगूठा रखने

चित्र नं० ४

के लिये स्थान बना होता है। एक तरफ़ अँगूठे का पहला पोर जमाकर दूसरी ओर तीन उँगलियाँ गज़ की लकड़ी पर झुकी हुई रखनी चाहिए और कनिष्ठिका को गज़ के स्क्रू (Screw) पर रखना चाहिए। गज़ को बिरोजा (Rosins) लगा लो। बिना बिरोजा लगाए आवाज़ अच्छी नहीं निकलेगी। ब्रिज और टंग के बीच में गज़ को रखकर चलाना चाहिए। इधर-उधर होने से अच्छी आवाज़ नहीं निकलती। ब्रिज की ओर गज़ जाने पर चर्र-चर्र की आवाज़ निकलने लगती है। गज़ को दूसरे सिरे से नौ इंच तक के हिस्से को ज़ोर से चलाना चाहिए। ऐसा करने से स्वर पर अधिकार हो जाता है। वायोलिन की आवाज़ कई दिनों तक बजने के बाद खुलती है।

अब इस बाजे में से स्वर निकालना है, इसलिये उँगली रखकर स्वर निकालने का अभ्यास करो। इसमें परदे नहीं होते, इसलिये स्वर बाँधना बजानेवाले की उँगलियों और कानों पर अवलंबित है। पहलेपहल

बड़े धैर्य और शांति के साथ आरंभ करना चाहिए, जल्दी करने से काम बिगड़ जायगा।

रागशास्त्र में मुख्य स्वर सात माने गए हैं। पाँच इनमें कोमल होते हैं। षडज (स्वर) और पंचम कभी कोमल नहीं बनते। वायोलिन के तार भी षडज, पंचम और षडज पंचम में मिले होते हैं। इसलिये पहले तार पर ऋषभ, गंधार और मध्यम (रे, ग, म) और दूसरे पर धैवत और निषाद (ध, नी) स्वरों को निकालना बाक़ी रह जाता है। पहले तार पर पंचम और दूसरे पर अगले तार का स्वर भी निकाला जा सकता है।

रुपहले तार (Silver wire) पर धीरे-धीरे गज़ चलाओ और इस बात का ध्यान रक्खो कि स्वर में टूट न मालूम हो और यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि एक तार से दूसरे तार पर जब गज़ आवे, तब आवाज़ न टूटने पावे। अब दाहने हाथ की तर्जनी उँगली टंग पर के उस ऊँचे उठे भाग के नीचे, जिस पर से तार खूँटियों पर जाते हैं, दो अंगुल के अंतर पर रखने से 'रे' स्वर निकलेगा। तर्जनी से सवा अंगुल नीचे मध्यमा रखने से 'ग' स्वर निकलेगा। मध्यमा के पास ही अनामिका रख देने से 'म' स्वर निकलेगा। अब सब उँगलियाँ उठाकर पास के दूसरे तार पर गज़ लाइए, यह पंचम 'प' है। इस दूसरे तार पर भी 'रे' निकालने की तरह दो अंगुल दूरी पर उँगली रखिए, 'ध' बन जायगा और उससे सवा अंगुल दूरी पर मध्यमा उँगली रखकर 'नी' और उसी के पास अनामिका रखकर 'सा' स्वर निकाल लेवें। इस प्रकार सा, रे, ग, म, प, ध, नी, एक सप्तक बन गया। अब शेष दो तारों पर भी इसी तरह सप्तक निकालो।

यह शुद्ध स्वरों के सप्तक निकालने की विधि बताई गई है। कोमल निकालने के लिये उँगलियों को शुद्ध स्थान से आगे-पीछे सरकाकर उनका अभ्यास कर लेना चाहिए।

अब हम आगे थोड़ा-बहुत आरंभिक सरगम देना चाहते हैं, इसलिये उनके विषय में यहाँ कुछ संकेतों को निश्चय कर लेना ज़रूरी है। हम पहले सप्तक के नीचे अक्षरों के बिंदु रक्खेंगे, मध्यम-सप्तक के अक्षरों पर कोई चिह्न न होगा। और टीप (तार) सप्तक के अक्षरों पर ऊपर बिंदु रक्खेंगे। कोमल के लिये '^' ऐसा चिह्न रक्खा जायगा। इससे अधिक झगड़े में हम नौसिखियों को डालना ठीक नहीं समझते। ज्यों-ज्यों आगे बढ़ें, त्यों-त्यों अपना अभ्यास और अध्ययन बढ़ाते जायँ। प्रत्येक वाद्य के सरगम एक ही होते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि हारमोनियम के सरगम वायोलिन पर बजाने से वह न बजे। आगे चलकर किसी भी पुस्तक से सहायता ली जा सकती है। आरंभ में तो वायोलिन पर सरगम खूब तैयार हो जाना चाहिए। 'सा' से 'नी' तक के चढ़ाव को राग-शास्त्र में आरोह और 'नी' से 'सा' तक के उतार को अवरोह कहते हैं। वायोलिन सीखनेवालों को सबसे पहले आरोह और अवरोह का ख़ूब अभ्यास कर लेना चाहिए। बाद में नीचे लिखी तरह सरगम तैयार कर लें।

(१) सारे, गम, पध, निसां

सांनी, धप, मग रे सा

(२) सारे सारेग, रेग रेगम, गम गमप, मपमपध, पध पधनी, धनी धनी सां।

सांनी सांनीध, नीध नीधप, धप धपम, पम पमग, मग मगरे, गरे गरेसा।

(३) सारेग, रेगम, गमप, मपध, पधनी, धनीसां। सांनीध, नीधप, धपम, पमग, मगरे, गरेसा।

(४) सारेगम, रेगमप, गमपध, मपधनी, पधनिसां। सांनीधप, निधपम, धपमग, पमगरे, मगरेसा।

एक-एक गज़ के खिंचाव में एक-एक बोल निकलना चाहिए। जब चार-चार स्वर निकलने लगें, तब पाँच-पाँच [illegible] त-सात एवं आठ-आठ तक एक गज़ में बजाने का अभ्यास कर लेना चाहिए।

वायोलिन पर गायन बजाने के पूर्व नीचे लिखे सरगमों का अच्छा अभ्यास कर लेना चाहिए। ऐसा करने से उँगलियाँ अच्छी तरह चलने लगेंगी—

(१) सारे गरेसा

(२) स[illegible]म गरेसा

(३) सारेगमप मगरेसा

(४) सारेगमपध पमगरेसा

(५) सारेगमपधनी धपमगरेसा

(६) सारेगमपधनीसां नीधपमगरेसा

(७) सारेगमपधनीसांरें, सांनिधपमगरेसा

(८) सारेगमपधनीसांरेंगें रेंसांनीधपमगरेसा

(९) सारेगमपधनीसांरेंगंमं गरेंसांनिधपमगरेसा

(१०) सारेगमपधनीसांरेंगंमंपं मंगंरेंसांनिधपमगरेसा

हाथ की अच्छी तैयारी हो जाने पर गायन बजाने का अभ्यास आरंभ करना चाहिए। सबसे पहले, सीधे और सरल गायन निकालने चाहिए। फिर धीरे-धीरे आगे बढ़ते जाना चाहिए। यहाँ हम किसी गायन का सरगम देकर व्यर्थ ही स्थान नहीं रोकना चाहते। और यदि एक-दो सरगम लिख भी दें, तो उससे लाभ भी क्या होगा? जिन्हें आगे जानने की इच्छा हो, वे किसी भी ऐसी पुस्तक से, जिसमें राग-रागिनियों के सरगम लिखे हों, सहायता ले सकते हैं। हारमोनियम सिखाने की पुस्तकों में बहुत-से सरगमें होंगे, वे ही सरगमें वायोलिन पर बजाने से राग-रागिनियाँ बन जायँगे। हारमोनियम और वायोलिन के सरगमों में कोई भिन्नता नहीं है। आशा है, पाठक इस लेख से लाभ उठावेंगे।

गणेशदत्त शर्मा गौड़ "इन्द्र"

कोकिल के प्रति—

बैठि अटान लौं ऊँची सिखान पै,
टेरिबे में तो कछू छति नाहीं;
भौंर की भीरनि मौरनि के मिस,
गाओ बसंत के गीत सदाहीं।

वे दिन बीते, पिरीते कहाँ, उन-
की तो रही कहनाउति नाहीं;
ये चढ़ि मेघ जुड़ावत भेकन,
रावरी तो सुधि आवति नाहीं।

मातादीन शुक्ल

मयूर-नृत्य

सुनि घहरनि धुनि गहिरि घटान केर,
मोर मतवारे भए प्रेम की तरंग में;
बिपिन में बागन में नगन में हिलि-मिलि,
चुंबत अलिंगत कलोलत उमंग में।

नैन सुखवारे, नैनछापवारे पुच्छ पच्छ,
सुंदर फुलाए फहराए नाचैं रंग में;
हिय हुलसावैं मन मोद उपजावैं सिव,
लखत अनंद सब पावैं अंग-अंग में।

शिवनंदनसहाय

खोज

राका पट घूँघट रचाइ रुचिरानन पै,
प्रकृति-वधूटी दुरी प्रबिसि प्रतीची मैं;
छलकि परे जे जल-बिंदु अँखिया तैं वाके,
बिखरि परे ते नभ निलय दिशीची मैं।

ताके खोजिबे को कर लीन्हें मनि-दीप-ज्योति,
आकुल कढ़्यो है कौन उमँगि उदीची मैं;
पावत न खोज चोज वारो बढ़ि रोज-रोज,
हेरत हनोज बिश्वराट की बगीची मैं।

लक्ष्मीनारायणसिंह 'ईश'

गोलमेज़-सभा के लिये आयोजन

न्यायप्रदीप—लेखक, साहित्यरत्न श्रीदरबारीलाल न्यायतीर्थ; प्रकाशक, साहित्यरत्न-कार्यालय, जुबिलीबाग़, तारदेव, बंबई; पृष्ठ-संख्या १३६; मूल्य एक रुपया।

वास्तव में यह बड़े खेद की बात है कि हिंदी में दर्शन-ग्रंथों का अभाव-सा है। संस्कृत में दर्शन-शास्त्र के प्रत्येक विभाग में ऐसे अनेक ग्रंथ हैं, जिनको सरलता-दुरूहता के क्रम से प्रत्येक श्रेणी का विद्यार्थी पढ़ सकता है। प्रवेशिका के विद्यार्थी के लिये यदि तर्क-संग्रह मौजूद है, तो क्रम से सीढ़ी पार करते हुए जब वह आचार्य बन जाता है, तो उसके लिये शक्तिवाद रक्खा हुआ है। मीमांसा-परिभाषा से श्लोकवार्तिक तक ग्रंथों की सोपान-परंपरा बनी हुई है, जिन पर क्रमशः पाद-विन्यास करते हुए कोई भी पांडित्य के परम शिखर पर पहुँच सकता है। वेदांत, व्याकरण, अलंकार—सभी इसी प्रकार कृत-तीर्थ हैं। हद में भी इसी प्रकार से साहित्य-निर्माण की ओर जिस दिन संगठित रूप से हिंदी-भाषा-भाषी विद्वान् ध्यान देंगे, उसी दिन हमारी मातृभाषा में छोटे-बड़े सबके लिये सत्य-अर्थ को बतानेवाले प्रामाणिक ग्रंथ मिल सकेंगे। अभी तो सर्वत्र उच्छृंखलता है। प्रत्येक दर्शन के पृथक्-पृथक् छः विद्वान् भी अपने शास्त्र के लिये इस प्रकार क्रम-श्रृंखलित ग्रंथमाला निकालने पर ध्यान दें, तो बहुत शीघ्र इस अभाव की पूर्ति हो सकती है। इतना भूमिकारूप में है।

प्रस्तुत ग्रंथ न्याय-दर्शन की प्रवेशिका श्रेणी से कुछ ऊँचे विद्यार्थियों के लिये अच्छा है। ग्रंथकार का कहना यह है कि उन्होंने 'अनेक शास्त्रों का सहारा लेकर प्रत्येक विषय पर बुद्धि के अनुसार चिंतन किया है, उसके अनुसार जो सामग्री उपलब्ध हुई, वही इसमें रक्खी गई है। फिर भी इसमें बहुत-सी त्रुटियाँ और अशुद्धियाँ रह गई होंगी। उनके लिये क्षमा माँगने के सिवा और क्या किया जा सकता है?' हो सकता है कि लेखक ने ग्रंथ के लिखने में बहुत परिश्रम किया हो, पर वह अपने प्रयत्न में सफल नहीं हुए। मुख्य त्रुटि यह है कि उन्होंने ग्रंथ की कोटि या कक्षा (Standard) का ध्यान नहीं रक्खा। कहीं लक्षण ही लिखकर छोड़ दिए हैं, उदाहरण नहीं दिए। कहीं लक्षणों को भी स्पष्ट करने की ओर पूरा ध्यान नहीं दिया गया। लेखक कुछ

जल्दी में लिखते हैं। न्याय का विषय यों ही बहुत सूखा है, उसको यदि पल्लवित न किया जाय, तो बिलकुल ही नीरस हो जाता है। कहीं (पृ० ११ पर) वह शास्त्रार्थ में इतना चले गए हैं कि विना आचार्य के सिद्धांत सुगम नहीं हो सकते। पुस्तक को भिन्न-भिन्न वादों का क्रीड़ा-स्थल न बनाकर तर्क-शास्त्र की परिभाषाओं को ही विशेष स्पष्ट और निश्चित रूप से बताना चाहिए। किन्हीं अंशों में साहित्यरत्नजी ने इस ओर ध्यान दिया है, फिर भी दूसरे संस्करण में इसी ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। न्याय एक ऐसा विषय है, जिसमें आधुनिक लेखक को नया कुछ नहीं कहना है। उसे पूर्व-निर्धारित परिभाषाओं और लक्षणों को ही स्पष्ट करने की ओर विशेष ध्यान देना उचित है।

लेखक ने जैन-न्याय पर भी तीन अध्याय लिखे हैं, जो औरों से बहुत अच्छे हैं। गौतमीय न्याय पर लिखते हुए (चौथा अध्याय) तो उनके वाक्यों से बार-बार यही ध्वनि निकलती है कि ब्राह्मण तार्किकों ने थोथी चालाकियों और शास्त्रार्थ के कड़े बंधनों में ही जैन (या बौद्ध) दार्शनिकों को जकड़कर बोलने से वंचित कर दिया और मिथ्या हार घोषित कर दी। न्यायतीर्थजी हार-जीत के पचड़े में न पड़कर लक्षणों के उदाहरण विस्तार से लिखते, तो अच्छा होता।

चतुर्थाध्याय में सूक्ष्मतः देखने पर 'निग्रह-स्थान' के विवेचन में कई त्रुटियाँ मालूम पड़ीं। शास्त्रार्थ का निर्णय देनेवाले मध्यस्थों को यह अवश्य बताना पड़ता था कि किस स्थान पर (Stage indiscussion) वादी या प्रतिवादी का निग्रह हो गया, जिससे उसकी हार मानी गई। यदि निग्रह-स्थान के बाद भी शास्त्रार्थ जारी रहे, तो फिर वहाँ धौल-धप्पा मचने लगेगा। वादी ने एक प्रतिज्ञा की, प्रतिवादी से उसका उत्तर नहीं बन पड़ा। ऐसी हालत में प्रतिवादी अंड-बंड कहने लगे, तो परिषत् उसको निगृहीत कह देगी। गौतम ने बाईस तरह के निग्रह-स्थान बताए हैं। उन सबमें परस्पर सूक्ष्म भेद हैं। लेखक इसे भूल जाते हैं। 'न्यून' को वह निग्रह-स्थान नहीं मानते। प्रतिज्ञा के पाँच अवयव पूरे होने से साध्य पूर्ण होता है। 'न्यून को निग्रह-स्थान मानना बिलकुल व्यर्थ है, क्योंकि प्रतिज्ञा और हेतु से ही काम चल सकता है। इसलिये अगर उदाहरण उपनय-निगमन का प्रयोग न भी किया जाय, तो पराजय नहीं माना जा सकता।' (पृ०६३) प्रश्न 'न किए जाने' का नहीं है, न कर सकने का है। अगर उदाहरण माँगा जाय और आप न दे सकें, तो अवश्य आपकी हार हुई और परिषत् निर्णय देगी कि 'न्यून' निग्रह-स्थान से आपकी हार हुई। 'अधिक होने से कुछ नुक़सान नहीं है, क्योंकि इससे वक्तव्य दृढ़ और स्पष्ट होता है। इससे पराजित होने का कुछ भी संबंध नहीं है।' (पृ० ६३) प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिये जिन पाँच अंगों की आवश्यकता है, उससे अधिक यदि वादी को कहने का मौक़ा दिया जाय, तो शास्त्रार्थ शैतान की आँत की तरह बढ़ाया जा सकता है, एक की जगह दस-दस विभिन्न और असंबद्ध हेतु देने से भी वादी न रोका जा सकेगा। पर्वत में आग है, क्योंकि उसमें धुआँ भी है, और प्रकाश भी है। इस प्रकार दो हेतु देना अधिक है। यदि आप विना दोनों के पक्ष का मंडन कर ही न सकें, तो अवश्य हार है; क्योंकि विना एक हेतु की हार के दूसरा स्वतंत्र और व्याप्तिमान् हेतु देना अनावश्यक है। इस प्रकार करने से वादी सैकड़ों हेतु देने का दावा कर सकेगा। पहला कट जाने के बाद वह दूसरा देगा, दूसरे के बाद तीसरा। यद्यपि सब हेतु कटते रहेंगे, तो भी वादी की हार न होगी; क्योंकि उसे फिर भी अधिक हेतु देने का अधिकार रहेगा। इसी तरह यदि एक ही शास्त्रार्थ में दो प्रतिज्ञाएँ मिला दी जायँ, तो वाद कभी समाप्त ही न होगा।

न्याय में 'पुनरुक्त' (Repetition) भी निग्रह-स्थान अर्थात् हार का कारण है। लेखक कहते हैं कि इसे भी निग्रह-स्थान न मानना चाहिए। हमारी समझ में पुनरुक्त अवश्य निग्रह-स्थान है। एक बार एक वाक्य कहकर आप शब्दों की योजना से उसी अर्थ को पचास बार नहीं कह सकते। यदि ऐसा ही होने लगे, तो सत्य-अर्थ का निर्णय कभी न हो। हारनेवाला चाहे जब एक ही बात को घुमाकर फिर-फिर कहता रहे और परिषद् बुद्धू की तरह सुनती रहे। कारणवश अर्थ को स्पष्ट करने के लिये भावार्थ को दोहराना पुनरुक्ति नहीं है; पर यदि कोई विपक्षी ऐसा ही करने का हठ करे, तो अवश्य उसकी हार कही जायगी। लेखक ने 'अनुवाद' और पुनरुक्त के भेद को भुलाकर

बड़ी भूल की है। आप लिखते हैं—'पुनरुक्त को निग्रह-स्थान न मानना चाहिए ; क्योंकि शब्द की पुनरुक्ति तो यमक अलंकार में भी होती है' (पृ० ९१)। महर्षि गौतम इस बात को अच्छी तरह जानते थे और इसीलिये उन्होंने लिख दिया है—

अनुवादे त्वपुनरुक्तं शब्दाभ्यासादर्थविशेषोपपत्तेः । ५।२।१५

अर्थात् जहाँ शब्दों के दो बार कहने से किसी विशेष अर्थ की उद्भावना हो, वहाँ पुनरुक्त दोष है ही नहीं। उसका नाम अनुवाद है। वह सहेतुक होता है। यमक में अर्थविशेष के चमत्कार के लिये द्विरुक्ति होती है। पाणिनि ने भी नित्य और वीप्सा अर्थों में आम्रेडित संज्ञा कही है। हठपूर्वक पुनर्वचन करनेवाले को परिषद् रोके नहीं, तो क्या जयपत्र लिख दे !

इसी तरह 'अप्राप्तकाल' को भी आप निग्रह-स्थान नहीं मानते। न्याय (Syllogism) में अवयवों को उलटा-पलटा करके कहना अनुचित है। पहले प्रतिज्ञा, फिर हेतु, उदाहरण आदि क्रम से चलना चाहिए। मान लिया कि आपने पहले हेतु कहकर तब प्रतिज्ञा कही। यदि वादी ने अर्थ समझ लिया, तो शास्त्रार्थ में रुकावट न पड़ी। पर यदि उसने डाँटकर कहा कि पंचावयवों को ठीक-ठीक कहिए और फिर भी आप गड़बड़ाते ही रहे, तो परिषद् समझेगी कि निग्रह हो गया अर्थात् आपमें शास्त्रार्थ की क्षमता नहीं है कि विचारों को क्रम से सजा भी सकें। इसलिये अप्राप्त काल की गिनती निग्रह-स्थानों में है।

इसी तरह 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' भी निग्रह-स्थान है, पर लेखक कहते हैं कि 'इस निग्रह-स्थान से पराजय मानना अनुचित है' (पृ० ९२)। जब विपक्षी निग्रह-स्थान में पड़ जाय और वादी उसे टोके नहीं, बल्कि उसकी उपेक्षा करके उसे बोलता रहने दे, तो परिषद् का धर्म है कि वादी को संकेत करे कि तुम्हारा विपक्षी निगृहीत होने के योग्य है। इतना चिताने पर भी यदि वादी उस दोष की उपेक्षा करके विपक्षी को बोलने ही दे, तो परिषद् का धर्म है कि वादी को ही निगृहीत कहकर शास्त्रार्थ बंद कर दे। इस निग्रह-स्थान का महत्त्व वहाँ मालूम होता है, जहाँ वादी-प्रतिवादी कूट अभिसंधि करके मिल जाते हैं (Collusive disputants)। सिर्फ़ वहीं वादी प्रतिवादी को परिषद् के कहने पर भी निगृहीत नहीं करेगा। तो क्या परिषद् फ़ालतू है, जो इस प्रकार के धोखे को चलने दे ? इसकी सज़ा यही है कि उपेक्षा करनेवाले वादी को ही हारा हुआ घोषित किया जाय। इस प्रकार पर्यनुयोज्योपेक्षण (Overlooking to censure when there is an occasion for censure) बहुत महत्त्व का निग्रह-स्थान है। खेद की बात है कि लेखक ने इन परिभाषाओं के असली तत्त्व को नहीं खोला, जिससे भ्रम फैल सकता है। अच्छा हो, यदि लेखक अधिक सावधानी से पुस्तक का दूसरा संस्करण निकालें।

× × ×

तत्त्वचिंतामणि—लेखक, श्रीजयदयाल गोयन्दका ; प्रकाशक, गीता-प्रेस, गोरखपुर; पृष्ठ-संख्या ३६५; मूल्य ।॥~)

समर्थ गुरु भगवान् रामदास ने कहा था कि उपासना करनी चाहिए। जिसे उपासना का बल नहीं होता, उसे चाहे जो कूट डालता है। इन 'चाहे जो' शब्दों में शरीर में बसनेवाले काम क्रोध लोभ मोह अहंकार आदि रिपु और बाहर रहनेवाले दुष्ट आततायी दोनों ही आ जाते हैं। शरीरस्थ आध्यात्मिक वैरियों से अपना बचाव करके, परम निःश्रेयस् की प्राप्ति का उद्देश्य करके संसार के यथाप्राप्त कर्मों को अनासक्ति से करते रहना सर्वोत्तम जीवन-सिद्धांत है। इसी का आश्रय लेकर श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ने कल्याण मासिक पत्र और गीता-प्रेस के द्वारा गोरखपुर में देश में फैले हुए मुमुक्षु और साधकों का एक बहुत ही सच्चा केंद्र स्थापित किया है। सत्य-भाव के साथ भगवान् की उपासना करना कल्याण से संबद्ध सब लोगों का मूलमंत्र है। उनमें कितने ही ऐसे पहुँचे हुए जन हैं, जो आत्मा को जानने के मार्ग में बहुत आगे बढ़ गए हैं। 'तत्त्वचिंतामणि' के लेखक श्रीजयदयालजी ऐसे ही सत्पुरुषों में हैं। उक्त पुस्तक उनके 'कल्याण' में समय-समय पर प्रकाशित उन्तीस लेखों का संग्रह है। पुस्तक में धर्म का भाव बड़ा जागरूक है, प्रत्येक पृष्ठ से सचाई और सात्त्विकी श्रद्धा प्रकट होती है। लेखक को अपने मत का प्रचार नहीं करना है, इसलिये उन्हें किसी बात का आग्रह नहीं है। उन्होंने जगत् के तत्त्वों को अपनी आँखों से अपने लिये देखने की कोशिश की है, यही उनको इसका अधिकारी बना देता है कि उनकी बात सुनी जाय। लेखकी

ने एच्० जी० वैल्स के लिये लिखा है—"Whoever sees the world genuinely through his own eyes challanges the world," अर्थात् जो सचाई के साथ संसार को स्वयं देखता है, वह औरों के मत को चुनौती देता है। इसलिये वह नए ढंग से बात कहता है और यह उसकी श्रवणार्ह योग्यता है। तत्त्वचिंतामणि इसी ढंग की पुस्तक है, जो श्रद्धालु मनुष्यों को स्वयं सोचने और सत्कर्म करने पर बाध्य करती है। प्रायः इस 'श्रद्धालु' शब्द की इस शताब्दी में बड़ी दुर्दशा हो रही है। अहंकार-विमूढ़ अविश्वासी जनों के लिये श्रद्धा भोंदूपन है। हम मानते हैं कि पुरानी दिए की बत्ती और आधुनिक बिजली के बल्व में बहुत अंतर है। पर बिजली की चकाचौंध में रहनेवाले ही आज लैंबेथ कानफ़्रेंस में रो रहे हैं कि सात्त्विकी श्रद्धा के लोप हो जाने से पुरुष-जीवन और मनुष्य-समाज की नींव खोखली हो गई है। मानसिक जगत् का काम मशीनों से कौन ले सकता है? आधुनिक सभ्यता, धर्म और दर्शन को वास्तविक जीवन से परे हटा हुआ समझती है। व्यक्ति की नीति-विषयक स्वच्छंदता उच्छृंखलता में परिणत हो गई है। पुराने संयम के बंधन तोड़ तो डाले गए, पर उनके स्थान में उससे अच्छी कोई चीज़ प्रतिष्ठित न हो सकी। ऐसी दशा में जहाँ प्राचीन श्रद्धा के अनुसार मुक्ति-पथ के अनुरूप जीवन ढालने का सदुद्योग हो, वहाँ हमें सहसा हँस देने का अधिकार नहीं रह जाता। यों तो पुस्तक के सभी लेख सुपाठ्य हैं और उनमें धर्म का प्रबल भाव पाया जाता है, तो भी 'ज्ञान की दुर्लभता', 'निराकार-साकार-तत्त्व', 'भगवान् क्या हैं', 'गीता में भक्ति', 'सच्चा सुख,' 'गीतोक्त संन्यास' और 'निष्काम कर्मयोग का स्वरूप' तथा 'व्यापार-सुधार की आवश्यकता' और 'व्यापार से मुक्ति'-शीर्षक लेख बहुत ही सुंदर और लाभप्रद हैं। पिछले दो लेख तो अमृत-रूप हैं। यदि हमारा वर्तमान वैश्य या व्यापारी वर्ग गोयन्दकाजी के इन शब्दों पर ध्यान दें—'दूकानदार को यह बुद्धि रखनी चाहिए कि उसको दूकान पर जो ग्राहक आता है, वह साक्षात् परमात्मा का ही स्वरूप है...' तो वित्त-मोह के कारण वे जिस कलिल में पड़े हुए हैं, उससे उनका अनायास ही छुटकारा हो जाय। 'संसार का सब धन परमात्मा का है, हम सब उसी की प्रजा हैं। परमात्मा ने योग्यतानुसार सबको ख़ज़ाना सँभलाकर हमें उसकी रक्षा और यथायोग्य व्यवहार की आज्ञा दी है।' इन उत्तम वचनों पर आज ध्यान देने की फ़िक्र किसे है?

श्रीजयदयालजी के वेदांत-विषयक विचार बहुत मँजे हुए और सच्चे हैं। थोथे लोग, जो माया और असत्वाद के तत्त्व को नहीं समझते, एकदम कह देते हैं कि जगत् कल्पित है, मानों वे वक्ता स्वयं सत्य हैं। श्रीजयदयालजी ने इसे स्पष्ट किया है—"वेद, शास्त्र और तत्त्ववेत्ता महापुरुषों का भी यह कथन है कि एक शुद्ध बोध ज्ञानस्वरूप परमात्मा ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, परंतु किसी भी व्यक्ति के द्वारा 'संसार असत् है' यों कहा जाना उचित नहीं; क्योंकि वास्तव में यों कहना बनता नहीं। संसार को असत् मानने से संसार के रचयिता सृष्टिकर्ता ईश्वर, विधि-निषेधात्मक शास्त्र, लोक-परलोक और पाप-पुण्य आदि सभी व्यर्थ ठहरते हैं, और इनको व्यर्थ कहना या मानना अनधिकार की बात है। जिस वास्तविकता में शुद्धब्रह्म के अतिरिक्त अन्य का आत्यंतिक अभाव है, उसमें तो कुछ कहना बनता नहीं; कहना भी वहीं बनता है, जहाँ अज्ञान है। और जहाँ कहना बनता है, वहाँ सृष्टि के रचयिता, संसार और शास्त्र आदि सब सत्य हैं और इन सबको सत्य मानकर ही शास्त्रानुकूल आचरण करना चाहिए।" (पृ० १७) शुष्क वेदांत की मरुभूमि में ज्ञान, भक्ति और कर्म में से कोई भी पौदा पल्लवित नहीं होता।

वासुदेवशरण

× × ×

हिंदू-भारत का उत्कर्ष (या राजपूतों का प्रारंभिक इतिहास)—लेखक, श्रीयुत चिंतामणि विनायक वैद्य एम्० ए०, एल्-एल्० बी० ; अनुवादक, श्रीयुत भगवानदास ; प्रकाशक, ज्ञानमंडल, काशी ; सजिल्द ; पृष्ठ-संख्या ५२१ ; मूल्य ३॥)

श्रीयुत सी० वी० वैद्य ने अँगरेज़ी में मध्यकालीन हिंदू-भारत का इतिहास (History of Mediaeval Hindu India)-नामक एक इतिहास लिखा है। उसके तीन भागों में ई० स० ६०० से १२०० तक का हिंदू-भारत का इतिहास है।

प्रस्तुत पुस्तक उसी इतिहास के दूसरे भाग का हिंदी-अनुवाद है और इसमें ई० स० ७५० से १००० ईसवी तक का हाल है।

इसके पहले अध्याय में राजपूतों की उत्पत्ति और उनके कुल आदि पर विचार किया गया है, दूसरे में उस समय के अन्यान्य हिंदू-राज्यों का इतिहास है, तीसरे में उस समय के रीति-रिवाजों का वर्णन है और परिशिष्ट में कुछ ख़ास बातों का उल्लेख है।

वैद्य महाशय एक विद्वान्, अनुभवी और प्रतिभा-संपन्न पुरुष हैं। जिन्होंने आपके 'महाभारत-मीमांसा' आदि ग्रंथ पढ़े हैं, वे आपकी विद्वत्ता और विचारशैली से अवश्य ही परिचित होंगे।

वैसे तो किसी ख़ास विषय पर दो ऐतिहासिकों में मतभेद होना एक स्वाभाविक-सी घटना है, परंतु वैद्य महाशय की सर्वतोमुखी गवेषणा और निर्णायक शक्ति को अंगीकार करने में किसी का मतभेद न होगा।

आशा है, हिंदी-संसार इस पुस्तक का आदर कर वैद्य महाशय को अपनी अमूल्य पुस्तकों का अनुवाद हिंदी में प्रस्तुत करवाते रहने के लिये उत्साहित करेगा।

इस पुस्तक के ऐसे सरल और सुंदर हिंदी-अनुवाद को प्रस्तुत करने के लिये हम, यहाँ पर, श्रीयुत भगवानदासजी को भी हार्दिक धन्यवाद देना आवश्यक समझते हैं।

विश्वेश्वरनाथ रेउ

× × ×

अफ़ग़ानिस्तान—लेखक, पं० मातासेवक पाठक; प्रकाशक, हिंदी-साहित्य-मंदिर, २-३ चित्तरंजन एवन्यू (साउथ), कलकत्ता; पृष्ठ-संख्या २७६; मूल्य २)

अफ़ग़ानिस्तान हमारा पड़ोसी देश है। इस देश का हमारे देश से प्राचीन काल से संपर्क रहा है। इसलिये हमें इस देश के भूगोल तथा इतिहास का जानना आवश्यक है। अभी तक हमने हिंदी में अफ़ग़ानिस्तान-विषयक कोई पुस्तक नहीं देखी थी। यह पुस्तक इस कमी को बहुत कुछ पूरा करती है। कुछ समय हुआ, अफ़ग़ानिस्तान के भूतपूर्व शाह अमानुल्ला के आकस्मिक ऐश्वर्य प्राप्त करने और फिर शीघ्र ही पारस्परिक कलह के कारण निर्वासित होने के कारण भारतवासी अफ़ग़ानिस्तान का आधुनिक इतिहास जानने के बहुत उत्सुक हो गए थे। इसलिये लेखक महाशय ने अफ़ग़ानिस्तान के इतिहास के इसी भाग पर विशेष ध्यान दिया है। पुस्तक सचित्र है, कवर पर "अफ़ग़ानिस्तान के उद्धार-कर्त्ता अमानुल्लाख़ाँ" का रंगीन चित्र है। भीतर भूतपूर्व शाह के जीवन-संबंधी कई चित्र हैं। अफ़ग़ानिस्तान का भौगोलिक वर्णन भी है।

पुस्तक पढ़ने से यह साफ़ प्रकट होता है कि लेखक महाशय अमानुल्ला के भक्त हैं। लेखक महाशय का हृदय इस विषय में भारतीय हृदय का सच्चा प्रतिबिंब है। शाह अमानुल्ला को असफलता के लिये लेखक महाशय मुल्लाओं और अँगरेज़ों को उत्तरदायी ठहराते हैं। मुल्लाओं का दोष तो प्रकट ही है। अँगरेज़ों का कहाँ तक हाथ था, यह बताना कठिन है। परंतु यह निश्चय है कि कई अँगरेज़ राजनीतिज्ञों ने अमानुल्ला को पहले ही चेतावनी दे दी थी कि अफ़ग़ानिस्तान उजड्ड देश है, यहाँ बहुत शीघ्र सुधार की दौड़ लगाने का प्रयत्न न कीजिएगा। सच पूछिए तो शाह अमानुल्ला की असफलता का यही कारण था कि सच्चे देश-भक्त होते हुए भी उन्होंने देश की स्थिति के विरुद्ध बहुत शीघ्र उसे उन्नत करने का प्रयत्न किया। शाह अमानुल्ला के पतन से हमें यह शिक्षा मिलनी चाहिए कि समाज स्वभावगत परंपरापूजक है; उसे ठीक मार्ग पर लाने के लिये धैर्य और शिक्षाप्रचार की आवश्यकता है। यदि शाह अमानुल्ला ३० वर्ष तक शिक्षाप्रचार पर ही ध्यान देते, तो जो सुधार वह चाहते थे, उनके लिये प्रजा तैयार हो जाती और तब सुधार भी दृढ़ होते।

× × ×

राष्ट्रीय शिक्षा का इतिहास—लेखक, श्रीयुत कन्हैयालाल; प्रकाशक, काशीविद्यापीठ, काशी; पृष्ठ-संख्या २६१; मूल्य २)

भारतीय शिक्षा-प्रणाली का एक रूप तो वह है, जो सरकारी नियंत्रण में है, और दूसरा वह, जो सरकारी नियंत्रण से स्वतंत्र है। यद्यपि विस्तार के विचार से इस स्वतंत्र शिक्षा-प्रणाली का क्षेत्र अभी बहुत संकुचित है, तथापि राष्ट्रीय जागृति के नाते इसका महत्त्व किसी प्रकार से कम नहीं है। अभी तक हिंदी में कोई ऐसी पुस्तक न थी, जिसमें भारतीय शिक्षा के इतिहास की विवेचना होती और वर्तमान राष्ट्रीय शिक्षालयों का विवरण

होता । इस कमी को काशी-विद्यापीठ के संचालकों ने श्रीकन्हैयालालजी की लेखनी द्वारा पूरा किया है । इस सेवाकार्य के लिये हम उन्हें हार्दिक बधाई देते हैं ।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक महोदय ने सरकारी शिक्षा-प्रणाली के गुण-दोष की जाँच की है; राष्ट्रीय शिक्षा के मुख्य-मुख्य सिद्धांतों की विवेचना की है, और वर्तमान राष्ट्रीय शिक्षालयों का विवरण देकर इन सिद्धांतों के व्यावहारिक रूप में लाने का जो कुछ प्रयत्न हो रहा है, उसे सफल या असफल समझने का भार पाठकों पर छोड़ दिया है । लेखक महाशय ने राष्ट्रीय शिक्षा के इतिहास को तीन भागों में विभक्त किया है, उनमें से अंतिम भाग सन् १९२० से प्रारंभ होता है । इधर यदि विचार कर देखिए, तो सरकारी शिक्षा के इतिहास में भी सन् १९२० से एक नए युग का आगमन होता है । सन् १९२० तक शिक्षा की नीति सरकार के हाथ में थी, परंतु सन् १९२० से शिक्षा की नीति जनता के हाथ में आ गई है । यह ठीक है कि कोष पर पूर्ण अधिकार न होने के कारण सरकारी शिक्षा-प्रणाली को राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली के रूप में परिवर्तित करने में कुछ बाधाएँ पड़ी हों; परंतु शिक्षानीति पर जनता को जो कुछ अधिकार मिले, वह चाहे शिक्षाप्रसार में कुछ हद तक असमर्थ होते, परंतु शिक्षाप्रणाली में परिवर्तन करने के लिये यथेष्ट थे । यदि सरकारी शिक्षाप्रणाली अब भी राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं होने पाई है, तो इसमें हमारा, हमारे प्रतिनिधियों तथा अध्यापकों का ही दोष है ।

इस समय जो आंदोलन हो रहा है, उसका और जो कुछ परिणाम हो, परंतु इसमें संदेह नहीं कि शिक्षा-क्षेत्र में जनता के अधिकारों में जो कुछ अभी तक कमी रही है, वह पूरी हो जायगी । ऐसी दशा में हमारा कर्तव्य है कि हम अपने प्रतिनिधियों को आदेश दें कि वे सरकारी शिक्षाप्रणाली को राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुकूल बनावें ।

राष्ट्रीय शिक्षा के सिद्धांतों की जो विवेचना प्रस्तुत पुस्तक में हम पाते हैं, उससे हमें विश्वास होता है कि राष्ट्रीय शिक्षा और प्रचलित सरकारी शिक्षा में इतना भारी भेद नहीं है कि एक का दूसरे से सम्मिलन न हो सके । पृष्ठ ६७ में राष्ट्रीय शिक्षा के जो मुख्य सिद्धांत दिए गए हैं, वे कोई ऐसे नहीं हैं, जिनके मानने से प्रलय की संभावना हो । सूत कातने और रुई धुनने की शिक्षा तथा खादी पहनना अनिवार्य करना तो चाहे असंभव हो, परंतु हमारे शिक्षाविभाग को इस बात के मानने में कोई आपत्ति इस समय भी नहीं है कि अध्यापक और बालक खुशी से खादी पहन सकते हैं और सूत कातने तथा कपड़ा बुनने का काम सीख सकते हैं । क्या ही अच्छा हो, यदि निकट भविष्य में राष्ट्रीय शिक्षालयों के प्रतिनिधि तथा प्रांतीय शिक्षामंत्री और शिक्षाविभाग के संचालक एक साथ बैठकर एक राष्ट्र-व्यापिनी शिक्षानीति निश्चित कर लें । अभी तो देश के इने-गिने राष्ट्रीय शिक्षालय विस्तृत सागर में दीपगृह के समान मार्गप्रदर्शक ही का काम दे रहे हैं, वे व्यापक अंधकार के दूर करने में असमर्थ हैं । सरकारी शिक्षा के राष्ट्रीयता के अनुकूल होने पर इनका प्रकाश देश के कोने-कोने में व्याप्त हो जायगा ।

कालिदास कपूर

कृषि, शिल्प और वाणिज्य

१. हमारा समुद्रतट का व्यापार

अलिखित, किंतु अंतरराष्ट्रीय समझौते के अनुसार प्रत्येक देश को अपनी भूमि के ऊपर की वायु पर भी अधिकार है और उसे पूरा हक़ है कि दूसरे देश के वायुयानों को अपनी सीमा में उड़ने दे अथवा नहीं। किंतु वायुयान तो अभी बने हैं और वायु के प्रभुत्व का प्रश्न भी अभी छिड़ा है। हाँ, जल का उपयोग हज़ारों वर्षों से चला आया है और जल पर अधिकार करने के लिये लाखों जानें गई हैं तथा प्राचीन स्मार्टा, फ़ोयेनीशिया (Smartans and Phoenicians) यूनान, अरब तथा कुस्तुन्तुनिया साम्राज्य से लेकर नवीन युग तक कितने ही साम्राज्यों का पतन और अभ्युदय जल पर अधिकार के कारण, सामुद्रिक व्यापार के कारण तथा इस व्यापार पर अधिकार करने की चेष्टा के कारण हुआ है।

मोरक्को के मूर-मुसलमानों ने रोमन-साम्राज्य के नष्ट होने पर वेनिस नगर के अभ्युदय-प्राप्त व्यापार को नष्ट कर वेनिस का सत्यानाश कर डाला। फ्रांस, हालैंड तथा इँगलैंड सदियों तक केवल भारतीय व्यापार की कुंजी—भूमध्य-सागर (Mediternean sea)—के लिये लड़ते रहे। अस्तु, यह जल पर अधिकार का प्रश्न बड़ा विकट है और इसने सबसे उग्र रूप गत १९१४-१८ के महासमर में धारण कर लिया था। जिस प्रकार भूमि में "तटस्थ" अथवा न्यूट्रल (Neutral) राज्य थे, उसी प्रकार समुद्र में 'तटस्थ' पानी था और अमरीका सदृश मज़बूत तटस्थ 'राज्य के तटस्थ' जल में प्रवेश करने के अपराध और उसके तटस्थ जहाज़ "ल्यूसीरानिया" को डुबाने के पाप के कारण जर्मनी के शत्रुओं के साथ अमरीका भी मिल गया।

व्यवहार में "राज्य का जल" शब्द उसी समय अधिक प्रयोग में आया। किंतु बहुत समय से यह बात स्वीकृत है कि प्रत्येक देश को अपने तट के किनारे, कम-से-कम एक मील तक के जल पर अधिकार है। उसको पूरा हक़ है कि उस सीमा के भीतर दूसरे देश का जहाज़ आने दे, अथवा नहीं। उसे पूरा हक़ है कि उस सीमा के भीतर अपना ही व्यापार रक्खे या आनेवाले जहाज़ों से मनमाना किराया वसूल करे। प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्रवेत्ता स्वर्गीय जान स्टुअर्ट मिल ने

इस अधिकार को स्वीकार किया है। चुंगीरहित, अबाधित, मुक्त व्यापार (Free tarde) के सर्वोच्च पैग़ंबर तथा अर्थ-शास्त्र के जगत्-प्रसिद्ध पंडित मि० ऐडम स्मिथ ने भी अपने समुद्र-तट के व्यापार को "घरेलू व्यापार" तथा स्वतंत्र व्यापार का अपवाद माना है।

ब्रिटिश उपनिवेशों को भी यही अधिकार प्राप्त है। फ़्रांस, अमरीका, जर्मनी आदि स्वतंत्र राज्यों का तो कहना ही क्या है। आस्ट्रेलिया ने अपने तट के व्यापार को अपने ही हाथों में रख छोड़ा है। पिछले दो शताब्दियों तक जिस समय इँगलैंड को अपना व्यापार पुष्ट करना पड़ा था, ऐसा ही क़ानून बनाना पड़ा था। किंतु जब भारतीय अपना यह हक़ चाहते हैं और अपने व्यापार को अपने हाथ में लेकर अपना करोड़ों रुपया बाहर जाने से बचाना चाहते हैं, तो उन्हें मूर्ख अर्थ-शास्त्री कहा जाता है।

भारतीय समुद्र-तट का व्यापार इस समय दो ब्रिटिश कंपनियों के हाथ में है। एक है ब्रिटिश इंडिया स्टीम नेविगेशन कंपनी (British India Steam Nevigation Co.) और दूसरी है एशियाटिक स्टीम नेविगेशन कंपनी (Asiatic Steam Nevigation Co.). ७५-६० फ़ी सदी व्यापार इन्हीं के हाथों में है। बाक़ी के बचे-खुचे व्यापार में सिंधिया स्टीम नेविगेशन कंपनी (Sindhia Steam Nevigation Co.) तथा और भी कई साझेदार हैं।

व्यापार के लिये माल ले आने और ले जानेवाले कितने जहाज़ हैं—भिन्न-भिन्न देशों के कितने जहाज़ काम करते हैं, यह निम्न आँकड़ों से मालूम हो जायगा—

	महासमर के पूर्व	सन् १९२३ में
ब्रिटिश—	२५६३	२४५०
जर्मन—	२२५	४३
आस्ट्रो-हंगेरियन—	११६	—
जापान—	६२	१३६
फ़्रांस—	२८	४
रूस—	१३	—
अमेरिका—	—	८४
चीन—	—	४

और, भारत के हाथ केवल ११ प्रतिशत अपने समुद्र-तट का व्यापार है तथा उसका विदेशी व्यापार पूर्णतः विदेशी कंपनियों के हाथ में है, केवल दो प्रतिशत भारतीय जहाज़ों को व्यापारिक अवसर मिलता है।

१९२३ में समुद्र-तट का व्यापार २२२ करोड़ रुपए का था। अधिकतर माल रंगून में उतरा था—और यद्यपि हमारे पास पूरे आँकड़े नहीं हैं, जिससे यह ठीक अंदाज़ लगाया जा सके कि उसमें से भारत को कितना मिला था, तथापि गोल शब्दों में स्वदेशी—निज तट-व्यापार के दूसरों के हाथ में होने के कारण हर साल भारत का १२ करोड़ रुपया नुक़सान होता है और विदेशी व्यापार एकदम दूसरों के हाथ में होने के कारण, प्रवासी-व्यापार में ही केवल ५० करोड़ रुपए की वार्षिक हानि होती है।

१९२७ में मदरास में भारतीय औद्योगिक कांग्रेस (Indian Indestrial Congress—1927) के अधिवेशन में अध्यक्ष-पद से श्रीमान् नरोत्तम मुरारजी ने हमारे उपरिलिखित शब्द दुहराए थे! श्रीमान् साराभाई-नेमचंद हाजी ने आज से छः वर्ष पूर्व कराँची से मि० ए० टी० गिडवानी के संपादकत्व में प्रकाशित होनेवाले "टु-मारो" (To-morrom) मासिक पत्र में इसी विषय पर बड़ा सारगर्भित लेख लिखा था। आप वर्षों से भारतीय समुद्रतट के व्यापार को भारतीयों के हाथ में लाने की चेष्टा कर रहे हैं। उनके उसी लेख ने जनता में इस ओर बड़ी रुचि उत्पन्न कर दी थी। इस समय भी आप व्यवस्थापक महासभा के सदस्य हैं। वहाँ आपने इसी आशय का एक प्रस्ताव बहुत समय से रख छोड़ा है। इस प्रस्ताव का सबसे प्रबल विरोध योरपीय हित के साधक योरपियन एसोसियेशन, ब्रिटिश कंपनियों के वेतनभोगी राजनीतिज्ञ तथा स्वतः सरकार कर रही है। बड़ी कठिनाई से यह प्रस्ताव एक "सेलेक्ट-कमिटी" के सुपुर्द किया गया और वहाँ से ख़राशने के बाद विचारणीय विषयों में आया। लोगों को भय था कि अध्यक्ष पटेल के एसेम्बली-पद से त्यागपत्र दे देने के बाद, अधिकांश राष्ट्रीय सदस्यों की ग़ैर-हाज़िरी के कारण, इस अवसर का लाभ उठाकर सरकार प्रस्ताव को रद्द करा देगी; पर दैवयोग से ऐसा नहीं हो सका है और यह विचारणीय विषय अभी "विचारणीय" ही है।

बहुत समय से व्यवस्थापक-सभा द्वारा ऐसा निर्णय कराने का प्रयास किया जा रहा है, किंतु कोई सफलता नहीं हो रही है। बहुत ज़ोर देने पर १९२३ में सरकार ने एक भारतीय मर्केण्टाइल मेरीन कमेटी (Indian Mercantile Marine Committee) बनाई थी। उसमें ब्रिटिश इंडिया स्टीम नेविगेशन कंपनी के मैनेजिंग एजेंट (सर आर्थर फ़्रूम को छोड़कर (आप भी कमेटी के एक मेम्बर थे !) और सबने तट-व्यापार के संरक्षण की सलाह दी थी। किंतु वह सलाह सुनी नहीं गई और परिणाम भविष्य के गर्भ में है।

भारत ने अपने तट के व्यापार को अपने हाथ में रखने की पर्याप्त चेष्टा की, इसमें कोई संदेह नहीं। पिछले ५० सालों में (सन् १८७७ से १९२७ तक) ३२ भारतीय कंपनियाँ बनीं। किंतु विदेशी कंपनियों ने इनके विरुद्ध इतनी भयंकर प्रतिस्पर्द्धा (Rate-war) शुरू कर दी कि इनमें से २३ का दिवाला निकल गया और इनकी पूँजी आदि का १२ करोड़ रुपया ज़ाया गया। समय तथा धन की हानि के साथ ही साख भी मारी गई।

इस समय सबसे अधिक कारोबार ब्रिटिश इंडिया स्टीम नेविगेशन कंपनी का है। यह बंबई-रंगून के बीच कारोबार करती है। मूलधन ६ लाख ५७ हज़ार पाउंड (एक पाउंड साढ़े तेरह रुपए का) है। १९०१ से १९२५ के बीच में इस कंपनी को अपना पाई-पाई ख़र्चा निकाल देने पर भी ५१ लाख ७१ हजार पाउंड का लाभ था। पाठक इस लाभ की तुलना हमारी असफल कंपनियों से करें।

भारतीय कंपनियों में दो के नाम ही उल्लेखनीय हैं। एक तो सिंधिया स्टीम नेविगेशन कंपनी है। यह १९१९ में क़ायम हुई थी। इसका एक जहाज़ अपना है और ७ ख़रीदे हुए हैं। कारोबार काफ़ी होने पर भी विदेशी प्रतिस्पर्द्धा इसको मारे डालती है। यह शुद्ध भारतीय कंपनी है और यदि थोड़ा-सा त्याग कर भारतीय इसे अपना लें, तो थोड़े ही समय में, अपने सुप्रबंध, सुव्यवस्था तथा साराभाई हाजी के सुसंचालन में यह उपर्युक्त ब्रिटिश कंपनी से होड़ ले सकती है।

बंबई स्टीम नेविगेशन कंपनी भी स्वदेशी है, किंतु इसके मूलधन का कुछ भाग विदेशी भी है तथा मैनेजिंग एजेंट तो विदेशी हैं ही। सिंधिया कंपनी के पहले से इसका कारोबार चल रहा है, पर प्रतिस्पर्द्धा इसकी भी हानि कर रही है। बिना क़ानूनी मदद के भारतीय कंपनियाँ नहीं पनप सकतीं।

परिपूर्णानंद वर्मा

× × ×

२. डबल एंट्री सिस्टम एकाउंट्स और हमारा बही-खाता

(१)

इतिहास

पाश्चात्य देशों में सन् १३०० ई० पर्यंत आय-व्यय-लेखनप्रणाली का कोई उत्कृष्ट ढंग नहीं था। सन् १३४० ई० में जेनोआ की गवर्नमेंट के कर्मचारियों की आय-व्यय-लेखनप्रणाली डबल एंट्री सिस्टम एकाउंट्स (Double Intry System Accounts)-सी पाई गई। बाद में कतिपय व्यवसायियों ने उक्त प्रणाली को उत्कृष्ट समझ अपना भी आय-व्यय का हिसाब वैसे ही रखना प्रारंभ कर दिया, यद्यपि उसमें इतनी शुद्धता और सरलता नहीं थी, जितनी कि आधुनिक समय में डबल एंट्री में बताई जाती है। जो हो, मिस्टर एफ़०-डब्ल्यू० पिकसले के मतानुसार सर्व-प्रथम सन् १४९५ ई० में इटली-निवासी मिस्टर लुकाइन डी बर्गो (Lucuin De Burgo) द्वारा डबल एंट्री सिस्टम का आविष्कार हुआ, और इन्होंने ही उक्त विषय के प्रथम ग्रंथ की रचना की। बस, इनके समय से ही डबल एंट्री सिस्टम का नियमपूर्वक प्रचार होना माना जाता है। सन् १७०० ई० में इटली से डबल एंट्री सिस्टम का पदार्पण इँगलैंड में हुआ। पश्चात् वहीं यह वर्धित हो, वर्तमान पूर्णावस्था को प्राप्त हुई है।

किंतु जब हम अपने बही-खातों के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं, तब निराश होना पड़ता है। बही-खाता का ही क्यों, समग्र भारतवर्ष का कोई प्रामाणिक प्राचीन इतिहास प्राप्त नहीं है। इसका कारण भारत पर क्रमबद्ध इतर जातियों के आक्रमण और उनका पुस्तकजारण-प्रेम बतलाया जाता है। जो हो, उपलब्ध प्रमाणों से यह अवश्य प्रकट होता है कि भारतवर्ष में आय-व्यय-लेखन का प्रचार अति प्राचीन समय से है। कुछ ही दिन हुए, 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र'-नामक एक

महत्त्वपूर्ण ग्रंथ मैसूर के राजकीय पुस्तकालय से प्राप्त हुआ है। यह ग्रंथ साधारण अर्थशास्त्र का नहीं, किंतु असाधारण राजनीति का है। विद्वानों का मत है कि उक्त ग्रंथ ३२१ और ३०० बी० सी० के मध्य अर्थात् चंद्रगुप्त मौर्य के समय का, उसके महामान्य मंत्री चाणक्य (कौटिल्य) का लिखा हुआ है। उक्त ग्रंथ के 'अध्यक्ष-प्रचार-अधिकरण' में मोहकमे हिसाब, उसके निरीक्षकादि के कर्तव्यों और हिसाब के ४० प्रकार गबन (Embezzlement) के भिन्न-भिन्न पायों का विशद वर्णन उपलब्ध होता है। आषाढ़-मास में गत वर्ष का हिसाब चुकता कर देने का आदेश है, और इस आज्ञा का उल्लंघन करने पर दंड का विधान भी लिपिबद्ध हुआ है; परंतु यह हिसाब किन-किन बहियों में किस प्रकार रखना चाहिए, यह उक्त ग्रंथ से नहीं प्रकट होता। ऐसी ही दशा अन्य भारतीय अर्थशास्त्रों की है।

सिद्धांत

मिस्टर स्पाईसर और पेग्लर ने स्वकृत 'बुककीपिंग एंड एकाउंट्स'-नामक पुस्तक में पाश्चात्य देशी हिसाब-लेखन-प्रणाली (डबल एंट्री सिस्टम एकाउंट्स) के सिद्धांत के विषय में लिखा है—

"The theory of Double Intry is not that for every debit there must be a Credit and vice-versa. Double Intry is that system of Book-keeping which takes advantage of the fact that every transaction that can be recorded in terms of account has two aspects ; the one envolving the recuving of benefit by one account or accounts, and the other the yielding of that benefit by another account or accounts."

अर्थात् डबल एंट्री (दोहरे इंदराज) का यह सिद्धांत नहीं है कि प्रत्येक जमा के लिये एक नावें और नावें के लिये एक जमा होना ही चाहिए। यह तो उस पद्धति का परिणाम-मात्र है। दोहरे इंदराजवाली (डबल एंट्री सिस्टम) बही-खाते की वह पद्धति है, जिसको प्रत्येक व्यापार के संपूर्ण प्रभावों की वास्तविक याद-दाश्त रखने का लाभ प्राप्त हो, और वे प्रभाव हिसाब के नियमानुसार सदैव दो स्थलों पर हुआ करते —

(१) यह कि जिसमें एक अथवा अधिक खाते लाभान्वित हुआ करते हैं अर्थात् उनमें वस्तु की आय होती है।

(२) यह कि जिसमें एक अथवा अधिक खाते उक्त लाभ देते हैं अर्थात् जो व्यय-ग्रस्त होते हैं।

हमारे बही-खातों में भी उपर्युक्त विवेचन का अक्षरशः समावेश है अर्थात् किससे क्या कितना प्राप्त हुआ है, और किसको क्या कितना दिया गया है, अथवा स्थित है; जब तक उभय पक्ष समानरूपेण लिखित हों, तब तक उक्त हिसाब-लेखन उचित नहीं समझा जाता। कथन का तात्पर्य यह है कि पाश्चात्य देशी आय-व्यय-लेखन-प्रणाली (डबल एंट्री सिस्टम एकाउंट) और भारतीय आय-व्यय-लेखन-प्रणाली (हमारा बही-खाता) का मूल-सिद्धांत सचमुच एक ही है।

खातों के प्रकार

डबल एंट्री सिस्टम के मतानुसार संपूर्ण खाते प्रकार-त्रय में विभक्त हो सकते हैं, वे चाहे किसी गवर्नमेंट के हों अथवा व्यवसाय के। यथा—

(१) "वैयक्तिक" [जिनको अँगरेज़ी में पर्सनल एकाउंट्स (Personal Accounts) कहते हैं।]— वे सर्वखाते हैं, जिन व्यक्तियों के हम अथवा जो हमारे ऋणी हैं, उनके नामों से खोले जाते हैं।

(२) "वस्तुगत" [जिनको अँगरेज़ी में रियल इम्पर्सनल एकाउंट्स (Real Impersonal Accounts) कहते हैं।]—वे सर्व मालखाते उक्त प्रकार के अंतर्गत होते हैं; जिन वस्तुओं का व्यवसाय व्यवसायी करता है अथवा जिनसे लाभ की आशा कर सकता है, भले ही दैवयोग से बाद में उनसे हानि ही प्राप्त हो और जो उन्हीं वस्तुओं के नामों से खोले जाते हैं।

(३) "अपदार्थिक" [जिनको अँगरेज़ी में नोमीनल एकाउंट्स (Nominal Impersonal Accounts) कहते हैं) – वे सर्व खाते हैं, जो ऐसे संबंध उत्पन्न करते हैं, जिनसे राज्य अथवा व्यवसाय की आय या तो मुफ़्त में अधिक हो जायगी या मुफ़्त में कम हो जायगी अर्थात् जैसे लाभ, हानि और कतिपय आय-व्ययों के, जो उनके नामों से ही खोले जाते हैं।

खातों के विभाग भली भाँति अवगत हों, इस हेतु हम नीचे एक नक़शा देते हैं—
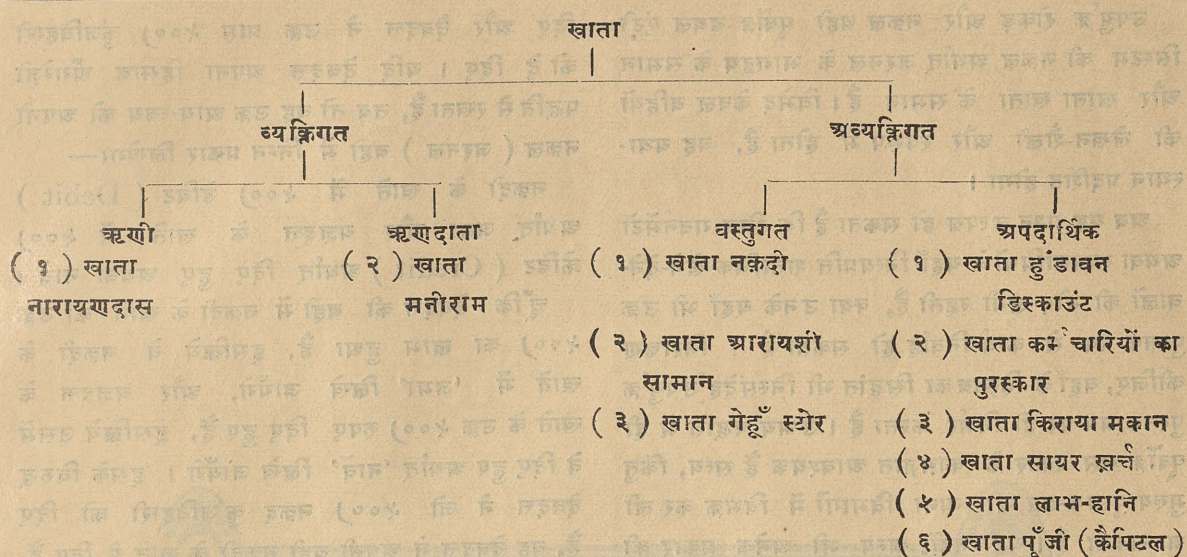
भारतीय आय-व्यय-लेखन-प्रणाली के खातों के विषय में केवल इतना लिखना ही पर्याप्त होगा कि वे सब भी उपर्युक्त प्रकार-त्रय में ही विभक्त रहते हैं। यह सत्य है कि भारतीय आय-व्यय-लेखन-प्रणाली (हमारा बही-खाता) के नियमानुसार नक़दी का खाता नहीं डाला जाता। इसका कारण यथास्थान वर्णित होगा।

डबल एंट्री सिस्टम के नियमानुसार निम्न-लिखित तीन पुस्तकें आवश्यक हैं—

आवश्यक पुस्तकें

(१) "किताब रोज़नामचा"—जिसको अँगरेज़ी वेस्ट बुक (Waste Book) कहते हैं। इस पुस्तक में नित्य-प्रति के सब आय-व्यय, क्रय-विक्रय, कई प्रकार के ख़र्चे इत्यादि चाहे वे नक़द हों अथवा उधार, सब-के-सब तारीख़वार आवश्यक विवरण सहित लिखे जाते हैं। किंतु वर्तमान समय में रोज़नामचा का व्यवहार उठ-सा गया है, अधिकांश व्यवसायियों के यहाँ नहीं रक्खा जाता और रोज़नामचे का काम निम्न-लिखित काग़ज़ातों से लिया जाता है—

(१) चेक, (२) रसीदें, (३) वाउचर्स, (४) नक़दी बिक्री के पर्चे (कैशमेमो), (५) क्रय माल के बीजक, (६) विक्रय माल के बीजक, (७) डेबिट नोट व क्रेडिट नोट इत्यादि-इत्यादि।

(२) "किताब नक़ल"—जिसको अँगरेज़ी में जरनल (Journal) कहते हैं। इस पुस्तक में रोज़नामचे की सब आय-व्ययों की रक़मों को अपने-अपने खातों में लिखने के लिये, जिन-जिन पर कि उनका प्रभाव पड़ता है, क्रमबद्ध किया जाता है जिससे खाते में लिखे (खत) जाने के बाद उनसे यह प्रकट हो सके कि व्यवसाय के मूलधन पर उनका क्या प्रभाव हुआ है। आधुनिक समय में विशेषत: अँगरेज़ी की नक़ल (जरनल) बही को दो भागों में विभक्त करना आवश्यक समझा जाने लगा है। यथा—

पहले में सब नक़दी के आय-व्यय के और दूसरे में सब उधार क्रय-विक्रय के जमाख़र्च लिपिबद्ध होते हैं।

(३) "किताब खाता"—जिसको अँगरेज़ी में लेजर कहते हैं। इस पुस्तक में सब आय-व्यय अपनी-अपनी क़िस्मवारी में छाँटे जाकर इंदराज पाते हैं और यही पुस्तक हिसाब में सबसे उपयोगी है। रोकड़ बही कैशबुक (Cash Book) अँगरेज़ी बही-खातों में कोई स्वतंत्र बही नहीं है, वह खाताबही का ही एक अंगमात्र अर्थात् नक़दी का एक खाता होता है।

भारतीय आय-व्यय-लेखन-प्रणाली में मुख्य निम्न-लिखित तीन बहियाँ आवश्यक हैं—

(१) रोकड़

(२) नक़ल

(३) खाता

उपर्युक्त रोकड़ और नक़ल बही पूर्वोक्त डबल एंट्री सिस्टम की नक़ल अर्थात् जरनल के भागद्वय के समान और खाता खाता के समान है। विभेद केवल बहियों की लेखन-शैली और स्वरूप में होता है, वह यथा-स्थान प्रदर्शित होगा।

अब यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि जिन गवर्नमेंटों अथवा व्यवसायियों के यहाँ नित्यप्रति शताधिक लेने-देने-वालों की भीड़ लगी रहती है, क्या उनके यहाँ भी उक्त पुस्तक-त्रय से कार्य-निर्वाह हो सकता है ? निरीक्षण कीजिए, वहाँ के हिसाब का सिद्धांत भी निस्संदेह उपर्युक्त पुस्तक-त्रय पर ही निर्भर करता है। उभय पद्धति में ही पूर्वोक्त सप्त प्रकार के काग़ज़ात आवश्यक हैं सत्य, किंतु मुख्य पुस्तक-त्रय भी नाना विभागों में विभक्त कर ली जा सकती है। यही नहीं, अन्य भी अनेक प्रकार की पुस्तकें प्रस्तुत की जा सकती हैं। उदाहरणार्थ—मज़दूरी लिखने का रजिस्टर, मालगोदाम की बही इत्यादि-इत्यादि। किंतु स्मरण रखना चाहिए कि यह पुस्तकें या किताबें या तो मुख्य पुस्तकों के अंग ही होती हैं, नहीं तो उनकी सहायक पुस्तक-मात्र।

आय-व्यय लिखने का रहस्य

पाश्चात्य देशी आय-व्यय-लेखन-प्रणाली (अँगरेज़ी बही-खाता) में भी भारतीय आय-व्यय-लेखन-प्रणाली (हमारा बहीखाता) की भाँति ही बाईं ओर जमा अर्थात् डेबिट (Debit) लिखा जाता है, और दाहनी ओर नावें अर्थात् क्रेडिट (Credit) लिखने का चलन है। तथापि पाश्चात्य देशी महानुभावों का और भारतीयों का आय-व्यय-लेखन का दृष्टिकोण सर्वथा विपरीत है। वे विपक्षी की दृष्टि से और भारतीय अपनी दृष्टि से आय-व्यय लिखते हैं। यदि डबल एंट्री सिस्टम और हमारे बही-खाते में कोई विभेद है, तो मुख्य यही ; कांडज्ञान-हीन व्यक्ति इसको समझने में असमर्थ रहते हैं, तथापि वे अन्यों को भ्रम में निमग्न करने से विरत नहीं होते। अस्तु, प्रथम हम डबल एंट्री सिस्टम के नियमानुसार जैसे आय-व्यय लिखा जाता है, उसका दिग्दर्शन कराते हैं—

कल्पना कीजिए, यज्ञदत्त ने देवदत्त को ५००) दिए और देवदत्त ने उक्त प्राप्त ५००) कुंजविहारी को दे दिए। यदि देवदत्त अपना हिसाब अँगरेज़ी पद्धति से रखता है, तब तो वह उक्त आय-व्यय को अपनी नक़ल (जरनल) बही में निम्न प्रकार लिखेगा—

नक़दी के खाते में ५००) डेबिट (Debit) अर्थात् जमा और यज्ञदत्त के खाते में ५००) क्रेडिट (Credit) अर्थात् दिए हुए अथवा नावें।

चूँकि देवदत्त की बही में नक़दी के खाते को उक्त ५००) का लाभ हुआ है, इसलिये वे नक़दी के खाते में 'जमा' लिखे जायँगे, और यज्ञदत्त के खाते के उक्त ५००) रुपए दिए हुए हैं, इसलिये उसमें वे दिए हुए अर्थात् 'नावें' लिखे जायँगे। इसके विरुद्ध देवदत्त ने जो ५००) नक़द कुंजविहारी को दिए हैं, वह देवदत्त ने अपनी बही नक़दी के खाते से दिए हैं, इसलिये वे नक़दी के खाते में दिए हुए अर्थात् 'नावें' लिखे जायँगे, और कुंजविहारी के खाते ने उक्त ५००) प्राप्त किए हैं, इसलिये देवदत्त की बही में ही वह कुंजविहारी के खाते में प्राप्त अर्थात् 'जमा' लिखे जायँगे।

यदि देवदत्त अपना हिसाब भारतीय आय-व्यय-पद्धति से रखता है, तब वह उक्त ५००) को अपनी रोकड़-बही में निम्न प्रकार लिखेगा—

५००) यज्ञदत्त के खाते में 'जमा' क्योंकि वह यज्ञदत्त के खाते में प्राप्त हुए हैं; और ५००) कुंजविहारी के खाते में 'नावें', क्योंकि वह कुंजविहारी के खाते में दिए गए हैं।

अँगरेज़ी पद्धति के नियमानुसार जो 'जमा' और 'नावें' है, वह हिंदुस्तानी पद्धति के नियमानुसार 'नावें' और 'जमा' लिपिबद्ध होगा। इसका कारण यह है कि अँगरेज़ी पद्धति में खातों से खातों में, और हिंदुस्तानी पद्धति में व्यवसायकर्ता को जिन खातों में जैसा आय-व्यय होगा, वैसा लिपिबद्ध होगा। निस्संदेह जो व्यवसायी अपने बही-खाते अँगरेज़ी पद्धति पर रखता है, वह भी वंध्या-पुत्रवत् सारे आय-व्यय का ज़िम्मेवार होता है, और भारतीय तो स्पष्टतर ही है।

दुर्गादत्त जोशी
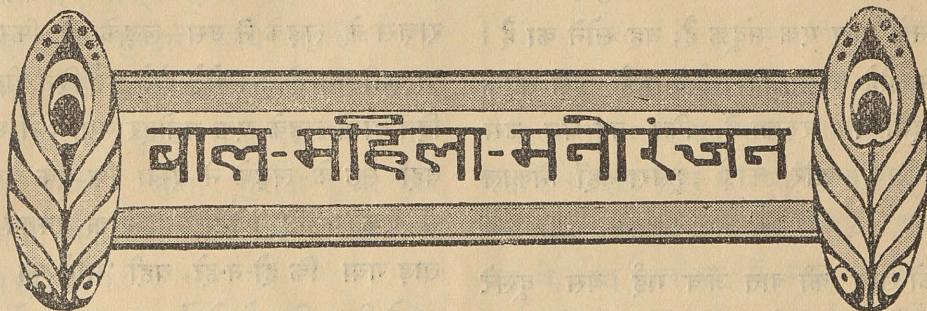
बाल-महिला-मनोरंजन

१. प्रसून

(१)

दुग्ध-रूप जल से सिंचित,
होकर ही तुम बढ़ते हो !
मेरे नन्हे से उपवन को,
सौरभ से भरते हो !

(२)

सुंदर सुखद सुशीतल हो तुम,
विकसित न्यारे फूल !
तव छवि निरख युगल दृग से,
अपनापन जाती भूल !

(३)

ओस-बिंदु अपने पर रख,
करते हो निज शृंगार !
तुमको और कहूँ क्या मैं ?
तुम हो मम प्रिय 'हियहार' !

सुशीला भल्ला 'हियहार'
(आयु १२ वर्ष)

× × ×

२. सोने का संदूक

किसी देश में एक सेठ रहता था। उसके पास इतना धन था कि वह उसको रखते-रखते हैरान हो गया था। उस गाँव में चोर ज्यादा थे। इससे उसका धन बहुधा वे ले जाया करते थे। सेठ बहुत हैरान था कि क्या करे ? उसका लड़का बड़ा बहादुर था। सबसे ज्यादा रंज उसी को था कि पिता के मर जाने पर मेरी क्या दशा होगी ? इसलिये वह हरएक आदमी से पूछता था कि मैं अपना

धन कहाँ रक्खूँ ? कई लोगों ने कहा कि धन को गाड़कर रख दो, तो चोर पता न पा सकेंगे। कई कारणों से लड़के को यह बात जँचती न थी। एक दिन वह लड़का बाज़ार में घूम रहा था, उसने वहाँ एक साधु को देखा। लड़का देखते ही उसके पास गया और बोला—"महाराज, मेरा धन चोर ले जाया करते हैं, यदि आप कोई युक्ति जानते हों, तो बतलाइए, जिससे मैं अपना धन हिफ़ाज़त से रख सकूँ।" साधु बोला—"भाई, उपाय तो कोई नहीं है, पर हाँ, मेरे जंगल के पास कुछ राक्षस रहते हैं, उनके पास एक संदूक़ है; वह सोने का है। पर ऊपर से लोहे का-सा दिखाई देता है। इस संदूक़ में जो आदमी धन रखता है, फिर वह धन उस आदमी के सिवा और कोई दूसरा नहीं निकाल सकता।"

लड़के को साधु की बात जँच गई। बस, दूसरे ही दिन वह अपनी लड़ाई की पोशाक पहनकर उस जंगल की ओर चल पड़ा। चलते-चलते क़रीब तीसरे दिन वह एक निर्जन वन में जा पहुँचा। लड़का थक गया था, भूख भी सता रही थी, इससे वहीं ठहर गया। सवेरा होते ही वह फिर चल पड़ा, और एक ऐसी जगह पहुँचा जहाँ चार राक्षस रहते थे। पर जब लड़का पहुँचा, तब वहाँ एक छोटा लड़का इधर-उधर टहल रहा था। उस लड़के ने सेठ के लड़के को देखकर कहा—"भाई, तुम यहाँ कैसे आ निकले ? अब सम्हलो, तुम्हारी जान की ख़ैर नहीं।" लड़का बहादुर था, उसकी धमकी से बिलकुल न डरा ; बरन् आगे बढ़कर बोला—"भाई, तुम तो हमारे भाई हो, हमीं से कहते हो, तुम्हारी ख़ैर नहीं।" राक्षस का लड़का बोला—अच्छा, तुम यहाँ कैसे आए हो ?" उस लड़के ने कहा—"ऐसे ही चला आया हूँ।" राक्षस का लड़का सोचने लगा कि लड़का बहादुर है, शायद संदूक़ लेने न आया हो। उसने उस लड़के को जादू से मक्खी बनाकर डिब्बी में छिपा लिया।

शाम होते ही चारों राक्षस वहाँ पर आ गए। लड़के को अकेला बैठा देखकर बोले—"यहाँ मनुष्य की गंध आती है।" लड़का बोला—यहाँ मनुष्य कैसे आ सकता है ?" चारों राक्षस थके-माँदे थे। उन्होंने झटपट रोटी खाई और खाट पर लेटकर खर्राटे लेने लगे। जब सवेरा हुआ, तो चारों राक्षस फिर अपने भोजन की सामग्री ढूँढ़ने निकले। राक्षस के लड़के ने उस लड़के को फिर मक्खी से आदमी बना लिया। होते-होते कई दिन बीत गए। एक दिन दोनों लड़के एक मनोहर बग़ीचे में घूमने गए। वहाँ सेठ के लड़के ने देखा कि एक पेड़ की खोह में एक काला छोटा-सा संदूक़ रक्खा है। लड़का ताड़ गया कि हो-न-हो, यही 'सोने का संदूक़' है। दूसरे दिन फिर वे दोनों उस बग़ीचे में घूमने गए। सेठ का लड़का बहादुर था ; उसने देखा कि राक्षस का लड़का फूल तोड़ने और फल खाने में लगा है। ठीक इसी समय उसने संदूक़ उठा ली और घोड़े पर सवार हो भागा। घोड़ा तो चाबुक की जलेबी खाते ही हवा हो गया। राक्षस का लड़का फल-फूल ही तोड़ रहा था। उसे इस बात का ज़रा भी पता न चला। जब वह शाम को घर लौटने लगा, तो देखता क्या है कि लड़का लापता है। वह समझ गया। पर अब हो ही क्या सकता था।

सेठ का लड़का कुछ दिनों बाद घर आया। उसने अपने पिता को वह संदूक़ दिखलाया। पिता बड़ा प्रसन्न हुआ। उस लड़के का नाम उस दिन से 'वीरसिंह' रक्खा गया। सेठ के यहाँ फिर कभी चोरी नहीं हुई।

गौरीशंकर 'शांत'

× × ×

३. धूर्त कौवे

सभी लड़के कौवे को पहचानते होंगे। यह बड़ा ही साहसी और धूर्त होता है। यह अपनी शक्ति के अनुसार कोई वस्तु उठाकर भाग जाता है। कभी-कभी तो रुपयों की गठरी, क़लम, साबुन या ऐसी ही कोई वस्तु उठाकर भाग जाता है। इन्हीं कौवों की एक कहानी हम आज तुम्हें सुनाते हैं।

एक दिन कुछ कौवे पेड़ पर बैठे हुए एक कुत्ते को देख रहे थे। कुत्ता मांस का एक बड़ा टुकड़ा लिए खा रहा था। मालूम होता था कि कौवे कह रहे हैं—"यह टुकड़ा तुम्हारे लिये नहीं है।" एक 'काँव' के साथ ही सभी कौवे पेड़ से नीचे उतरे, मानों उस मांस के टुकड़े पर एक-एक चोंच मारकर भाग जायँगे कुत्ता गुर्राता हुआ दाँत निकालने लगा, पर कौवे नहीं डरे। जैसे उस टुकड़े को ले ही लेंगे।

परंतु कुत्ता भी उस टुकड़े को चाहता था और वह उसी के अधिकार में था। वह उसे छोड़ना नहीं चाहता था। एक कौवा चुपचाप कुत्ते के पास तक चला गया और चोंच मारकर मांस का एक छोटा टुकड़ा नोंचकर पेड़ पर उड़ गया। सभी कौवे पेड़ पर चले गए और वहीं से 'काँव-काँव' करने लगे। उस टुकड़े में से लेशमात्र भी उन्होंने न खाया। वे संपूर्ण टुकड़ा चाहते थे। इसीलिये शायद वे सलाह कर रहे थे कि अब आगे क्या किया जाय।

कुछ देर के बाद मालूम हुआ कि उन्हें कोई युक्ति सूझ गई, क्योंकि 'काँव-काँव' बंद हो गया था। सभी कौवे नीचे उतर आए और धीरे-धीरे उसके पास जाने लगे। इसी समय उस कौवे ने मांस के छोटे टुकड़े को उस कुत्ते के ठीक सामने गिरा दिया। मानों उसने कहा—"लो अपना टुकड़ा, हम इसे नहीं चाहते।" कुत्ता लालची जानवर था। वह बड़े टुकड़े को छोड़कर उस छोटे टुकड़े की ओर लपका। इसी समय 'काँव-काँव' करके सभी कौवे उस बड़े टुकड़े पर टूट पड़े और उसे चोंच में उठाकर पेड़ पर भाग गए। अब सभी कौवे मिलकर उस टुकड़े को खाने लगे। मालूम होता था कि वे 'काँव-काँव' करके उस कुत्ते को चिढ़ा रहे थे। कुत्ता बेचारा क्रोधित होकर ऊपर की ओर मुँह किए भूक रहा था।

बब्बनप्रसादसिंह

× × ×

४. 'मुख-शुद्धी'

राजनगर नाम का एक गाँव राप्ती नदी पर बसा है। इस गाँव में अहीरों की संख्या अधिक है। पंडित सूर्यनारायणजी त्रिपाठी इन लोगों के गुरु थे। वह साल-भर में एक या दो बार अपनी जजमानी में अवश्य चक्कर लगाते और वहाँ पर पंद्रह-बीस दिन तक ठहरकर अहीरों को उपदेश देते थे। अहीर लोग पंडितजी का ख़ूब आदर-सत्कार करते थे। कोई एक दिन निमंत्रित करता था, तो कोई दो दिन। दिन-भर पंडितजी के पास आदमियों की भीड़ लगी रहती थी। जजमान लोग तरह-तरह की चीज़ें पंडितजी को भेंट करते थे। कोई एक नदिया दही लेकर पहुँचता तो कोई एक लोटा दूध ही पंडितजी को अर्पण करता। पंडितजी भी चेलों को उनकी इच्छानुसार आशीर्वाद देते थे। पंडितजी भोजन के पश्चात् कसइली काटकर खाया करते थे। एक दिन पंडितजी के पास कसैली चुक गई। पंडितजी ने अपने एक भक्त से कहा—चेथारु राउत, ज़रा दो पैसे की 'मुखशुद्धी' ला दो।

चेथारु—बाबाजी, मैं अभी बाज़ार जाकर लाए

देता हूँ। उसने बाज़ार जाकर दो पैसे की कसइली पंडितजी को ला दी।

चेथारु राउत ने पूछा—पंडितजी! इसको खाने से क्या लाभ है?

पंडितजी बोले—इसको भोजन के पश्चात् खाने से मुख शुद्ध हो जाता है और सबको 'मुखशुद्धी' भोजन के पश्चात् अवश्य खानी चाहिए।

पंडितजी दो-चार दिन और रहने के बाद अपने घर को चले गए।

पंडितजी के चले जाने के बाद एक दिन गाँव की चौपाल में अहीरों की सभा हुई। सब दूसरे मामले तय हो जाने के पश्चात् चेथारु राउत ने उपस्थित जनता में यह प्रस्ताव रक्खा कि भोजन के पश्चात् 'मुखशुद्धी' अवश्य खाई जाय; क्योंकि पंडितजी ने कहा था कि इसके खाने से मुँह पवित्र हो जाता है। यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। अब हरएक अहीर के घर तीन-चार आने की कसैली रोज़ आने लगी और वे शौक़ से खाने लगे। इससे उन लोगों का ख़र्च बहुत अधिक हो गया। कुछ दिनों के बाद चौपाल में फिर सब लोगों की बैठक हुई। उसमें यह तय हुआ कि एक 'मुखशुद्धी' लाकर ताक पर रख दी जाय और लोग भोजन के पश्चात् आकर उसे जीभ से चाट लें और अपने काम पर चले जायँ। तब से यही होने लगा।

दूसरे वर्ष पंडितजी फिर चेलों में आए। उन लोगों ने पंडितजी का ख़ूब सत्कार किया। एक दिन सौभाग्यवश पंडितजी के पास 'मुखशुद्धी' चुक गई। पंडितजी ने एक चेले से उसके लिये कहा, वह दौड़ा गया और चौपाल से जूठी कसैली लाकर दे दी। पंडितजी ने उसे काटकर खाया। कुछ देर बाद एक अहीर भोजन करके आया और 'मुखशुद्धा' खोजने लगा। उसे पता लगा कि वह पंडितजी के पास है। उसने पंडितजी से माँगा।

पंडितजी ने उत्तर दिया—उसे मैं खा गया।

अहीर ने कहा कि हम लोगों के पास तो वह ६ महीने से थी।

जब पंडितजी को सब मामले का पता चला, तो वह बहुत क्रोधित हुए तथा पंचगव्य वग़ैरह पीकर शुद्धि के लिये प्रयाग गए। तब से यदि कोई 'मुखशुद्धी' कहे, तो पंडितजी क्रोधित होते थे।

लड़को! समझ-बूझकर काम करना चाहिए। मूर्खों को शिक्षा देने में होशियारी से काम लेना चाहिए।

फणींद्र गोरखपुरी

× × ×

५. आद्यशक्ति का जागरण

सन् १९३० ई० के भारत के सत्याग्रह में कुछ विशेषताएँ हैं।

एक विशेषता के संबंध में यहाँ पर कुछ लिखा जाता है।

इस बार सत्याग्रह-आंदोलन का कोई अङ्ग ऐसा नहीं है, जिसमें हमारी माताएँ और बहनें व्यावहारिक भाग न ले रही हों। शहरों में ही नहीं, छोटे-छोटे देहातों तक में अनेक बहनें तत्परता और परिश्रम से काम कर रही हैं।

सत्याग्रह-आंदोलन गत ६ एप्रिल से सार्वदेशिक रूप में आरंभ हुआ है और अब तक के थोड़े-से काल में ही सैकड़ों महिलाएँ जेल-प्रवासिनी बन चुकी हैं। यह बात नहीं कि शहर की बहनें ही जेल गई हों, गाँवों की अनेक देवियाँ भी आज जेल की चहारदीवारियों के भीतर हैं। सुशिक्षिता और अशिक्षिता का भी भेद नहीं रहा है। इँगलैंड की पढ़ी भी गई हैं और अधपढ़ वा अपढ़ भी।

और वह जो आजकल आंदोलन में भाग ले रही हैं, उनकी संख्या भी सैकड़ों में है। देश का कोई प्रांत, कोई नगर, कोई गाँव ऐसा नहीं, जहाँ आंदोलन के अगुआ पुरुष हों और वहाँ की स्त्रियाँ उनसे पीछे हों। जहाँ ज़रा भी काम है, वहाँ कोई-न-कोई—एक ही सही—महिला—भले ही परदे में रहकर—काम ज़रूर कर रही है।

यहाँ हम ऐसी ही कतिपय देवियों के सचित्र चरित्र देते हैं, इन चरित्रों को जान-बूझकर यहाँ बहुत संक्षिप्त रूप में दिया जा रहा है।

श्रीमती रुक्मिणी लक्ष्मीपति

गत सन् २१ ई० के असहयोग-आंदोलन और वर्तमान सत्याग्रह-आंदोलन में भी मदरास-प्रांत की महिलाएँ सबसे पहले जेल गईं। सन् २१ में श्रीमती सुब्बमा गरू पहलेपहल जेल गईं। [आपका सचित्र चरित्र अन्य आदरणीया महिलाओं के चरित्र के साथ हम आगामी संख्या में लिखेंगे] और इस वर्ष भी भारत में सबसे प्रथम जेल जानेवाली देवी का नाम है श्रीमती ए० रुक्मिणी लक्ष्मीपति। आप एक परम विदुषी और देशसेविका महिला-रत्न हैं। आंध्र-देशवासी श्रीयुत लक्ष्मीपति की धर्मपत्नी हैं। आपके पति अपने प्रांत के प्रसिद्ध वैद्य हैं। श्रीमती रुक्मिणीजी मदरास-विश्वविद्यालय की सीनेट की सदस्य, 'वाइस
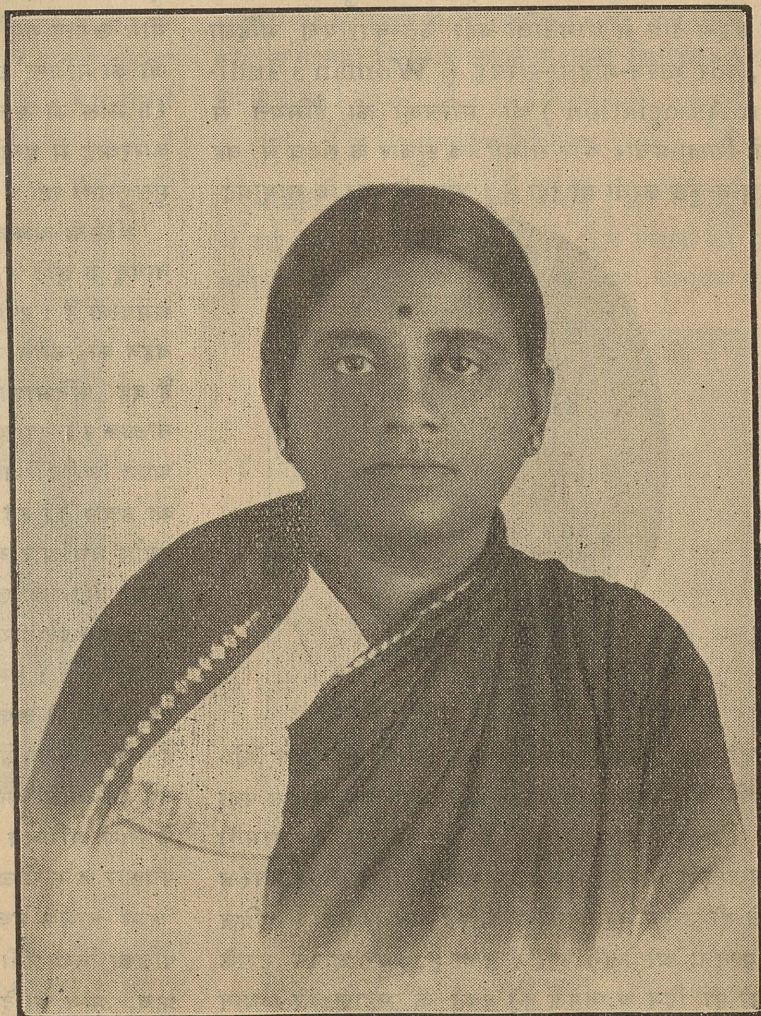
श्रीमती रुक्मिणी लक्ष्मीपति

आफ़् यूथ' की संपादिका, मदरास-यूथ-लीग की अध्यक्षा और चिंगलपट-ज़िला-बोर्ड की मेम्बर हैं। प्रांत-भर में आपका बड़ा मान है, उच्च कोटि की शिक्षिता और अँगरेज़ी की पंडिता होने पर भी आपकी यह विशेषता है कि आप भारतीय सभ्यता और हिंदू-संस्कृति की परम भक्त हैं। लाहौर-कांग्रेस के साथ जो महिला-सम्मेलन हुआ था, उसकी सभानेत्री आप ही थीं।

श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय

श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय भारत की उन पाश्चात्य-शिक्षा-दीक्षित महिलाओं में हैं, जो पाश्चात्य प्रणाली पर भारत में स्त्री-आंदोलन की प्रमुख संचालिका हैं। इस दृष्टि से श्रीमतीजी बड़ी कर्तव्यपरायण महिला हैं, और भारत-महिला-परिषद् (Woman's Indian Association) की मन्त्रिणी की हैसियत से स्त्री-शिक्षा-प्रचार और सामाजिक सुधार के संबंध में वह कुछ-न-कुछ करती ही रही हैं। अब की बार के सत्याग्रह-

श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय
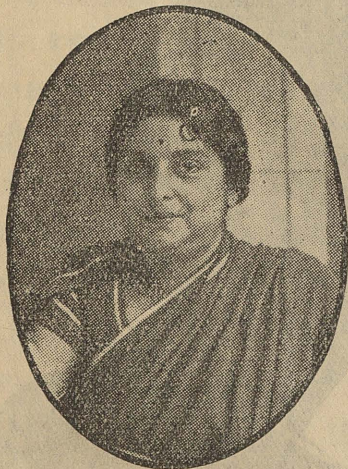
आंदोलन की यह विशेषता है कि कितने ही ऐसे स्त्री-पुरुषों पर महात्मा गांधी के जादू का प्रभाव पड़ा है, जिनकी आशा नहीं की जाती थी। श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय ने सत्याग्रह-आंदोलन के आरंभ होते ही उसमें व्यावहारिक भाग लिया। गत ६ एप्रिल से वस्तुतः आंदोलन आरंभ हुआ है, और आपने उसके दूसरे ही दिन ७ एप्रिल को बंबई के महालक्ष्मी स्थान में सदलबल जाकर नमक बनाया और व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक रूप से हज़ारों रुपए में उसे बेचा। १९ मई तक आपने नमक-आंदोलन को बंबई में बड़े ज़ोरों से चलाया। आंदोलन की अन्य दिशाओं में भी बड़ी तत्परता से काम करती रहीं। बंबई की महिलाओं को संगठित करके सार्वजनिक क्षेत्र में लाने का बहुत कुछ श्रेय श्रीमती कमलादेवी को है।

श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय १९ मई को बंबई में गिरफ़्तार की गईं। इस आंदोलन में जेल जानेवाली भारतीय वीरांगनाओं में आपका नंबर दूसरा है। महात्माजी की भाँति इन्हें भी रात के सन्नाटे में ३॥ बजे सोते हुए पकड़ा गया। इन पर नमक क़ानून की दफ़ा ४७ और ताज़ीरात हिंद की दफ़ा ११७ के अभियोग लगाए गए। १७ मई सन् १९३० ई० को श्रीमतीजी को मजिस्ट्रेट मि० खण्डालावाला की अदालत से ९॥ मास की सादी क़ैद की सज़ा दी गई। मुक़दमे की कारवाई में इन्होंने कोई भाग नहीं लिया, बैठी केवल मुसकुराती रहीं।

श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय श्रीमती सरोजिनी नायडू के छोटे भाई श्रीयुत हरींद्रनाथ चट्टोपाध्याय की धर्मपत्नी हैं। हरींद्र बाबू अपनी विश्व-विख्यात कवयित्री बहन की भाँति उच्च कोटि के तो कवि नहीं हैं, लेकिन हैं वह प्रतिभाशाली कवि, निपुण गायक और कुशल नाट्यकार। वह इस समय भारत के बाहर हैं, और वहाँ अपने मिशन 'भारत में नाट्यकला का नवीन आंदोलन' का प्रचार कर रहे हैं। उन्होंने अपने इन गुणों के कारण पर्याप्त धन और यश कमाया है। अपने पति के कला-संपन्न जीवन की छाप श्रीमती कमलादेवी पर भी पड़ी है। वह भी एक प्रवीण गायिका और रंगमंच की कलाविद् अभिनेत्री हैं। इस कला में उन्हें कमाल हासिल है। वह भारत में अपने पति के मिशन को पूरा कर रही हैं—नाट्यकला में संशोधन की अग्रणी हैं। अभी पिछले वर्ष वह रवींद्र बाबू के एक नाटक के फ़िल्म में कवींद्र के साथ अभिनय करनेवाली थीं। श्रीमतीजी कुशल पत्रकार और ओजस्विनी वक्ता भी हैं। आप मदरास से 'शमा'-नामक उच्च कोटि की एक त्रैमासिक अँगरेज़ी पत्रिका निकालती रही हैं। श्रीमती कमलादेवी अँगरेज़ी, फ़्रेंच, जर्मन आदि कई भाषाओं की ज्ञाता और अंतरराष्ट्रीय महिला-प्रश्न की विशेषज्ञ हैं। अंतरराष्ट्रीय महिला-सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि की हैसियत से

वह बर्लिन गई थीं। योरप और अमेरिका भी घूम आई हैं।

श्रीमती सत्यवती

धर्मवीर स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानंदजी को आज कौन नहीं जानता। आप उन्हीं की दौहित्री हैं। सत्यवती नाम भी उन्हीं का रक्खा हुआ है। दिल्ली में अपने पति श्रीबलभद्र विद्यालंकार के साथ रहती हैं। आपके पिता लाला धनीराम लुधियाने के रहनेवाले और दिल्ली के नामी ऐडवोकेट हैं। सत्यवतीजी की अवस्था इस समय २३ वर्ष की है। देशभक्ति का पाठ आपने अपने माता-पिता विशेषकर माता और नाना तथा मामा (प्रो० इंद्र) के संसर्ग से पढ़ा। सन् १९२१ ई० के सत्याग्रह-आंदोलन के समय भी आपने अपनी माता श्रीमती वेदकुमारी के साथ काम किया था। उस समय आप पंजाब-विश्वविद्यालय की प्राज्ञ-परीक्षा के लिये तैयारी कर रही थीं, लेकिन असहयोग आरंभ हो
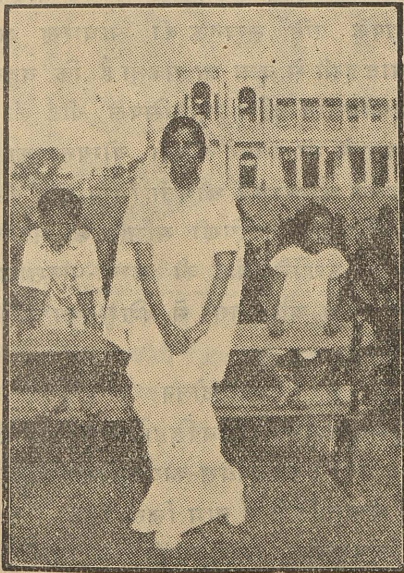
श्रीमती सत्यवती
(अपने बच्चों सहित)

जाने के कारण फ़ीस दाख़िल कर देने पर भी, लाला धनीरामजी ने आपको परीक्षा में नहीं बिठाया।

आज से ९ वर्ष पूर्व जो अंकुर सत्यवतीजी के हृदय में पैदा हो चुका था, वह अनुकूल समय पाकर लहलहा उठा। दिल्ली के महिला-समाज में—और महिला-समाज में ही क्यों, सर्वसाधारण में—आज जो जीवन है, उसके उत्पन्न करने में आपका बहुत बड़ा भाग है। आंदोलन के आरंभ से ही आप घर-बार और अपने दोनों बच्चों के मोह को त्याग दिन और रात काम करती रहीं। दिल्ली नगर की महिलाओं को खद्दर के रंग में रँग दिया और परदे में रहनेवाली अनेक देवियों को बाहर आंदोलन में सम्मिलित किया है।

२४ मई को आप दफ़ा १०८ के मुताबिक़ गिरफ़्तार की गईं। आप पर मुक़दमा चला। आपसे "नेकचलनी" की ज़मानत माँगी गई।

श्रीमती सत्यवतीजी ने अदालत की कारवाई में कोई भाग नहीं लिया, अलबत्ता एक लिखित बयान पढ़ सुनाया।

श्रीमती सुनीति मित्रा

श्रीमती सुनीति मित्रा बी० ए० हैं। सन् १९२० ई० में वह कलकत्ता-विश्वविद्यालय में इस क्लास की एक प्रतिभाशालिनी छात्रा थीं। उस समय आपका नाम
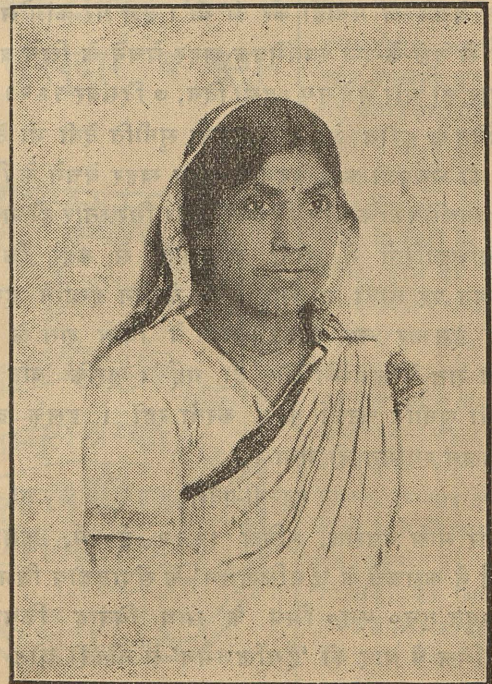
श्रीमती सुनीति मित्रा

कुमारी सुनीति चटर्जी था। युनिवर्सिटी से ग्रेजुएट होकर निकलने के बाद बंगाल-प्रांतीय शिक्षा-विभाग में बालिका-विद्यालयों की इंस्पेक्ट्रेस नियुक्त हुईं। इतने ही में महात्मा गांधी ने असहयोग-आंदोलन प्रारंभ किया। आपने उसी समय सरकारी नौकरी छोड़ दी।

कर्म-पथ की पथिक

उस समय देश के महिला-समाज में बहुत कम जागृति थी। सन् २१ में कलकत्ते में स्वर्गीय देशबंधु-दास की धर्मपत्नी श्रीमती वासंती देवी और देशबंधु की बहन श्रीमती उर्मिलादेवी बड़ी तत्परता से काम कर रही थीं। उन्होंने स्थानीय कांग्रेस-संगठन के अंतर्गत स्त्रियों के लिये "भारी कर्म-मंदिर"-नामक एक संस्था स्थापित कर रक्खी थी। आप भी इसमें सम्मिलित हो गईं और श्रीमती वासंतीदेवी एवं श्रीमती उर्मिलादेवी के साथ बंगाल के देहातों में भ्रमण करके वहाँ के स्त्री-समाज में ख़ूब काम किया।

इन दिनों कलकत्ते में असहयोग-आंदोलन ख़ूब ज़ोर पर था। प्रिंस आफ़् वेल्स आनेवाले थे, अतएव पुलीस ने आज्ञा जारी करके वालंटियर-टुकड़ियों को घूम-घूमकर खद्दर बेचने की मनाही कर दी थी। इस पर कांग्रेस की ओर से दल-के-दल स्वयंसेवक खद्दर बेचने के लिये बड़ा-बाज़ार की ओर भेजे गए। इसी दिन, ७ दिसंबर १९२१ ई० को दिन के क़रीब डेढ़ बजे कुमारी सुनीति देवी भी देश-बंधु की धर्मपत्नी और बहन के साथ खद्दर बेचने के लिये कुछ स्वयंसेवकों के साथ निकलीं और गिरफ़्तार हो गईं।

अधिकारियों ने तीनों महिलाओं से कहा कि वे ज़मानत पर छोड़ी जा सकती हैं, लेकिन इन्होंने इससे साफ़ इनकार कर दिया। तब वे विना शर्त के ही आधी रात के लगभग छोड़ दी गईं। इसके बाद भी कुमारी सुनीति चटर्जी काम करती रहीं। इसके बाद आंदोलन स्थगित हो गया।

गृहस्थी-प्रवेश

चार मास उपरांत, एप्रिल १९२२ ई० में, कुमारी चटर्जी ने कलकत्ते के 'इँगलिशमैन' के संपादकीय विभाग के श्रीयुत एन्० एम्० मित्र के साथ विवाह किया। मि० मित्र ने बाद को 'इँगलिशमैन' से नौकरी छोड़ दी और वह संयुक्त-प्रांत में भारत की समाचार-प्रसारक संस्था एसोशिएटेड प्रेस के प्रमुख प्रतिनिधि (Chief representative) नियुक्त हुए। श्रीमती सुनीति मित्र प्रयाग आ गईं और वहाँ के क्रास्थवेट-गर्ल्स-स्कूल में अध्यापिका हो गईं। श्रीयुत मित्र ने, जो घरेलू कार्यों की वजह से कलकत्ते में रह गए थे, दिसंबर १९२२ ई० में एसोशिएटेड प्रेस-आफ़िस का चार्ज लिया। थोड़े समय बाद श्रीमती मित्र भी प्रयाग से लखनऊ चली आईं।

पुनः सार्वजनिक सेवा-क्षेत्र में

लखनऊ आते ही आपने स्त्री-शिक्षा और महिला-आंदोलन में गहरी दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी। वह हरिमती-गर्ल्सस्कूल की प्रबंधकारिणी की सदस्या निर्वाचित हुईं। लखनऊ-कांग्रेस-कमेटी में भी वह सम्मिलित हो गईं।

जब साइमन-कमीशन लखनऊ आया, तब आपने उसके बायकाट-आंदोलन में स्थानीय कांग्रेस-नेता बाबू मोहनलाल सक्सेना के साथ ऐसा काम किया कि लखनऊ में कमीशन का बड़े ज़ोरों से बायकाट हुआ।

गत म्युनिसिपल निर्वाचन के समय आप भी गणेश-गंज वार्ड की ओर से मेम्बरी की उम्मीदवार हुईं, और आपके प्रति लखनऊ की साधारण जनता का आदर-भाव इसी से कूता जा सकता है कि बहुत ज़्यादा वोटों से कामयाब हुईं। म्युनिसिपल बोर्ड की सदस्या की हैसियत से भी आपने अपनी योग्यता का परिचय दिया। इसके फलस्वरूप श्रीमती मित्रा बोर्ड की शिक्षा-समिति और शिशु-हितैषिणी समिति की सदस्या निर्वाचित हुईं। उन्होंने बोर्ड की कन्या-पाठशालाओं का पुनर्संगठन किया और नगर में शिशु-रक्षा के काम को ख़ूब बढ़ाया।

आंदोलन

ज्योंही सत्याग्रह-आंदोलन छिड़ा, श्रीमती सुनीति मित्रा उसमें कूद पड़ीं। वह कांग्रेस-कार्यकारिणी की मेम्बर बन गईं और सत्याग्रहियों में नाम लिखा लिया। १४ एप्रिल को बाबू मोहनलाल सक्सेना की गिरफ़्तारी के बाद श्रीमतीजी लखनऊ की डिक्टेटर मनोनीत हुईं। आपने विदेशी कपड़े की दूकानों पर बड़े ज़ोरों की पिकेटिंग संगठित की। २२ मई को श्रीमती मित्रा तथा १५ अन्य कार्य-कर्ताओं के नाम गिरफ़्तारी का वारंट निकला; लेकिन बाद को अधिकारियों ने किसी महिला को पकड़ने का विचार त्याग दिया, अतः श्रीमतीजी और श्रीमती बख़्शी बच गईं।

लखनऊ का हज़रतगंज मुहल्ला यहाँ की सिविल लाइंस है। गवर्नमेंट ने विना आज्ञा प्राप्त किए, इस बस्ती में से जलूस ले जाने की मनाही कर दी है। लेकिन लखनऊ की सत्याग्रह-संचालिका श्रीमती मित्रा ने २५ मई को इस हलके में होकर जुलूस ले जाना तय किया। उन पर सरकारी परवाना जुलूस न निकालने के लिये तामील किया गया; लेकिन आपने पुलीस के आर्डर को नहीं माना। वह सबसे आगे जुलूस को लेकर चलीं। लेकिन जुलूस हज़रतगंज से अभी बहुत दूर था कि श्रीमती मित्रा गिरफ़्तार कर ली गईं।

लखनऊ के इन अत्याचारों की जो सरकारी तहक़ीक़ात हुई थी, उसमें इन ज़ुल्मों का पर्दाफ़ाश हो चुका है, और तहक़ीक़ाती जज ने स्वयं इनकी निंदा की है।

जेल-यात्रा

३० मई को श्रीमती मित्र सिटी मजिस्ट्रेट मि० बशीर सिद्दीक़ की अदालत में ज़िला-जेल में पेश की गईं। उन्हें ताज़ीरात हिंद की दफ़ा १४५ का अपराधी क़रार दिया गया, और ६ मास की सादी क़ैद सुना दी गई। श्रीमती सुनीति मित्रा ने मुक़दमे की कार्यवाही में कोई भाग नहीं लिया और सज़ा के हुक्म को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया। (क्रमशः)

मंगलदेव शर्मा

---
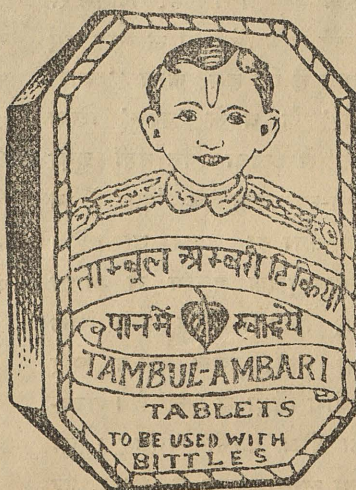
१. "कि"

यह एक छोटा-सा फ़ारसी-भाषा का शब्द है। उस भाषा में इसके कई प्रयोग हैं, जिनमें से प्रायः सभी उर्दू में और कई एक हिंदी में ले लिए गए हैं। बड़े ही आश्चर्य की बात है कि हम लोग 'अगर' के बदले 'यदि' और 'मगर' के बदले 'परंतु' लिख सकते हैं; पर इस छोटी 'कि' से अपना पिंड नहीं छुड़ा सकते। इस शब्द (फ़ारसी-व्याकरण के 'हर्फ़') ने हमारी भाषा की एक वाक्यरचना ही बदल डाली है। किसी विदेशी शब्द के पर्यायवाचक प्रयोग से भाषा की उतनी हानि नहीं होती, जितनी उसके रचनात्मक प्रयोग से होती है। मालूम नहीं, किस समय और अवसर से इस 'कि' का प्रयोग हिंदी में चला है। शब्द-शास्त्रियों को इस विषय की खोज करनी चाहिए। इस खोज से उस समय का पता लगेगा, जब से हिंदी पर उर्दू के प्रभाव का आरंभ हुआ है और यह प्रश्न हिंदी-भाषा के इतिहास की दृष्टि से बड़े महत्त्व का है।

फ़ारसी के अनुसार "कि" के जो प्रयोग केवल उर्दू-में होते हैं, उनमें से कुछ ये हैं—

(१) संबंधवाचक—जैसे, "उनमें से एक बछेड़ा नाकंद, कि होनहार था, वह भी मुझे दिया"। "इस चौक के ग़रबी ज़िले में बहुत बड़ा दरवाज़ा है कि आसमान से बातें करता है"।

(२) संयोजक—जैसे, "बाज़े लोग, कि वह सब हिंदू थे, उनका यह क़ायदा था"। "रात को शमअ काफ़ूरी रोशन हुआ करती थी कि उसके ऊपर से पानी की चादर पड़ती थी"।

(३) कारणवाचक—

"बग्घियाँ नूर की तैयार कर अए बूए समन।
कि हवा खाने को निकलेंगे जवानाने चमन।"

"नसीम जागो, कमर को बाँधो,
उठाओ बिस्तर कि रात कम है।"

इसी प्रकार की रचना राजा शिवप्रसाद की पुरानी पुस्तकों में पाई जाती है; जैसे, सरकार ने जेनरल अक्टर

N. K. Press, Lucknow.

पाकशाला ।

लोनी को कि अब ख़िताब मिलकर सर डेविड अक्टर लोनी हो गया था, नैपाल पर चढ़ाई करने का हुक्म दिया"।

हिंदी में इस प्रकार के फ़ारसी-रूपी उदाहरण तो नहीं पाए जाते; पर और अनेक अर्थों में "कि" का प्रयोग पाया जाता है। उदाहरण के लिये यहाँ कुछ प्रयोग लिखे जाते हैं—

(१) स्वरूप-वाचक—जैसे, "उसने कहा कि मैं जाता हूँ"। "सुनते हैं कि कल मंत्री आवेंगे"।

(२) उद्देशवाचक—जैसे, "हम तुम्हें वृन्दावन भेजा चाहते हैं कि तुम उनका समाधान कर आओ"। "रसीद लिख दी कि सनद रहे"।

(३) विभाजक—जैसे,

"कज्जल के कूट पर दीप-शिखा सोती है,
कि श्याम घन-मंडल में दामिनी की धारा है।
बड़ा कि छोटा कुछ काम कीजे।
परंतु पूर्वापर सोच लीजे॥"

(४) संयोजक—जैसे, मैं जाने को ही था कि आप आ गए। वह अभी चार ही बरस का हो पाया था कि उसका बाप मर गया।

यद्यपि "कि" फ़ारसी का शब्द है, तथापि वह कई एक निरे हिंदी-शब्दों से भी मिलकर आता है; जैसे—क्योंकि, जो कि, यहाँ तक कि, इसलिये कि। फ़ारसी के चूँकि, हालाँ कि, ताकि, गोकि आदि शब्दों में "कि" का मिलना स्वाभाविक है; पर वह हिंदी-संबंधवाचक शब्दों से भी मिल जाता है; जैसे—जब कि, जहाँ कि, जैसे कि, जितना कि। कभी-कभी "कि" संबंध-वाचक शब्दों के पहले भी आ जाता है; जैसे—"किसी समय राजा हरिश्चंद्र बड़ा दानी हो गया है कि जिसकी कीर्ति संसार में अब तक छाय रही है।" "कौन-कौन-से समय के फेर इन्हें झेलने पड़े कि जिनसे ये कुछ के कुछ हो गए।" इस प्रकार के प्रयोग अब हिंदी में बहुत कम हो गए हैं; पर उर्दू में उनकी बहुतायत है।

हिंदी की पुरानी कविता में 'कि" का स्वरूपवाचक प्रयोग बहुधा नहीं पाया जाता। उसमें इसका केवल विभाजक प्रयोग मिलता है; जैसे—

"रखिहैं भवन कि लैहैं साथा"। (राम०)

"सत्व सत्वगुण को कि सत्य ही की सत्ता शुभ,
सिद्धि की प्रसिद्धि कि सुबुद्धि-वृद्धि मानिए।"
(कवि०)

रमा कि राधा कै गिरा गिरिजा कै रति जानि।
(भारती०)

इस "कि" के प्रयोग में एक विशेष बात यह है कि यद्यपि फ़ारसी में इसका विभाजक प्रयोग पाया जाता है; जैसे, "ईं किताब मी ख़ाही कि आँ" (यह किताब चाहते हो कि वह); तो भी उर्दू में 'या' के बदले 'कि' का प्रयोग बहुत कम मिलता है। कदाचित् वह अशिष्ट समझा जाता है। पर उसे हिंदी के गद्य में भी शिष्ट समझते हैं; जैसे—आप वहाँ जायँगे कि नहीं।

हिंदी के सिवा दूसरी पश्चिमी आर्य-भाषाओं में भी यह फ़ारसी "कि" किसी-न-किसी रूप और अर्थ में आती है, जिससे इस छोटे-से शब्द की व्यापकता स्पष्टतः प्रकट होती है। पूर्वी आर्य-भाषाओं में "कि" के बदले 'जे' का प्रयोग होता है; जैसे उड़िया में "से कहिला जे मूँ जिबि" (उसने कहा कि मैं जाऊँगा)। पुरानी मराठी में भी 'कि' के बदले 'जे' का प्रयोग पाया जाता है; जैसे—"ते थें लिहिलें होतें जे सल्ला करून तुम्हीं आम्हीं एक व्हावें" (मराठी व्याकरण)। हिंदी में भी कई स्थानों में "कि" के स्थान में "जो" आता है; जैसे—आपने बड़ी कृपा की जो यह पुस्तक मेरे पास भेजी। ऐसा न हो जो इंद्र यह समझे।

संस्कृत में "कि" का अर्थ सूचित करने के लिये "इति" के साथ अथवा अकेला "यत्" आता है; जैसे—सत्योयं जन प्रवादो यत् संपत्संपदमनुवध्नाति इति (यह जनप्रवाद सत्य है कि संपत् संपत् का अनुगमन करती है)। इसी यत् से हिंदी का "जो" और बँगला का "जे" निकला है। हिंदी में "जो" का प्रचार अब कम हो गया है—केवल कुछ विशेष अर्थों में रह गया है और उसके स्थान में उर्दू-फ़ारसी का "कि" आ गया है।

यत् और इति की सहायता से संस्कृत में प्रत्यक्ष-भाषण-संबंधी दो प्रकार की रचना होती है; जैसे—"सोऽब्रवीत्, यथेच्छं गम्यताम् इति"। "मया एतावन्तं कालं न ज्ञातं, यत् त्वम् अत्र वससि"। इनमें से 'इति'-वाली रचना का प्रचार हिंदी को छोड़ अन्य कई आधुनिक आर्य-भाषाओं में पाया जाता है; जैसे, मराठी—मी बघेन म्हणून तो म्हणाला [मैं देखूँगा (यह) कहकर वह बोला]। बँगला—आमि देखिब बलिया से कहिल। उड़िया—मूँ देखिबि बोलि से कहिला। इन भाषाओं

में 'यत्'-वाली रचना भी पाई जाती है; परंतु हिंदी में केवल इसी पिछली रचना का प्रचार है। हमारी भाषा में 'इति'' के अर्थ का कोई अव्यय भी नहीं है; पर मराठी, बँगला आदि भाषाओं के प्रभाव से जब कभी हिंदी में ऐसी रचना आ जाती है, तब उसमें "यह" वा "ऐसा" का प्रयोग होता है, पर इससे पूर्णतः वह "इति-वाली" रचना के समान नहीं जान पड़ती; जैसे—"मैं देखूँगा, यह (ऐसा) उसने कहा।" तथापि हिंदी-भाषा की प्रवृत्ति ऐसी रचना की ओर नहीं है। हिंदी की जिन बोलियों पर मराठी अथवा बँगला (वा उड़िया) का निकट प्रभाव पड़ा है, उनमें अवश्य इति-वाली रचना का समावेश हुआ है। मध्यप्रदेश में छत्तीसगढ़ी एक ओर उड़िया से और दूसरी ओर मराठी से घिरी हुई है; इसलिये उसमें यह रचना पाई जाती है; जैसे, मैं देखिहौं कहिके ओ-हर कहीस। छत्तीसगढ़ के शिक्षित और नगर-निवासी जब खड़ीबोली बोलते हैं, तब वे उसमें अपनी मातृभाषा के प्रभाव से बहुधा ऐसी ही रचना का प्रयोग करते हैं; जैसे, मैं देखूँगा करके उसने कहा।

यद्यपि हिंदी के प्रायः सभी प्राचीन काव्यों में "कि" का प्रयोग नहीं है, तथापि उनमें यत्-संबंधी रचना का अधिक प्रचार है। राम-चरित-मानस में कहीं-कहीं इति-वाली रचना भी पाई जाती है; जैसे—

भरत भुआल होयँ यह साँची।

× × ×

रा अस नाम सुनत दशकंधर।

× × ×

सोहमस्मि इति वृत्त अखंडा।

संस्कृत के समान प्राकृत में भी "इति"वाली रचना का प्रचार अधिक है। इस भाषा के उदाहरणों में हमें 'यत्'वाली रचना के उदाहरण नहीं मिले। "कर्पूरमंजरी" (प्राकृत) से लिए गए इतिवाली रचना के कुछ उदाहरण ये हैं—

(१) सा देवरणोहिं आदिट्ठा, एसा चक्कवट्टिघरिणी भविस्सदि त्ति। (सा दैवज्ञैरादिष्टा, एषा चक्रवर्त्ति-गृहिणी भविष्यति इति)।

(२) वअस्स, सव्वं एदं भैरवाणन्दस्स विजम्भिदं त्ति तक्केमि। (वयस्य, सर्वमेतत् भैरवानंदस्य विजृम्भितम् इति तर्कयामि)।

प्राकृत के पश्चात् अपभ्रंश का समय आता है। इस भाषा के जो उदाहरण यत्र-तत्र उद्धृत पाए जाते हैं उनमें इति-वाली रचना नहीं मिलती।

उसके स्थान में यत्-वाली रचना के उदाहरण अधिकता से उपलब्ध होते हैं; पर संयोजक शब्द 'जो' (यत्) का बहुधा लोप रहता है; जैसे—

"ढोल्ला, मइ तुहुँ वारिया, मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमही रत्तड़ी, दड़वड़ होइ विहाणु॥"

(प्रिय, मैं तुम्हें रोकती हूँ कि बहुत मान मत करो। नींद में रात बीत जायगी और जल्दी सबेरा हो जायगा।)

"बिट्टीए, मइँ भणिय तुहुँ, मा कुरु बंकी दिट्ठि।
पुत्ति, सकण्णी भल्लि जिव मारइ हिअइ पइट्ठि॥"

(हे बेटी, मैं तुझसे कहता हूँ कि तू टेढ़ी दृष्टि मत कर। हे पुत्री, यह नुकीले भाले के समान हृदय में पैठकर मारती है।)

"भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि महारा कंतु।
लज्जेज्जन्तु वयंसिअहु जइ भग्गा घर एन्तु॥

[हे बहन, अच्छा हुआ जो मेरा कन्त मारा गया, (क्योंकि) यदि वह भागा हुआ घर आता, (तो) मैं सखियों में लज्जित होती।]

इन उदाहरणों में से केवल तीसरे में "कि" के अर्थ में "जु" आया है; अन्य दो में उसका अध्याहार हुआ है, जैसा वर्तमान हिंदी-गद्य में कभी-कभी और प्राचीन पद्य में बहुधा होता है। यह "जु" संस्कृत के "यत्" का ही अपभ्रंश हो सकता है, "यदि" का नहीं; क्योंकि "यदि" का अपभ्रंश "जइ" इस उदाहरण की दूसरी पंक्ति में आया है। अपभ्रंश का यही "जु" वर्तमान हिंदी का "जो" है, जिसके बदले अब "कि" का प्रयोग अधिक होने लगा है।

पृथ्वीराज-रासो में भी जहाँ तक मैं पता लगा सका हूँ "कि" का उपयोग नहीं है; पर उसमें भी 'यत्'-वाली रचना पाई जाती है, जैसा कि नीचे लिखे उदाहरणों से प्रकट होता है—

उच्चिष्ठ छंद चंदह वयन सुनत सुजंपिय नारि।
तनु पवित्त पावन कविय उकति अनूठ उधारि।
कवी कव्वि चंद सु माधौ-नरिंद।
सुरतान भट्ट मधु-माद इंदं॥

इन सब उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि अपभ्रंश में और उसके पश्चात्, प्राकृत की इतिवाली रचना का लोप हो गया और हिंदी-गद्य में "यत्" के बदले "जो" का प्रयोग होने लगा। फिर उर्दू में "कि" का प्रचार बढ़ जाने से समागम के कारण हिंदी में "जो" का प्रयोग कम हो चला और उसके स्थान में "कि" प्रयुक्त होने लगा। यह प्रयोगांतर कब से हुआ, इसका निर्णय एक स्वतंत्र खोज का विषय है; पर ऐसा अनुमान होता है कि "खड़ीबोली" के प्रचार के समय से ही "कि" के प्रयोग का आरंभ हुआ है। ब्रजभाषा के प्राचीन गद्य में और संभवतः आजकल भी "कि" के बदले "जो" ही प्रयुक्त किया जाता है।

कामताप्रसाद गुरु

× × ×

२.विज्ञान-वैभव

गोलाकार ताश के पत्ते

अब इँगलैंड में गोलाकार ताश के पत्ते बनने लगे हैं। पत्तों में छः-छः जगह छपे और नंबर लगे रहते

गोलाकार ताश के पत्ते

हैं, जिससे नंबर ताश की किसी भी अवस्था में सरलता से पढ़े जा सकते हैं। ताश के आकार में यह रद्दोबदल कई वर्षों के बाद हुआ है।

हवेलीनुमा स्वर्ग-निसेनी

न्युयार्क शहर में कालेजिएट-चर्च के पासवाली सड़क पर भी आने-जानेवालों की भीड़ अधिक रहती है; इससे वहाँ दुर्घटनाएँ—ताँगा-मोटर से पैदल चलनेवालों का दबना तथा सवारी-से-सवारी का भिड़ना—होने की अधिक संभावना रहती है। ख़ास कर पैदल चलनेवाले बहुत दबा करते हैं; इससे वहाँ हवेलीनुमा स्वर्ग-निसेनी बना दी है, जिससे पैदल चलनेवाले ऊपर से जायँ और सवारियाँ नीचे से।

बालकों के स्पर्द्धार्थ छोटे-छोटे पहिएदार हवाई जहाज़

फ़्रांस ने हवाई जहाज़ बनाने में उन्नति क्या की—वहाँ के बालक भी हवाई-बुद्धि (Air-minded) वाले हो गए और होड़ बदकर छोटे-छोटे पहिएदार
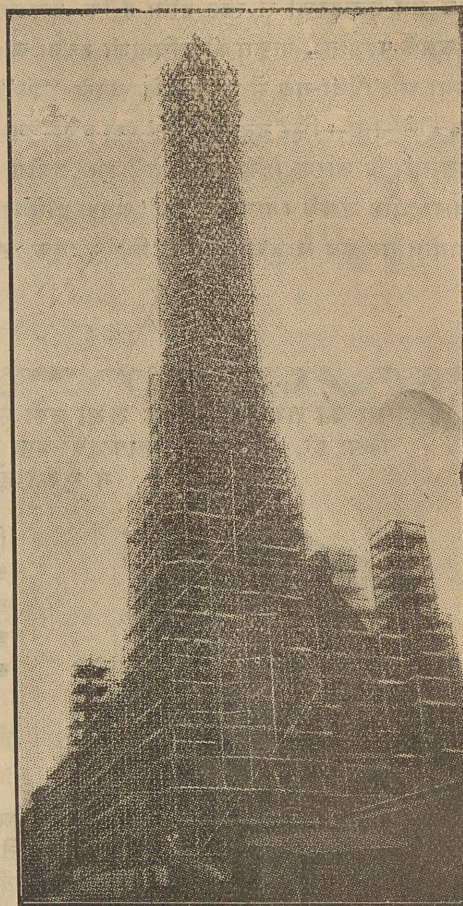
हवेलीनुमा स्वर्ग-निसेनी
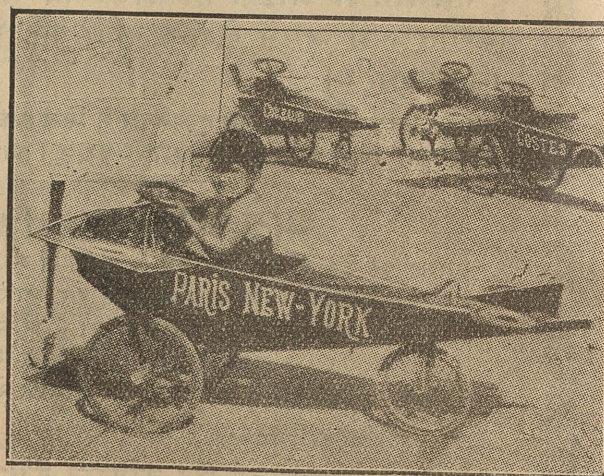
पहिएदार हवाई जहाज़

हवाई जहाज़ों में दौड़ लगाते हैं। इन पहिएदार हवाई जहाज़ों में तीन-तीन चक्के होते हैं। जिस प्रकार तिपहिया साइकिल और पैर-मोटर चलाई जाती है, उसी प्रकार ये पहिएदार हवाई-जहाज़ चलाए जाते हैं।

लकड़ी के पैर से चलनेवाली गाय

डेनमार्क की गाय जब किसी पैर से लँगड़ी हो जाती है या उसका कोई पैर टूट जाता है, तब उसके पैर में नाप से लकड़ी का पैर बाँध दिया जाता है। गाय बड़े मज़े में चलने लगती है। यहाँ एक गाय का चित्र दिया जाता है, जिसका एक पैर टूट गया था और
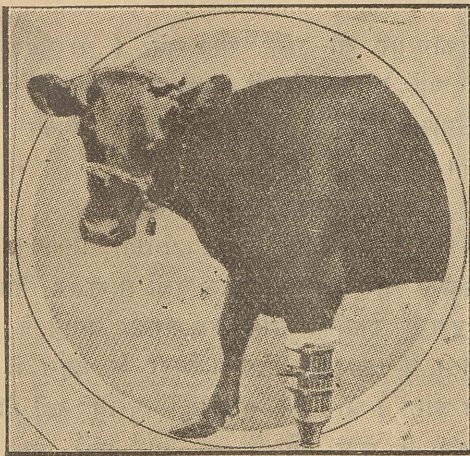
लकड़ी के पैर से चलनेवाली गाय

बेचारी को चलने में बड़ी तकलीफ़ होती थी; पर जब से उसे लकड़ी का पैर मिल गया, तब से वह बड़े आनंद से चला करती है। कहते हैं, जिस प्रकार अन्य गाएँ चला करता हैं, वैसी ही यह भी बड़ी सरलता से चलती है।

भारतीय तो गाय को अपनी मा के समान मानते हैं। भारत में ऐसी हज़ारों गाएँ होंगी, जिनके पैर भी किसी-न-किसी कारण से ख़राब हैं। अच्छा होता यदि उक्त गायों के मालिक भी अपनी-अपनी गाय के लिये लकड़ी का पैर बनवा देते।

अजीब चूल्हा

यह मिट्टी का चूल्हा नहीं है, यह यंत्र है। इस यंत्र में छः मनुष्यों के लिये चार क़िस्म की तरकारियाँ और काफ़ी गोश्त एक ही समय में बना सकते हैं। बहुत जल्द और सुगंधित भोजन तैयार करनेवाला यह यंत्र बहुत ही उपयोगी है।
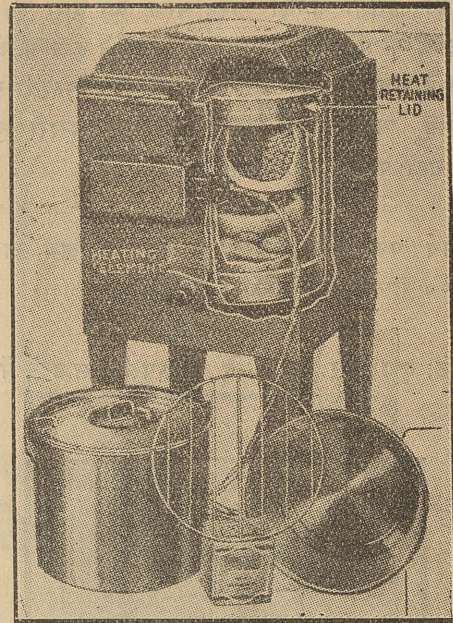
अजीब चूल्हा

झाड़ू या कपड़ा

यह बुहारी बड़ी जल्दी तैयार हो जाती है और

झाड़ू या कपड़ा

फ़र्श को इतनी अच्छी तरह साफ़ कर देती है, मानों फ़र्श कपड़े से पोंछ दिया गया हो। इससे दीवाल को भी झाड़ते हैं। दीवाल को यह खरोंचती तथा खोदती नहीं। यह झाड़ू अड़चन की जगहों को जहाँ दूसरी बुहारी पहुँच नहीं पाती, झाड़ देती है।

गुलाब का तेल

क़रीब एक औंस गुलाब के तेल के लिये लगभग ४०,००० गुलाब की कलियाँ चाहिए।

झटपट भोजन बनानेवाला डब्बा

आटे, दूध और अंडे आदि की लपसी इस डब्बे में छोड़

झटपट भोजन बनानेवाला डब्बा

दी जाती है और एक छड़ से घोंटकर झटपट स्वादिष्ट एवं बलवर्द्धक भोजन तैयार कर लिया जाता है।

पुलिस के कालर में बम

लंदन की पुलिस को उनके कालर में रखने के लिये टेनिस की गेंद के बराबर बम का गोला दिया जाता है। ये पुलिसवाले जब देखते हैं कि चोरों की मोटर जा रही है, तब ये मोटर के चक्कों पर बम फेंक देते हैं, जिससे टायर के टुकड़े-टुकड़े हो जाते और मोटर के खड़ी होने पर वे उन्हें गिरफ़्तार कर लेते हैं।

गाना गाकर जगानेवाली घड़ी

यह एक नई क़िस्म की घड़ी है, जो ग्रामोफ़ोन से जुड़ी रहती है। रात को अलार्म लगा दीजिए और
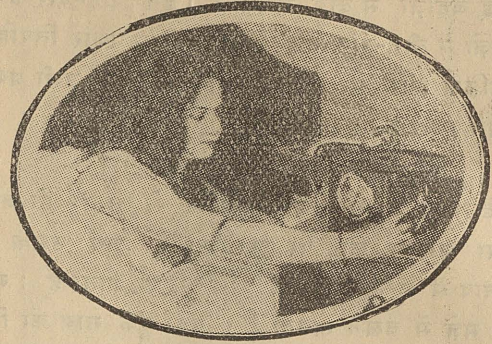
गाना गाकर जगानेवाली घड़ी

ग्रामोफ़ोन पर जो प्लेट आप सवेरे (या जब कभी आप चाहें) सुनना चाहें लगा दें; आपको आपकी इच्छानुसार समय पर घड़ी गाना गाकर जगा देगी।

नागफनी का विशाल वृक्ष

अर्जना रेगिस्तान (Arizona desert) के हिंदुस्तानी नागफनी के विशाल वृक्षों से शक्कर निकालते हैं। इसका उपयोग अधिकतर शरबत बनाने के काम में होता है। शरबत चिकनी मिट्टी के बर्तन में बंद किया जाता है और १-२ साल तक ख़राब नहीं होता। नागफनी के फल वर्ष में एक बार काटे जाते हैं। औरतें लाल और पके फल बाँसों से तोड़ती हैं। बाँसों में पत्थर के ढले हुए हुक (Hook) लगे रहते हैं। फलों से अँगूठी में लगे हुए नुकीले कीलों द्वारा (जो कुछ मुड़े रहते हैं) गूदा निकालते हैं। आधे दिन में एक मनुष्य (या औरत) लगभग १ सेर या ½ गैलन गूदा निकाल सकता है। मर्द लोग भट्टी जलाते और गूदों के अर्क को तब तक उबालते हैं, जब तक वह बर्तन में रखने योग्य शरबत नहीं बन जाता। नागफनी के फल से अचार या मुरब्बे भी बनाए जाते हैं। बीजों की तरकारी बनती है। मुर्ग़ियों आदि के बच्चों को भी बीज चुनाते हैं।

तीन-तीन हवाई जहाज़ों का आपस में बँधकर उड़ना

अब तीन-तीन हवाई जहाज़ आपस में ४० फ़ीट लंबे रस्से से बँधकर उड़ा करते हैं। इस तरह ख़तरे-वाले उड़ावे में हवाई जहाज़ों का अग्रभाग कभी-कभी तो १५ फ़ीट के अंतर में आ जाता है। ये हवाई जहाज़
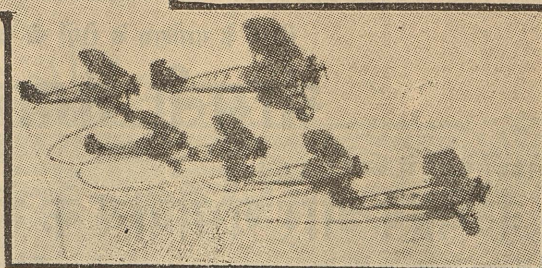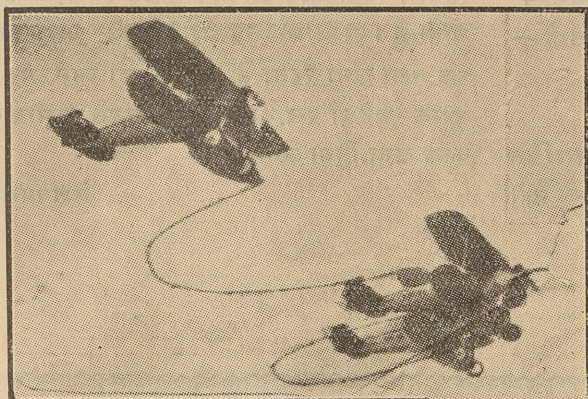
तीन-तीन हवाई जहाज़ों का आपस में बँधकर उड़ना

जब तीन-तीन के ग्रूप में उड़ते हैं, तब इनका नाम "Vee of Vees रहता है ; किंतु जब नौ-नौ का ग्रूप रहता है, तब "V" कहलाते हैं ।

डागहाउस

केलीफ़ोर्निया में एक ऐसा मकान है, जो कुत्ते की शक्ल का बना है । इसे 'डागहाउस' (Dog house)

डाग हाउस
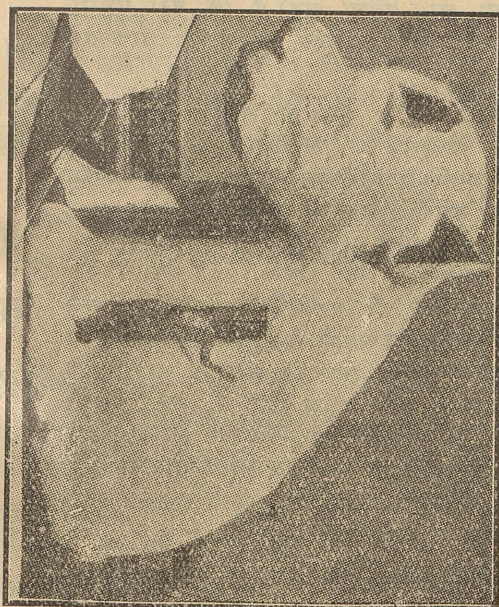
इसतीरी का नवीन आविष्कार

कहते हैं। यह मकान नए देखनेवालों को बड़ा आश्चर्य-कारक प्रतीत होता है। कोई-कोई तो कह उठते हैं—वाह! कितनी बड़ी कुत्ते की मूर्ति है!!

इसतीरी का नवीन आविष्कार

यह इसतीरी बड़ी आराम की तथा शरीर को सुरक्षित रखती है। इससे कपड़े में आग लगने का भय नहीं रहता। रस्सी आप-ही-आप भीतर की चर्ख़ी से निकलती जाती है। रस्सी की रफ़्तार के लिये चर्ख़ी-घर के ऊपर एक बटन लगा रहता है। काम हो जाने पर इसतीरी उसके खाने में रख दी जाती है तथा रस्सीवाले छेद में कार्क लगा दिया जाता है।

केशवप्रसाद वर्मा

---

१. गौरा उर्वी

'एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यक्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति'
—महाभाष्य

भारतवर्ष के इतिहास का माध्यमिक युग, जिसे हम दूसरे शब्दों में याज्ञिक काल भी कह सकते हैं, हमारे लिये एक अत्यंत दुर्बोध पहेली के समान है। इस पहेली का यथार्थ रूप समझने का प्रयास बहुत-से विद्वानों ने किया, मगर उस सारे प्रयास के बाद भी अगर हम ध्यानपूर्वक देखें, तो शायद किसी उर्दू-शायर की इस शेर को दोहरा देना कुछ अयुक्त न होगा—

....मुद्दत से चूँचरा हुई।
मगर खुदा की बात जहाँ थी वहीं रही।

भारतवर्ष सदा से धर्मप्रधान देश रहा है। धर्म ही इसकी जान है, धर्म ही उसकी शान है और धर्म ही उसका मान है। इसी धर्म की रक्षा के लिये एक दिन उसके सम्राट् महाराज हरिश्चंद्र ने उस अतुल ऐश्वर्य और भोग पर, उस अनंत वैभव और संपत्ति पर और उस चक्रवर्ती साम्राज्य पर लात मारकर एक चांडाल के यहाँ दासवृत्ति स्वीकार की। इसी धर्म के लिये मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र ने राजपाट ठुकराकर १४ वर्ष की घोर तपस्या—जिसका नाम लेते रूह काँप जाती है—करने के लिये जंगल का रास्ता पकड़ा था। हमारे इस याज्ञिक काल में भी भारतवर्ष का आदर्श वही था। वह अपने ध्येय पर अब भी उसी तरह अटल था, मगर उस धर्म के स्वरूप में—जो उसका अंतिम लक्ष्य था—अब भेद हो गया था। शरदृतु की वह निर्मल और पवित्र धारा, जिसे देखकर देवता भी मुग्ध हो जाते थे, चक्र के विकराल परिवर्तन के साथ वर्षाऋतु की गँदली और भयानक तूफ़ानी धार के रूप में परिवर्तित हो गई थी, जिसे देखकर सहृदय पुरुष घृणा से मुँह फेर लेते थे। भारतवर्ष का 'अहिंसा परमो धर्मः'वाला सिद्धांत आज का नया सिद्धांत नहीं है और न यह भगवान् बुद्ध का चलाया हुआ पंथ है, बल्कि यह है महर्षि मनु का आदेश और भगवान् वेद की अटल आज्ञा। यही गंगा की निर्मल धारा थी, जिसने इस याज्ञिक काल में, 'वैदिकी हिंसा अहिंसा' के रूप में अपने उस विशुद्ध स्वरूप को, मलिनता में परिवर्तित कर दिया। भारतवर्ष के आदर्श—इस नवीन धर्म—'वैदिकी हिंसा अहिंसा' के नाम पर

तात्कालीन भारत में सचमुच हिंसा और अत्याचार का नग्न नृत्य हो रहा था, जिसे देखकर महात्मा बुद्ध की आत्मा रो उठी और एक आस्तिक राजवंश में पैदा होकर भी बुद्ध ने इस प्रकार के घृणित आदेश देनेवाले (बुद्ध की समझ में) वेदों से घृणा के साथ मुँह फेर लिया। संस्कृत-साहित्य की आलोचना के बाद अगर हम उस समय के किसी ग्राम या नगर का काल्पनिक चित्र अपने दिमाग़ में खींचें, तो उसे देखकर स्वयं हमारे रोंगटे खड़े हो जायँगे। यह संभव नहीं कि कोई भी सहृदय पुरुष उस अत्याचार और नृशंसतापूर्ण घृणित चित्र को देखने के बाद भी तत्कालीन वैदिक धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा और सहानुभूति क़ायम रख सके। थोड़ी देर के लिये उस समय के किसी अच्छे काल्पनिक शहर में घुसकर उसकी परीक्षा कीजिए। शहर में घुसते ही दिमाग़ सबसे पहले जलते हुए मांस की बदबू के मारे सड़ जायगा। कहीं घोड़े का मांस जल रहा है, तो कहीं गोमेध की आहुति में गाय काटकर जलाई जा रही है और कहीं इससे भी बढ़कर साक्षात् नरमेध की होलिका प्रदीप्त हो रही है। सड़क पर कहीं किसी की खोपड़ी पड़ी है, तो कहीं किसी की टाँग। एक ओर ख़ून से ज़मीन लाल हो रही है, तो दूसरी ओर चर्बी को भयानक दुर्गंध उठ रही है। याज्ञिक काल के वैदिक मतानुयायियों की इस आदर्श नगरी को देखकर ज़बान से बेअख़्तियार निकल पड़ता कि परमात्मा इस प्रेतपुरी में दुश्मन को भी न ले जाय। ख़ैर, जैसे-तैसे करके आप यहाँ से निकल भी गए और किसी गृहस्थ के घर अतिथि बने, तो सबसे पहले 'मधुपर्क' के द्वारा आपकी अभ्यर्थना की जायगी, और आपकी उस पूजा की सामग्री को जुटाने के लिये वह ग़रीब और

अपि सदैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या भूतिमिच्छता॥

का कट्टर अनुयायी गृहस्थ सरतोड़ परिश्रम करके भी एक पवित्र और निरपराध वत्सतरी बछिया को लाएगा, उसके गले पर धर्म के नाम पर हँसते-हँसते ज़हरीली कटारी फेर देगा; क्योंकि यही 'समांसो मधुपर्कः' धर्म का आदर्श है और यही भगवान् वेद की आज्ञा है। सारांश यह कि उस शहर को शहर के बजाय बूचड़ख़ाना कहने में भी शायद अत्युक्ति न होगी। आजकल के शहरों में बूचड़ख़ानों की संख्या एक-दो करके उँगलियों पर गिनी जा सकती है, मगर याज्ञिक काल के नगरों का प्रत्येक घर बूचड़ख़ाना बना हुआ था और उस पर भी ख़ुसूसियत यह कि यह सब था केवल धर्म के नाम पर और वेद की दुहाई देकर!

हमारा विश्वास है कि वेद-ज्ञान ईश्वरीय देन है, वह अक्षय ज्ञान का भंडार है, उसमें मानव-जीवन की उपयोगिनी समस्त विद्याएँ मूलरूप में पाई जाती हैं और उसका उद्देश्य संसार में सुखसमृद्धि की वृद्धि एवं मानव-जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करना है। इस प्रकार के वेदों से इस निर्दयतापूर्ण शिक्षा या आज्ञा की आशा करना नितांत अयुक्त है। यह हम केवल अपने विश्वास के आधार पर ही नहीं लिख रहे हैं, बल्कि वेदों के मर्मज्ञ ऋषियों की साक्षियों के आधार पर ज़ोरदार शब्दों में कह सकते हैं कि भगवान् वेद ने आज तक कभी ऐसी आज्ञा नहीं दी। यह सब करतूत सिर्फ़ भाष्यकारों और टीकाकारों के दिमाग़ की कल्पना है, जिन्होंने वेदों के अर्थ को—

जाकी रही भावना जैसी,
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।

समझ लिया है। टीकाकारों और भाष्यकारों के दिमाग़ में एक भूत घूम रहा था। उन्होंने जहाँ गोमेधशब्द देखा, झट उसका अर्थ गौ काटकर किया जानेवाला यज्ञ कर दिया। और, अब संस्कृत के विद्यार्थियों के यह संस्कार इतने प्रबल हो गए हैं कि उनके सामने जब गोमेध शब्द आता है, तो वह इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते कि 'गोमेध' शब्द का इससे अच्छा एवं सुसंगत कुछ और भी अर्थ हो सकता है।

संस्कृत-साहित्य के विद्यार्थियों के लिये इस प्रकार की समस्याओं का सामना करना एक साधारण-सी बात हो गई है। अपने विषय का अध्ययन करते समय उनके सामने इस प्रकार की न-जाने कितनी समस्याएँ उपस्थित होती रहती हैं, जिनका हल न उनके पास है और न उनके गुरुओं के और अगर अत्युक्ति न समझी जाय, तो इससे एक क़दम और आगे बढ़कर मैं कह सकता हूँ कि उन समस्याओं का कोई ऐसा हल सारे संस्कृत-साहित्य के पास नहीं, जो दृढ़ता-पूर्वक विषय को स्पष्ट कर सके। मगर हाँ, Comparative study of religions

के विद्यार्थी के लिये इस प्रकार की पहेलियों की जटिलता कुछ कम अवश्य हो जाती है।

इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं कि वैदिक धर्म दुनिया के सारे धर्मों में सबसे प्राचीन है। और अब भारतीय और पाश्चात्य Researches ने इस बात को सिद्ध कर दिया है कि वैदिक धर्म ही सब धर्मों का आदिस्रोत है। इसलिये प्रायः हर एक धर्म पर वैदिक धर्म की गहरी छाप लगी हुई है और वैदिक धर्म के बहुत-से सिद्धांत एवं उपाख्यान ज्यों-के-त्यों संसार के अन्य धर्मों में पाए जाते हैं। वैदिक धर्म के बहुत-से ऐसे सिद्धांत हैं, जिनका प्रारंभिक युग अत्यंत उज्ज्वल और पवित्र था; परंतु काल-चक्र के परिवर्तन के साथ-साथ उनका विशुद्ध स्वरूप भी विकृत होता गया और इस प्रकार वैदिक धर्म के उस सिद्धांत का विशुद्ध रूप, बजाय वैदिक साहित्य के, उस-उस धर्म के साहित्य में सुंदर और उज्ज्वल रूप में देखने को मिलेगा। हम अपने आज के गोमेध-यज्ञ के सिद्धांत को भी अगर इसी कसौटी पर कसें, तो हम देखेंगे कि वास्तव में उसका अपना स्वरूप क्या है और वह कितना उज्ज्वल है। नीचे की पंक्तियों में हम गोमेध के इसी मनोरम रूप की एक झाँकी लेने का यत्न करेंगे।

हमारे याज्ञिक काल के यज्ञों में गोमेधयज्ञ का स्थान बहुत ऊँचा है। भगवान् मनु ने इसका उल्लेख 'गो सव' शब्द से किया है; यथा—

यजेत वाश्वमेधेन स्वार्जितं गोसवेनवा।

इस गोमेध या 'गो सव' शब्द से, जैसा कि हम पहले कह आए हैं, उस यज्ञ का ग्रहण होता हो जिसमें गाय काटकर उसके मांस को आहुति दी जाती है। परंतु हमारी समझ में इस नृशंसतापूर्ण कार्य का आदेश न भगवान् वेद ने दिया है और न दे सकते हैं। हमारी इस राय के विरोध में विपक्षी, वेद से गोमेध शब्द निकालकर दिखाने का यत्न करेंगे, मगर इससे क्या। हम यह तो नहीं कहते कि वेद में गोमेध शब्द आया ही नहीं; हमारा कथन तो सिर्फ़ इतना है कि गोमेध स्वरूप यह नहीं जो इस समय माना जाता है। अपने इस कथन की पुष्टि के लिये हम गोमेध की परीक्षा अपनी पूर्व निर्दिष्ट कसौटी पर करना चाहते हैं।

Zarostrian religion या पारसी-धर्म संसार का एक अत्यंत प्राचीन धर्म है। इस धर्म के विशेषज्ञों का कथन है कि इस धर्म के सिद्धांत वैदिक धर्म के सिद्धांतों से बिलकुल मिलते-जुलते हैं। और तो और, भाषाशास्त्र के पंडितों ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि—

The Avasta is written in a purely Aryan dilect, the elder sister of Sanskrit.

इसी संबंध में टिप्पणी करते हुए Asiatic Society के संस्थापक William Zones ने लिखा है—

When I persued the Zend glossory I was inexpressibly surprised to find six or seven words in ten are pure Sanskrit.

इसी पारसी-धर्म की धर्मपुस्तक ज़िन्दावस्ता 'गाथा' भाग के yooxxixवें एक उपाख्यान आता है, जो हमारे गोमेध के साथ बहुत कुछ टक्कर खाता है। हम अवस्ता के उस सारे लंबे-चौड़े प्रकरण को उद्धृत न करके Martin Maug के शब्दों में उसका सारांश उद्धृत करते हैं—

The Geushurva, the soul of animated creation, was crying aloud in consequence of attacks made upon his life, and innploring the assistance of the archangels..............
............Mazda answered that Geushurva was being cut into pieces for the benefit of the agriculturists...............

कुछ और आगे बढ़ डा० माग ने इस प्रकरण पर अपनी टिप्पणी करते हुए लिखा है कि—

Geushurva means the universal soul of the earth, the cause of all life and growth. The literal meaning of the word 'soul of the cow' inplies a simile; for the earth is compared to a cow. By its cutting and dividing ploughing is to be understood.

The meaning of the decree issued by Ahura mazda and the heavenly council is that the soil is to be tilled.

इन दोनों उद्धरणों से हम इस परिणाम पर बड़ी सरलता से पहुँच सकते हैं कि पारसी-धर्म का वह उपाख्यान—जिसमें गाय के मारे जाने का उल्लेख आता है—और जो दूसरे शब्दों में गोमेध का रूपांतर है—आलंकारिक रूप से कृषि का उपदेश देता है।

हमारी समझ में ठीक यही explanation वेदों में आए गोमेध शब्द के साथ भी बड़ी सुंदरता के साथ जोड़ा जा सकता है। वैदिक साहित्य के 'गोमेध' शब्द का 'गो' पारसी-साहित्य में अपने साथ उर्वा जोड़कर 'गौश उर्वा' के रूप में परिवर्तित हो जाता है और 'मेध' में मेधृ हिंसायाद्वाले भाव की भी व्याख्या 'attack on his life' कर रहा है। फलतः वैदिक साहित्य का 'गोमेध' (गौ की हिंसा) और पारसी 'गौश उर्वा की हत्या' एक ही वस्तु के दो भिन्न रूप हैं।

'गोमेध' शब्द की पद (कृषिरूप) व्याख्या हमारी अपनी कल्पना नहीं है, बल्कि यह है एक सचाई, जिसका प्रकाश बीसवीं सदी के विधाता ऋषि दयानंद ने किया था।

स्वामी दयानंद के इस अर्थ ने वेदों के ऊपर से एक भारी कलंक का धब्बा मिटा दिया और 'गोमेध'-यज्ञ का यथार्थ और उज्ज्वल चित्र हमारे सामने रख दिया। मगर यह थी शायद सिर्फ़ Outlines—एक अस्पष्ट चित्र—उसमें गोमेध-यज्ञ के सौंदर्य का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। सिर्फ़ Outlines और एक सर्वांग सुंदर चित्र में जितना अंतर है, उतना ही अंतर ऋषि दयानंद के गोमेध और उसके यथार्थ स्वरूप में था। आज इस 'गौश उर्वा' ने उस चित्र में रंग दे दिया है और इस 'गौश उर्वा' की बदौलत वैदिक साहित्य का 'गोमेध'-यज्ञ आज अपने यथार्थ और पूर्ण विकसित रूप में हमारे सामने उपस्थित है।

सूर्य की किरणें स्वयं नहीं दिखतीं। वह जब किसी वस्तुप्रतिच्छिन्न होकर लौटती हैं, तभी उनका ज्ञान होता है—वैदिक गोमेध का यथार्थ स्वरूप संस्कृत-साहित्य में नहीं दिखा, मगर 'गौश उर्वा' पद से प्रतिच्छिन्न होकर वह जगमगा उठा।

विश्वेश्वर

× × ×

२. भक्ति से मुक्ति

संसार के प्रत्येक प्राणी को दुःख के कारण जीवन अंधकारमय प्रतीत होता है। उससे बचने के लिये वह कई प्रकार के उपाय सोचता है।

शारीरिक, मानसिक और प्राकृतिक, जिन्हें आधि, व्याधि और उपाधि कहते हैं, आधिभौतिक दुःख कहलाते हैं। दो प्रकार के दुःख और हैं, जिन्हें आधिदैविक और आध्यात्मिक कहते हैं। इन दुःखों से मुक्त होना ही मोक्ष कहलाता है। इन दुःखों का प्रतीकार कैसे किया जाय, इस पर अनेक आचार्यों ने भिन्न-भिन्न विचार दिए हैं। जिस तरह जैसा रोग हो वैसी ही औषध दी जाती है, उसी तरह जीव को जैसा दुःख होता है, उसी प्रकार उससे मुक्त होने का उपाय भी किया जाता है। दुःख का अंत संसार के साथ है और संसार का अंत मुक्ति पाने पर होता है, इसलिये संसार से अलग होने के लिये मुक्ति की आवश्यकता है।

वेद-ग्रंथों में मुक्ति के कर्म, ज्ञान और भक्ति ये तीन उपाय बतलाए हैं। इन तीनों में कौन-सा श्रेष्ठ है, इसका विचार कई आचार्यों ने किया है। जिस प्रकार वैदिक विज्ञान में नवयुग नई-नई खोज कर रहा है, उसी तरह दुःख-निवृत्ति किस तरह हो, इस पर भी खोज हुई है।

सांख्यशास्त्र के रचयिता कपिल मुनि ने ऐसा माना है— प्रकृति और पुरुष के संबंध से संसार उत्पन्न होता है। प्रकृतिजाल में जीव पकड़ा जाता है और इसी कारण उसे दुःखाऽनुभव करना पड़ता है। इसलिये प्रकृति-पुरुष का संबंध ही न होने देना चाहिए। सत्व, रज और तम, इन भेदों से प्रकृति त्रिगुणात्मक है। इन गुणों के कारण पुरुष उस पर मोहित होकर कर्म में प्रवृत्त होता है। कर्म की प्रवृत्ति दुःख का मूलकारण है। कर्मप्रवृत्ति से दूर रहना ही मुक्ति का मुख्य साधन है।

योगशास्त्र-प्रणेता महर्षि पतंजलि का मत है कि केवल कर्म से दूर होकर ही मनुष्य मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता; इंद्रिय-निग्रह की भी आवश्यकता है, क्योंकि इंद्रियाँ बिना लगाम के घोड़े हैं। योगसाधन के द्वारा इन्हें वश में कर, समाधिस्थिति को प्राप्त होकर, आधिदैविक तत्त्व में निमग्न होता हुआ संसार से निवृत्त हो जाता है।

नैयायिक तथा वैशेषिक सिद्धांतियों ने "ज्ञान द्वारा मोक्ष होता है" ऐसा माना है। यह ज्ञान कई प्रकार से उत्पन्न होता है। फिर भी उसके दो मुख्य भेद हैं। पहला विद्या और दूसरा अविद्या। अविद्या से वास्तविक वस्तु का ज्ञान नहीं होता, इसलिये विद्या से अविद्या का नाश कर लेना ही दुःखनिवृत्ति है।

जैमिनि मुनि ने यह लिखा है कि "कर्म के अनुसार ही मनुष्य को दुःख भोगने पड़ते हैं" इसलिये ऐसे कर्म करे, जिससे दुःख की निवृत्ति हो। बस, यही स्वर्ग है।

बादरायण व्यास के विचार इन विचारों से पृथक् हैं। आपने मोक्ष-प्राप्ति के लिये ज्ञान को मुख्य माना है।

वेद के पूर्व कांड में यज्ञ का वर्णन है, परंतु वेद का रहस्य केवल पूर्वकाण्ड में ही नहीं है; उपनिषद् भी वेद का ही अंग है। उन्हें भी देखना चाहिए। वहाँ (उपनिषदों में) ज्ञान को मुख्य माना है। इसलिये दुःख-समुद्र को पार करने के लिये ज्ञानरूपी नौका की आवश्यकता है। व्यासजी के बनाए हुए ब्रह्मसूत्र इस बात का अच्छी तरह से प्रतिपादन कर रहे हैं। इन सूत्रों का रहस्य जानने के लिये अनेक आचार्यों ने अपनी-अपनी बुद्धि का चमत्कार दिखाया है, पर वे शंकराचार्य-लिखित भाष्य के सानी न हुए। आदि-आचार्य श्रीशंकरजी ने ही इस पर उत्कट भाष्य लिखा है।

जिस समय संसार में बौद्ध-धर्म के प्रचार से वैदिक धर्म का अनादर होने लगा था, श्रीशंकराचार्यजी ने ही वैदिक धर्म की स्थापना की थी।

श्रीशंकराचार्यजी के विचार से "मुक्ति साध्य नहीं किंतु सिद्ध है।" अज्ञान के कारण जीव निर्मुक्त रहता है और ज्ञानप्राप्ति के अनंतर मुक्त समझने लगता है।

श्रीमद्वल्लभाचार्य ने भक्तिमार्ग का उपदेश दिया। वेद के मुख्य दो काण्डों की ओर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि एक में कर्म और दूसरे में ज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। परंतु वेद का तात्पर्य यहीं पर पूरा नहीं हो सकता। एक और भी उपाय वेद में कहा गया है और वह भक्ति है। यहाँ पर प्रेमलक्षणा भक्ति का उदाहरण दिया जाता है।

"पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तं स्पृशन्ति त्वा
शवसावन् मनीषा। ऋ० मं० १-११-५-११

अर्थात् "हे बलिष्ठ प्रभो! जिस तरह पतिप्रेमा स्त्रियाँ

पति का स्पर्श करती हैं, उसी प्रकार मेरी वृत्तियाँ भी आपका स्पर्श करती हैं।" इससे यह भी सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण की भक्ति अत्यंत प्राचीन है।

कर्मयोग से मुक्ति होना इस कलियुग में अत्यंत दुर्लभ है। कारण, कर्मानुष्ठान के लिये मंत्र, द्रव्य, हवनकर्ता, देश ये सब शुद्ध होने चाहिए। यदि भाग्य से मिल भी गए, तो "स्वर्ग कामो यजेत" के अनुसार स्वर्गप्राप्ति के सिवा और कुछ नहीं; क्योंकि "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति" इत्यादि वाक्यों से यह ज्ञात होता है कि पुण्य-क्षय होने पर फिर मृत्युलोक की शरण लेनी पड़ती है। इसलिये केवल ज्ञानमार्ग को ही मुक्ति का साधन मानना पड़ेगा। परंतु यह भी ठीक नहीं जँचता। कारण, "ज्ञानमार्ग" में प्रपञ्च से दूर रहना पड़ता है, अर्थात् गृहस्थाश्रम को छोड़कर संन्यास धारण करना पड़ता है, और संन्यासी का ज्ञानमय जीवन हो जाता है और "अहं ब्रह्मास्मि" का भाव हृदयपटल पर पूर्ण रीति से अंकित हो जाता है। इसी तरह मानते-मानते वह ब्रह्म में लय हो जाता है। इस प्रकार वहाँ मोक्ष को प्राप्त होता है।

परंतु इस प्रकार की दुःखनिवृत्ति से क्या लाभ? जिस तरह बाँस के जल जाने पर भस्म शेष रह जाता है; उसी तरह ज्ञान से पूर्ण मोक्षप्राप्ति नहीं होती। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—

"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥"
गी० अ० १२ श्लोक ५।

उन सच्चिदानंद घन, निराकार, ब्रह्म में आसक्त चित्त-वाले पुरुषों के साधन में क्लेश अधिक होता है, क्योंकि देहाभिमानियों द्वारा अव्यक्त-विषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है, अर्थात् जब तक शरीर में अभिमान रहता है, शुद्ध सच्चिदानंद घन, निराकार ब्रह्म में स्थिति होना कठिन है।

"ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायंत उपासते॥ ६॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥ ७॥

अर्थात्—जो सब कर्मों को मुझे अर्पण कर अनन्य भक्ति से मुझे भजते हैं, हे अर्जुन! मैं उनको शीघ्र ही इस असार-संसार के बंधन से मुक्त कर देता हूँ—इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कर्म और ज्ञान-मार्ग से भक्ति में कहीं विशेषता है। कर्मज्ञान का उपदेश केवल ब्राह्मण, वैश्य और क्षत्रियों को ही दिया जा सकता है, अन्य को नहीं, ऐसा शास्त्रांतर में मिलता है। इस तरह यदि शूद्र और स्त्रियों को अलग कर दिया जाय, तो बेचारों का उद्धार ही न होगा। वे निरंतर दुःख ही भोगा करेंगे। इसलिये उनके उद्धार के मार्ग की भी आवश्यकता है।

भले ही शूद्रों और स्त्रियों को कर्मज्ञान का उपदेश न दे सकें, परंतु भक्ति का अधिकार सबको है। कर्म और ज्ञान प्रत्येक के उपयोगी नहीं हो सकते, इसलिये—

"स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यान्ति परां गतिम्।"

के अनुसार सर्वसाधारण के लिये भक्ति ही एक मोक्ष-प्राप्ति का सच्चा मार्ग है।

मनुष्य का उद्देश्य उस मोक्ष से नहीं है, जिससे पुण्य का क्षय हो और फिर संसार की शरण लेनी पड़े। इसलिये मोक्ष से भी अधिक फलप्राप्ति की इच्छा के लिये भक्ति ही श्रेष्ठ है। भक्ति-साधन मोक्ष से अधिक फल देनेवाला है।

शांडिल्य-भक्तिसूत्र में कहा है कि "ईश्वरेऽतीवाऽनुरागः स्नेहो भक्तिरभिधीयते"—ईश्वर में परम स्नेह को ही भक्ति कहते हैं।

पुष्टिसिद्धांतानुसार यह भक्ति दो प्रकार की है—(१) शीतला और (२) उष्णा। शीतला भक्ति में भाव की शिथिलता रहती है और उष्णा भक्ति में भक्त का हृदय विरह के कारण क्षण-क्षण में दीर्घ और उष्ण निःश्वास निकालता है, प्रेम से विह्वल हो जाता है। नारदादि की भक्ति शीतला कही गई है। गोपियों की भक्ति उष्णा कही गई है। उष्णा भक्ति ही श्रेष्ठ है, इसलिये उसी का उदाहरण यहाँ दिया जाता है।

रास-क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्ण भगवान् जब गोपियों के मंडल में से अंतर्द्धान हो गए, तो गोपियाँ अत्यंत व्याकुल हो गईं। जिस तरह हथिनियों की टोली से हाथी बिछुड़ जाता है, उस समय जो हथिनियों की दशा होती है, इनकी अवस्था उससे भी कहीं बढ़ी-चढ़ी थी। उन्होंने श्रीकृष्ण को ढूँढ़ने का प्रयत्न

किया। वन-वन उन्मत्त की भाँति फिरने लगीं ! वृक्षों और वनस्पतियों से पूछने लगीं। हे वट-वृक्ष ! हे पीपल ! हे उदुंबर ! तुमने प्रेम तथा हास्य से हमारे चित्त को चुरानेवाले श्रीकृष्ण को देखा है ? यदि देखा है, तो बताओ वह हमें कहाँ मिलेंगे ? हे अशोक ! हे कदंब ! तुमने हमारे दर्प को हरण करनेवाले श्रीबलदाऊजी के छोटे भइया श्रीकृष्ण को यहाँ से जाते हुए देखा है ? हे तुलसी ! तू निरंतर श्रीकृष्ण के चरण-कमलों में रहती है, तूने तो हमारे श्रीकृष्ण को अवश्य देखा होगा। हे लताओ ! तुमने हमारे हृदय के भाव को जाननेवाले श्रीकृष्ण भगवान् को देखा है। जब इन प्रश्नों का किसी ने उत्तर नहीं दिया, तब गोपियाँ श्रीयमुनाजी की रमण-रेती में कृष्ण का गुण-गान करने लगीं। यहाँ तक कि गाते-गाते रोईं। नेत्रों से अश्रुपात होने लगे। कंठ गद्गद् हो गए। श्रीकृष्ण भगवान् ने, जो अदृश्य रूप से सब कार्य देख रहे थे, विचार किया कि अब इनका अहंकार चूर्ण हो गया है। इनमें दैन्यभाव पैदा हो चुका है। अब अधिक विलंब करने से ये प्राण छोड़ देंगी। इस प्रकार सोचते हुए भगवान् प्रकट हो गए। यह है अनन्य भक्ति का प्रगाढ़ परिचय। इसे कहते हैं उष्णा भक्ति।

इस प्रकार की भक्तिवाले भक्त की मुक्ति भी दूसरे प्रकार की है। इसे हम आत्यंतिक दुःख की निवृत्ति नहीं कह सकते। यह है अलौकिक आनंद का अनुभव। परब्रह्म अपरिच्छिन्न आनंदरूप है। उसके साथ सब प्रकार के मनोरथ सिद्ध करना कृष्णभक्ति के ही उच्छ्वास हैं। और इसे ही सर्वोत्कृष्ट मुक्ति या मोक्ष कहना चाहिए। अस्तु।

भक्ति के और भी कई ऐसे उदाहरण हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि उस परब्रह्म परमात्मा की अनन्य भक्ति से इस असार संसार से मुक्ति पा ब्रह्मरूप अर्थात् साक्षात् परमात्मा हो जाता है और फिर संसार में उसका कोई काम बाक़ी नहीं रह जाता।

आजकल की भक्ति और प्राचीन भक्ति में बहुत अंतर हो गया है। आजकल के भक्तों को तो—"टका धर्मष्टका कर्म टकैव परमं तपम्। यस्यगृहे टका नास्ति हा टका टकटकायते।"—टके से मतलब है। बगला-भक्ति के सिवा इनको और कुछ भी नहीं सूझता। बताइए फिर मुक्ति कहाँ से हो ! इसलिये मुक्ति का पथ इस संसार में अत्यंत सीधा होते हुए भी कठिन-सा प्रतीत होने लगा है। इसका कारण यदि देखा जाय, तो केवल व्यभिचार-मात्र है ! व्यभिचार की सीमा इतनी बढ़ी हुई है कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं। यदि व्यभिचार से मनुष्य अपनी मनोवृत्तियाँ संकुचित कर ईश्वर में अनुराग करे, तो अवश्य वह "अंतर्यामी" उसे इस संसार से पार लगा देगा। भाइयो ! व्यभिचार छोड़ो और ईश्वर से प्रेम करो। बस, इस ज़माने में यही मुक्ति है !

के० एल्० तैलंग

× × ×

३. हिंदुओं की जाति-पाँति और इस्लाम का भारत-प्रवेश

माधुरी की पूर्ण संख्या ८४ में उपर्युक्त-शीर्षक से एक लेख श्रीसंतरामजी का प्रकाशित हुआ है। लेख को आद्योपांत पढ़ने पर उसमें प्रौढ़ विचार का पूर्ण अभाव ही पाया जाता है। लेखक ने ब्राह्मणसमाज को कोसने और उसे संसार की दृष्टि में हेय बनाने की भरपूर चेष्टा की है। लेख से लेखक के खोखले ज्ञान और अदूरदर्शिता का भी पूर्णतः पता चलता है। इस स्थल पर उनकी सभी बातों का उत्तर देना अनुचित है। संतरामजी ने कोई नई बात नहीं कही है। आजकल हवा ही ऐसी बह रही है कि लोग शांतचित्त से किसी भी विषय पर बिना विचार किए ही समाचारपत्रों में दौड़ने का साहस कर बैठते हैं और मनगढ़ंत बातों को लेकर आकाश-पाताल एक किया करते हैं। वे यह नहीं समझते हैं कि उनका उत्तरदायित्व कितना है और उनके विचारों का प्रभाव जनता पर कैसा पड़ सकता है। संतरामजी समस्त जीवों को प्रेम का पाठ पढ़ाने चले हैं, परंतु ब्राह्मणजाति के प्रति उन्होंने जैसे भाव प्रकट कर उसके विरुद्ध अन्य लोगों को भड़काने की चेष्टा की है, क्या इसे ही सच्चे प्रेम का आदर्श समझा जा सकता है? क्या उनके ईसा और बुद्ध ने उन्हें यही आदर्श बताया है? जो हो, संतरामजी से मेरा कुछ कहना-सुनना नहीं है। ब्राह्मणजाति के संबंध में वह जैसे भाव रक्खें, उन्हें मतस्वातंत्र्य है, परंतु अलीक लांछनों से किसी को लांछित करना और किसी जाति-विशेष के प्रति घृणा उत्पन्न कराना तो सभ्यता, कुलीनता और उच्च शिक्षा के आदर्श की परिधि के बाहर है।

संतरामजी तथा इन्हीं की तरह अन्य कुछ लोग वर्ण-व्यवस्था को हानिकारक मानते हैं, परंतु इन्होंने वर्णव्यवस्था के तत्वों के अनुशीलन करने का कभी प्रयत्न ही नहीं किया है।

अनुशीलन के विषय पर विशेष कुछ लिखना अनावश्यक है, क्योंकि अनुशीलन का मार्ग एक ही है और उसे भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में इस प्रकार बताया है—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥"

जिस जगह इस नियम पर ध्यान ही नहीं रक्खा जाता है, वहाँ पर ज्ञान का काम ही क्या।

फूट और प्रमाद का कारण वर्ण-व्यवस्था को बताना इतिहास का गला घोंटना है। यदि प्रमादरहित होकर कभी विचार किया जायगा, तो पता चलेगा कि एकता और शक्ति की उत्पादिका वर्ण-व्यवस्था ही है। हिंदू-दार्शनिकों की तो बात दूर रहने दीजिए, पाश्चात्य विद्वान् भी संतरामजी के उक्त विचारों से सहमत नहीं हैं। यहाँ पर मैं पाश्चात्य विद्वानों के मत का उल्लेख करूँगा, पर पाठकों को यह नहीं भूलना चाहिए कि जिन पाश्चात्य विद्वानों के मत यहाँ पर लिखे जायँगे, वे भी हिंदू-सभ्यता को कोसने में संतरामजी से किसी प्रकार कम नहीं हैं; परंतु वे संतरामजी के गुरु हैं, जिनके बहुत-से भावों को लेकर संतरामजी तथा वैसे ही विचार रखनेवालों ने भारत में हो-हल्ला मचा रक्खा है। इतने पर भी वर्ण-व्यवस्था के भीतर जो बुद्धिमत्ता संचारित हुई है, उसका अनुभव किए बिना पाश्चात्य विद्वान् भी नहीं रह सके हैं। इन विद्वानों के मत के उल्लेख के पूर्व अँगरेज़ी में वर्णव्यवस्था के लिये व्यवहृत होनेवाले शब्द Caste (कास्ट) के संबंध में कुछ विचार कर लिया जाय। कारण, संतरामजी ने अपने उपर्युक्त लेख में Caste शब्द का जो अर्थ समझा है, उससे उनके अँगरेज़ी साहित्य के अधूरे ज्ञान का भी पता लगता है, परंतु अपनी कमज़ोरी का बिना अनुभव किए ही ज़बर्दस्ती किसी भले आदमी के पीछे पड़ उसे मूर्ख सिद्ध करने को उतारू होना एक शिक्षित कहे जानेवाले के लिये लज्जा की बात है। उनके अधूरे ज्ञान का कुफल समाज पर कितना पड़ेगा, इसका भी विचार उन्हें पहले करना चाहिए। Caste (कास्ट) के संबंध में संतरामजी ने लिखा है कि "नाई और नव्वाब श्रेणियाँ (Classes) हैं, ज्ञातें (Castes) नहीं। योरप में एक लुहार-लड़का........लार्ड (नवाब) बन सकता है। फिर वह लार्ड लोगों के यहाँ ब्याह-शादी कर सकता है" इत्यादि। इतिहास से पता लगता है कि १६वीं सदी में पोर्तुगाल के कुछ असभ्य नाविकों ने वर्णव्यवस्था का नाम Caste (कास्ट) रक्खा था। दी राइट आनरेबल प्रो० मैक्समूलर के० एम्०-जैसे संस्कृत-साहित्य के प्रगाढ़ विद्वान् ने Caste (कास्ट) के संबंध में लिखा है—

"This term caste has proved most mischievous and misleading and the less we avail ourselves of it the better we shall be able to understand the true state of society in ancient times of India."

मोत्तमूलर का कहना है कि Caste (कास्ट) शब्द बहुत ही त्ततिकर और भ्रमपूर्ण सिद्ध हो चुका है और प्राचीन भारतीय समाज को समझने के लिये इस का जितना कम प्रयोग किया जाय, उतना ही अच्छा हमारे लिये होगा।

मोत्तमूलर ने तो यहाँ तक कहा है—

"To ask what caste means in India would be like asking what caste means in England or what fetish (feitico) means in Portugal."

अर्थात् यह पूछना कि Caste (कास्ट) का क्या अर्थ भारत में है, वैसा ही प्रश्न है जैसे विलायत में कास्ट (Caste) और पोर्तुगाल में Fetish (फेटिश) का क्या अर्थ है यह पूछना।

मैक्समूलर-जैसे धुरंधर विद्वानों ने Caste (कास्ट) के संबंध में जो मत प्रकाशित किया है, संतरामजी को उसका अनुशीलन करना चाहिए। जिन अँगरेज़ों ने भारतीय ग्रेजुएटों के दिमाग़ भ्रष्ट सिद्धांतों से बिगाड़ दिए हैं, आज उन्हीं विदेशियों में से एक विशिष्ट विद्वान् की प्रखर बुद्धि Caste (कास्ट) के संबंध में चकरा गई है और उसे बाध्य होकर अपने भाइयों को, जो प्राचीन भारत का अध्ययन करने की अभिलाषा रखते हैं, इस कास्ट शब्द की बुराइयों से सावधान करना पड़ा है।

क्या हम आशा कर सकते हैं कि मोक्षमूलर के उपदेशानुसार संतरामजी तथा उन्हीं की जैसी धारणा के सज्जन अपने भ्रम को हटाने की चेष्टा करेंगे और व्यर्थ के दुराग्रह का आश्रय ले भोलीभाली जनता को अपने अज्ञान से अज्ञान-मार्ग में घसीटने का दुस्साहस नहीं करेंगे।

Dubois ने लिखा है—

"The division of the people into castes existed also amongst the Egyptians. With them as with the Hindus the law assigned on occupation to each individual which was handed down from father to son. It was forbidden to any man to have two professions or to change his own. Each caste had a special quarter assinged to it and people of a different caste were prohibitted from settling there."

अर्थात् इजिप्ट में भी हिंदुस्थान की तरह वर्ण-व्यवस्था थी। हिंदुओं की तरह उनके क़ानून ने भी प्रत्येक मनुष्य का पेशा नियत कर दिया था, जो पीढ़ी दर पीढ़ी चलता था; एक मनुष्य को दो प्रकार के पेशे करने का अधिकार नहीं था और न वह अपना पेशा ही बदल सकता था। प्रत्येक वर्ण के लोगों के निवासस्थान निर्दिष्ट थे और एक वर्ण का मनुष्य दूसरे वर्ण के मुहल्ले में नहीं रह सकता था।

आगे चलकर Dobois ने कहा है—

And be it noted this plan of dividing the people into castes is not confined to the lawgivers of India.

The wisest and most famous of all lawgivers, Moses, availed himself of the same institution as being one which offered him the best means of governing the intractable and rebellous people of whom he had been appointed the patriarch."

अर्थात् यह ध्यान में रखना चाहिए कि मनुष्यों का वर्ण-विभाग करना केवल हिंदुस्थान के क़ानून बनानेवालों के ही दायरे के अंतर्गत नहीं था। सबसे बुद्धिमान् और क़ानून के सर्वश्रेष्ठ पंडित Moses (मोज़ेज़) ने भी इस भेद का उपयोग किया था; क्योंकि शासन की उपेक्षा करनेवालों और नियंत्रण के विरुद्ध चलनेवालों के शासन का यही सर्वोत्तम साधन था; उसे भी ऐसे ही लोगों का शासक होना पड़ा था।

संतरामजी वर्णव्यवस्था के नाम से ही चिढ़ते हैं; क्योंकि उन्हें इसमें दूषण-ही-दूषण समझाया गया है। पर उन्हें इन पंक्तियों को ग़ौर से पढ़ना चाहिए—

"It must be remarked, however, that the four great professions without which a civilised nation could not exist namely the army, agriculture, commerce and weaving are held everywhere in the highest esteem."

अर्थात् फ़ौज, कृषि, व्यवसाय और कपड़े बुनना सर्वत्र ही बड़े आदर से देखे जाते हैं। इनके बिना किसी सभ्य राष्ट्र का अस्तित्व ही नहीं रह सका।

हिंदू-स्मृतिकारों की कृतियों से जिनका कुछ संबंध रहा है, वे यह कह सकते हैं कि प्रत्येक वर्ण के भिन्न-भिन्न कर्म उनके स्वाभाविक गुणों के अनुसार निर्णय कर उन महात्माओं ने भारतवासियों का कैसा उपकार किया है। ऊपर की बातों से यह स्पष्ट है कि जिन चार बातों को पाश्चात्य विद्वान् किसी जाति के जीवन के लिये परमोपयोगी समझते हैं, भारत के त्रिकालदर्शी महर्षि उनसे सूक्ष्म विचार के बल पर ऐसी व्यवस्था कर चुके हैं, जिन्हें जीवन के अस्तित्व के लिये कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता है। यह इसी सुव्यवस्था की पुष्ट नींव है, जिसके कारण अनादि काल से शत्रुओं के आक्रमण होने पर भी हिंदू-जाति का ढाँचा गिरकर धूल में नहीं मिल पाया है।

जिन मनुष्यों की सभ्यता का इतिहास अभी प्रारंभ ही नहीं हुआ, परंतु जो अपने को संसार में सभ्यता के चूड़ांत शिखर पर पहुँचा समझते हैं, उनको भी बाध्य होकर आर्य-सभ्यता की प्रशंसा और समाज-संगठन की नीति की प्रशंसा करनी ही पड़ती है।

Dubois ने एक स्थल पर कहा है—

"I have heard some persons sensible enough in other respects, but imbued with all prejudices that they have brought with them from Europe, pronounce what appears to me an altogether erroneous judgment in the matter of caste divisions amongst the Hindus. In their opinion caste is not only useless to the body politic, it is also ridiculous and even calculated to bring trouble and disorder on the people. For my part having lived many years in friendly terms with the Hindus I have been albe to study their national life and character closely and I have arrived at a quite oppoite decision in this subject of caste. I believe caste division to be in many respects the chef-dceuvre, the happiest effort of Hindu legislation. I am pursuaded that it is simply and solely due to the distribution of the people into castes that India did not lapse into a state of barbarism and that she preserved and perfected the arts and sciences of civilisation whilst most other nations of the earth remained in a state of barbarism."

अर्थात् अन्य प्रकारों से बुद्धिमान् परंतु योरप से लाए हुए अपने मिथ्या ज्ञान के कारण अपना मत Caste (कास्ट) वर्णविभाग के संबंध में जैसा प्रकट करते हैं, वह मुझे नितांत ही भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है। उनकी सम्मति में राजतंत्र में वर्णविभाग केवल व्यर्थ ही नहीं है, परंतु यह हास्यास्पद और लोगों में विपत्ति और उच्छृंखलता का कारण है। हिंदुओं के साथ मित्र-भाव से बहुत वर्षों तक मैं रहा हूँ और उनका राष्ट्रीय जीवन तथा उनके आचरण का पूरा-पूरा अध्ययन किया है और इस वर्णविभाग के संबंध में मैं उनसे ठीक विपरीत भाव रखता हूँ। मेरा विश्वास है कि हिंदू-क़ानून-निर्माण में वर्णव्यवस्था कई प्रकार से अत्यंत मनोहर उद्योग का फल है। मुझे यह दृढ़ विश्वास है कि वर्णविभाग के ही कारण हिंदुस्थान बर्बरता को नहीं पहुँचा है, उसने सभ्यता के ज्ञान और विज्ञान को पूर्ण किया और उन्हें सुरक्षित रक्खा। इसके विपरीत संसार की अन्य जातियाँ बर्बर अवस्था में रहीं।

अपने अनुभव से Dubois ने यह भी लिखा है—

"We can judge what the Hindus would have been like had they not been held within the pale of social duty by caste regulations, if we glance at neighbouring nations, west of the peninsula and east of it beyond the Ganges so far as China... After much careful thought I can discover no other reason except caste which accounts for the Hindus not having fallen into the same state of barbarism as their neighbours and as almost all nations inhabiting the Torid Zone."

अर्थात् भारत के पश्चिम और गंगा के पूर्व से चीन तक के राष्ट्रों की ओर एक दृष्टि डालने से यह पता लगेगा कि यदि वर्णविभाग के नियमानुकूल हिंदुओं को सामाजिक बंधनों के अंतर्गत नहीं रक्खा जाता, तो आज उनकी क्या दशा होती। बहुत विचार करने पर मुझे यही तथ्य मिला है कि अपने पड़ोसियों की तरह बर्बरता में न फँसने का कारण हिंदुओं के लिये वर्ण-विभाग के सिवा दूसरा कुछ नहीं है।

(क्रमशः)

धन्नूलाल शर्मा
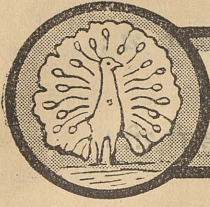
संगीत और विनोद

स्वरकार—गौरीशंकरसिंह
(संगीत-मास्टर क्षत्रिय हाईस्कूल, जौनपुर)

राग दुर्गा—ताल झपताल
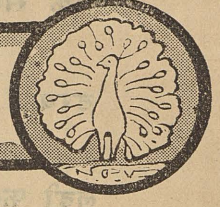
शब्दकार—जगदीशसहाय माथुर

गीत

कैसा सुदिन आज, सुंदर मधुर साज ।
सुनता विजयनाद, भारत मा जयतु ॥
सुत तेरे अति वीर, सहते कठिन पीर ।
गाते हैं गंभीर, भारत मा जयतु ॥

स्थायी

					प		म		
प	—	मप	ध	ध	म	प	रे	सा	सा
कै	ऽ	साऽ	ऽ	सु	दि	न	आ	ऽ	ज
सा	सा	ध	ध	ध	म	प	रे	सा	सा
सु	ऽ	न्दं	रं	म	धु	र	सा	ऽ	ज
सा	सा	रे	म	म	प	ध	पध	सं	सं
सु	न	ता	ऽ	वि	ज	य	नाऽ	ऽ	द
म	प	मप	ध	ध	पम	प	रे	सा	सा
भा	ऽ	रऽ	ऽ	त	मा	ऽ	ज	य	तु

अंतरा

म	म	ध	—	संध	सां	सां	सां	—	सां
सु	त	तें	ऽ	रे	अ	ति	वी	ऽ	र
								प	
ध	ध	सां	—	रें	ध	सां	ध	म	म
स	ह	तें	ऽ	क	ठि	न	पी	ऽ	र
								प	
मं	पं	रें	सां	रें	ध	सं	ध	म	म
गा	ऽ	तें	ऽ	हैं	गं	ऽ	भी	ऽ	र
म	प	मप	ध	ध	म	प	र	स	स
भा	ऽ	रऽ	ऽ	त	मा	ऽ	ज	य	तु
×		२			०		३		

ग्रामीण गुरु

एक समय श्रीगुरुनारायण, मेरे घर पर आए थे,
एक गँवार साथ ही अपने चेला भी वे लाए थे;
दरवाज़े पर सघन वृक्ष थे, छाया हरदम रहती थी,
हृत्तल शीतल हो जाता था हवा जिस समय बहती थी।
लदी फलों से जामुन-शाखा झूम-झूम भू छूती थी,
टपक-टपककर पवन-झोंक से महुए-सी वह चूती थी;
उसी पेड़ के नीचे गुरुजी ठाकुर-पूजा करते थे,
अक्षत, फूल बेल की पत्ती धो-धो चेला धरते थे।
पूजा कैसी! आँख मूँदकर पिनक भंग की लेते थे,
उसी नशे में चूर-चूर हो चेला पहरा देते थे;
गुरुजी ने घंटों तक मल-मल ठाकुरजी को नहलाया,
चंदन पोत धूप का धूआँ दिया, दिया फिर दिखलाया।
भोग लगाने को कुछ घर से तब नौकर से मँगवाया,
चीनी-दही लबालब भरकर एक कटोरा वह लाया;
आसन पर उसको रखकर जब शंख बजाते बाबाजी,
सुनकर भों-भों करता दौड़ा आया तब टामी पाजी।
नहीं ख्याल कर उसका कुछ भी आँख मूँद फिर ध्यान किया,
पास पहुँचकर तब टामी ने भरा कटोरा साफ़ किया;
समझ वस्तु खाने की कोई ठाकुरजी को ले भागा,
उसके बाद आध घंटे पर तब जाकर पहरू जागा।
सिंहासन पर उनके बदले जामुन चूकर थी आई,
काले ठाकुर काली जामुन नहीं भिन्नता लख पाई;
आँख खोलकर श्रीगुरुजी ने जब इधर-उधर देखा भाला,
पूछा दही?—कह उठा चेला—ठाकुरजी ने खा डाला।
जामुन एक मिली आसन पर समझे खाने आए थे,
वे जल्दी के कारण से ही ऊपर पहुँच न पाए थे;
पोंछा दबा दही का छींटा बाहर आकर बीज पड़ा,
"यह क्या?" चेला बोला—इनको पानी दे-दे दिया सड़ा!

राजाराम त्रिपाठी 'शास्त्री'

१. श्रीमती विमलादेवी 'रमा'

भारतवर्ष में अन्य प्रांतों के अतिरिक्त बिहार-प्रांत में भी स्त्रियों में काफ़ी जागृति के शुभ चिह्न दिखलाई पड़ते हैं। समाज में, राजनैतिक वायुमंडल में एवं हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में सभी जगह उत्साहवर्धक चहल-पहल नज़र पड़ रही है। आदिशक्ति के इस स्फूर्तिमय जागरण ने देश को, प्रत्येक क्षेत्र में, पर्याप्त सहायता प्रदान की है। आशा की क्षीण रश्मियाँ प्रकृति का सामयिक सहयोग पाकर शरदऋतु की पूर्णिमा के रूप में आकुल तथा संतप्त हृदयों को मनमानी शांति दे रही हैं। उज्ज्वल भविष्य की एक अमिट रेखा हमारे दृष्टिपथ पर अंकित हो रही है। हमारा चिर-सुख-सपना शीघ्र सफलीभूत होगा—ऐसा पूर्ण विश्वास हो रहा है। ईश्वर करे, ऐसा ही हो।

आज मैं बिहार-प्रांत की एक ऐसी सुयोग्य महिला का परिचय पाठकों को देना चाहती हूँ, जिन्होंने केवल अपनी घरू सनातन शिक्षा की बदौलत ऐसे सभी गुण प्राप्त किए, जिनका समाज और देश के लिये होना आवश्यकीय है।

आपका शुभ नाम सौभाग्यवती श्रीविमलादेवी "रमा" है। शाहाबाद के प्रसिद्ध वकील श्रीभगवत-सहायजी आपके पिता थे। वकील साहब बड़े ही समाज-सुधारक और स्त्रीशिक्षा के प्रेमी थे। उन्होंने इस संबंध में बहुत-से कार्य किए, और इसी भावना को लेकर उन्होंने अपनी पुत्री श्रीविमलादेवी को पठन-पाठन के अतिरिक्त संगीत और धार्मिक ज्ञान भी विशेष रूप से दिलाया। प्रसन्नता की बात है कि वकील साहब का ध्येय पूरा हुआ और देवीजी का जीवन-पथ वैसा ही बन गया, जैसा वह चाहते थे। देवीजी का जन्म ६ जून सन् १६०२ में और विवाह सन् १६१६ ई० में हुआ। इनका विवाह डुमराँव-राज्य के मुंतज़िम साहब के द्वितीय पुत्र श्रीमदनमुकुंदप्रसादजी के साथ किया गया। श्रीमदनमुकुंदप्रसादजी भी हिंदी के बड़े ही प्रेमी और समाज-सुधारक हैं। इस अनुकूल वायुमंडल को पाकर देवीजी का उत्साह और भी बढ़ा। आप गद्य और पद्य दोनों लिखती हैं। आर्यमहिला, मनोरमा और माधुरी आदि में भी आपकी रचनाएँ प्रकाशित

सौ० श्रीमती विमलादेवी "रमा"

होती रहती हैं। आपने "शिक्षा-सौरभ"-नामक पुस्तक भी लिखी है। इसमें अपनी रचनाओं के अतिरिक्त प्राचीन नवीन प्रसिद्ध लेखक-कवियों की कृतियों का चुनाव भी बड़ी उत्तमता से किया गया है। यह पुस्तक स्त्री-शिक्षा-दायिनी संस्थाओं में प्रचलित है। इस पुस्तक की भूमिका में इलाहाबाद के प्रो० व्रजराज एम्० ए० बी० एस्-सी० एल्-एल्-बी० लिखते हैं कि—"मुझे पुस्तक देखकर बड़ा हर्ष हुआ। संपादन बड़ी उत्तमता से किया गया है। आपका अध्ययन गहरा है।...इस पुस्तक में साहित्य के सभी अंगों से संग्रह लिया गया है। मैं हिंदी-संसार और हिंदी-छात्रों से अनुरोध करता हूँ कि वे इस पुस्तक से अवश्य लाभ उठावें...।" आपकी हिंदी-प्रियता देखकर "शिवा-प्रतिभा"-नामक पुस्तक श्रीरामचंद्र शर्मा काव्य-कंठ ने आपको ही समर्पित की है। देवीजी ने बालकों और उनकी माताओं के लिये "शिशु-जननी" नामक एक और पुस्तक तैयार की है, जो शीघ्र ही प्रकाशित होगी। आपकी लगन और प्रेम का पता पाठकों को इतने से ही चल जायगा।

कालेज के सार्टीफ़िकेटों से वंचित रहने पर भी, आपने नवीन युग के साथ उचित सहयोग करके जो सेवा-व्रत लिया है, वह अन्य स्त्रियों के लिये शिक्षा और गौरव की बात होनी चाहिए। हमारा तो विश्वास है कि नई पाश्चात्य शिक्षा के वायुमंडल से दूर रहकर, अपनी प्राचीन शिक्षा के द्वारा भी स्त्रियाँ उतना ही काम कर सकती हैं, जितना इस युग में करना चाहिए। संपन्न घर को पाकर भी सज्जनता, उदारता और नम्रता का जो आदर्श देवीजी ने अपने सामने रक्खा है, वह प्रशंसनीय है। आपके व्यवहार में शुद्धता और प्रेम में पवित्रता है। मुझे थोड़े दिनों के परिचय से जो आभास मिला है, उससे मेरी श्रद्धा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। धन और संपन्नता पाकर आजकल स्त्रियों में फ़ैशन और विलासिता का भूत सर पर चढ़ जाता है, अपनी शक्तियों का दुरुपयोग करने लगती हैं। नई रोशनी में पाश्चात्य-शिक्षा का रंगीन चश्मा उनकी आँखों को तिलमिला देता है। ऐसी बहनों को देवीजी के चरित्र से शिक्षा लेनी चाहिए। हमारी परम पिता परमात्मा से प्रार्थना है कि वे आपको चिरायु करें। आपके दिल में वह लगन लगावें, जिससे आपकी उदारता और कर्तव्यनिष्ठा प्रतिदिन बढ़ती जावे। सेवा के पवित्र मार्ग में विशुद्ध भाव से अग्रसर होती जावें। इस प्रकार अपना कल्याण करें और अपनी पिछड़ी हुई बहनों को सुमार्ग दिखा सकें।

ईश्वर करे, इस देश में ऐसी हज़ारों ललनाएँ उत्पन्न हों और अपनी सेवा द्वारा आदर्श उपस्थित करती हुई देश का मुख उज्ज्वल करें।

सुशीलादेवी त्रिपाठी

× × ×

२. पुष्प

(१)

आकाश के किसी अदृष्ट केंद्र से एक पुष्प टूटकर पृथ्वी पर आ गिरा। किंतु दुर्भाग्य ने उसे ऐसा स्थान दिया, जहाँ बीहड़ वन के सिवा कुछ न था। उसने अपनी छोटी-

छोटी कोमल पँखुरियाँ फैलाकर दर्शकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहा, किंतु वहाँ कोई दर्शक ही न था। देखता कौन ? वह वहाँ पड़ा-पड़ा पछताता और करुण क्रंदन करता रहा। किंतु उसकी कौन परवा करता। दिन को सूर्य की सुनहली किरणें उसकी पँखुरियों को सोने से मढ़ देती थीं और रात्रि को सुधांशु अमृत बरसाकर उसमें नवीन जीवन-ज्योति डाल देते थे। ओस के कण उस पर गिरकर मोती बन जाते थे और शीतल-मंद वायु उसके सम्पर्क से सुवासित हो समस्त वनप्रांत को एक अनिर्वचनीय स्वर्गीय सौरभ से परिपूर्ण कर देती थी। किंतु जिसके लिये संसार में उस देवलोकीय दुर्लभ पदार्थ की सृष्टि हुई थी, वह उससे बहुत दूर था। पक्षीगण उस पर बैठ-बैठकर तांडव नृत्य करते थे और वह पड़ा-पड़ा इस दुर्गति पर अपने को सैकड़ों बार धिक्कारता था। किंतु परवश था, कर ही क्या सकता था ? वाराहादि पशुगण आकर उसकी ओर देख घूरते थे और एक ही फुंकार में उसे उड़ाकर दूर फेंक देते थे। वह धूल-धूसरित एवं क्षत-विक्षत हो तड़पने लगता और वे सब आमोदित हो, उत्फुल्ल मन से नाचने लगते। इतना कष्ट सहकर भी वह आकाश को लौटकर नहीं जाना चाहता था—जा भी नहीं सकता था। कारण, उसमें 'वासना' निहित थी !

(२)

दैववशात् एक दिन उस वन में मूसलधार वृष्टि हुई। प्रलयकाल की सूचना देनेवाले जल की एक बड़ी-सी बाढ़ ने उस वन को प्लावित कर दिया। उसमें एक कोमलाङ्गी राजकुमारी बहती हुई दिखलाई दी। जल भीषण गर्जन करता हुआ ऊपर आने लगा। भयविह्वल राजकुमारी ने और कोई अवलम्ब न देख प्राण-रक्षा के लिये एक वृक्ष की डाली पकड़ ली। पुष्प उसके पास ही था। ज्यों ही उसकी दृष्टि पुष्प पर पड़ी, त्यों ही वह उपस्थित प्राण-संकट को भूल-सी गई। उसने उत्कंठित हो पुष्प की ओर अपने दोनों हाथ बढ़ा दिए। किंतु इतने ही में जल की एक उत्ताल तरंग ने पुष्प को उठा पर्वतशिखर पर रख दिया। राजकुमारी के हाथ फैले ही रह गए। उसने जिस डाली को अवलंब मानकर पकड़ा था, वह भी जलमग्न हो न जाने कहाँ चली गई। उसने पीछे लौटकर देखा, किंतु वहाँ जल के सिवा कुछ न था, उसे अपनी मूर्खता पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। किंतु उपाय ही क्या था ! "दुविधा में दोऊ गए माया मिली न राम" की कहावत चरितार्थ हो उठी। वह निरवलंब हो उसी असहायावस्था में पड़ी 'पुष्प-पुष्प' कहकर चिल्लाने लगी। किंतु वहाँ कोई न था।

(३)

धीरे-धीरे जल घटने लगा। राजकुमारी भी स्वस्थ हो धारा को चीरती हुई धीरे-धीरे पर्वत के किनारे जा लगी। वर्षा बंद हुई। आग के गोले की नाईं पूर्वाचल से निकलकर भगवान् भास्कर ने संसार पर अपनी प्रखर किरणें फैला दीं। राजकुमारी ने चमकती हुई बालू पर बैठकर अपने भीगे वस्त्र सुखाए। सिर का जूड़ा खोलकर लटें फैला दीं। सूर्य के प्रकाश में वे स्वर्ण की नाईं चमकने लगीं। वायु ने प्रेम से उनका चुम्बन किया और 'फर-फर' शब्द करती हुई उन पर से आनंद-पूर्वक बहने लगी। पक्षियों ने उसे देख कलरव प्रारंभ किया और वृक्षों ने झुक-झुककर स्वागत किया। किंतु इनकी ओर उसका कुछ भी ध्यान न था। वह टक लगाए पर्वत की ओर देख रही थी। अचानक एक पदार्थ पर उसकी दृष्टि पड़कर अटक गई। वह उसका ध्येय एकमात्र वांछित पदार्थ—वही पुष्प था। पुष्प ने भी उसे देखा। दोनों मिलन-लालसा से व्याकुल हो उठे। किंतु न तो पुष्प ही में इतनी शक्ति थी कि उड़कर राजकुमारी के पास आ जाता, न राजकुमारी ही में इतनी शक्ति थी कि पर्वत पर चढ़कर पुष्प से लिपट जाती। निदान वह वहीं पर्वत के किनारे बैठ उसकी आराधना करने लगी। पुष्प की आशा ने उसे संसार-चिंता-शून्य कर दिया ! वर्षों बीत गए। शरीर सूखकर काँटा हो गया। रूपलावण्य एवं यौवनोन्माद उसे छोड़कर चल दिए। किंतु पुष्प की आशा नहीं गई। वह दिन-दूनी होती गई। वही आशा उसके प्राणों की यंत्रिका—जीवन की एकमात्र सहचरी थी। वही दुर्लभ स्वर्गीय वस्तु असार संसार की सत्यता थी। उसी में उसे पूर्ण संतोष की झलक दिखलाई दी। उसी को लेकर वह परम प्रसन्न थी। उसी के कारण वह उस बीहड़ वन को राजमहल से भी अधिक सौख्यपूर्ण समझती थी। उस पर्वत के आगे उसे संसार के बड़े-से-बड़े

और उच्च-से-उच्च राज्यसिंहासन तुच्छ प्रतीत होते थे। उसे उनकी किंचित् आकांक्षा नहीं थी।

(४)

राजकुमारी नित्य निर्मल स्रोत में स्नान कर फूलों की माला गूँथती और उन्हें पुष्प के लिये यत्न से रखती जाती थी। वह झरनों के झरझर शब्द के साथ पुष्प के लिये मधुर गीत गाती थी और रात्रि की चटक चाँदनी में उसकी कमनीय कांति देख मुग्ध हो उस पर तन-मन न्योछावर कर देती थी। वह मन-ही-मन कहती थी—यदि परमात्मा ने उसे पक्षी बनाया होता, तो वह उड़कर पुष्प पर—प्रियतम पुष्प पर—जा पड़ती। यही सोचकर वह बार-बार मानव-जीवन को धिक्कारती और भगवान् से यही याचना करती थी कि दूसरे जन्म में उसे पक्षी की ही योनि मिले! करुणा-वरुणालय जगदीश्वर ने उसकी पुकार सुन ली। एक दिन फिर वैसी ही मूसलधार जल-वृष्टि प्रारंभ हुई। बाढ़ के साथ-साथ राजकुमारी ऊपर चढ़ने लगी। वह शीघ्र ही पुष्प के निकट पहुँच गई। उसने एक बार चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। सब जगह जल-ही-जल दिखलाई दिया। अन्य कोई उपाय न देख उसने पुष्प को हाथ में ले लिया। धीरे-धीरे जल राजकुमारी के चरणों का स्पर्श कर ऊपर चढ़ने लगा। राजकुमारी को डूबते देख पुष्प निकलने के लिये छटपटाने लगा। राजकुमारी ने यह कह-कर कि "रे कायर! अब कहाँ जा सकता है, मरना है, तो मेरे साथ मर, जीना है तो मेरे साथ जी" मुट्ठी बाँध ली। पुष्प की सारी पँखुरियाँ टूट गईं। शरीर क्षत-विक्षत हो गया। उसने निष्कृति पाने की आशा से एक बार ऊपर आकाश की ओर देखा। उत्तर मिला—"वह संसार है, स्वर्ग नहीं। जो पदार्थ अनित्य है, उसमें इससे अधिक और मिल ही क्या सकता है?"

आत्माराम देवकर

× × ×

३. भीख

मैं आया—सोचा था—उर की जलती आग बुझाऊँगा;
दिल की व्यथा, हृदय का क्रंदन, तुमको आज सुनाऊँगा।
हृदय-पटल को अश्रु-सलिल से स्वच्छ बनाकर लाऊँगा;
तेरी सौम्य-मूर्ति उस पर ही, अंकित कर सुख पाऊँगा।
धुँधली आँखों से तुमको पहले जो देखा करता था;
निरख-निरखकर, परख-परखकर मूक बना मैं रहता था।
इस वियोग में इन आँखों को धोया ख़ूब विचारा था—
इन दोनों सुस्वच्छ पात्र से रूपसुधा को पीऊँगा।
पर हा! कहाँ छिपी हो कलिके! हृदय चूर क्यों करती हो?
अंतरपट से चित्रांकित यह—रम्य मूर्ति क्यों हरती हो?
अगर न तुम आती मुझको ही ज़रा पास आ जाने दे!
हाय! हृदय को वेग तोड़ मत अपनी हविस मिटाने दे!
मत रोना मेरे दुख पर तू हँसती ही रहना दिन-रात;
व्यथित हृदय की—करुण रुदन में—कह तो लेने दो दो बात!
नहीं चाहता हृदयरत्न तव—प्रेम नहीं मैं चाहूँगा;
विरही हूँ मैं विरह-राग को पल-पल निशिदिन गाऊँगा।
हृदय व्यथित हो तड़प-तड़पकर रहता—हाय! हुआ निरुपाय!
सुमनकली ऐ! अधिक नहीं तो झाँकी भी दिखला जा हाय!

यदुनंदनप्रसाद "नवल"

× × ×

४. स्वार्थ

भूखे, टूटे, सर्दी खाए,
पीड़ित जब नज़रों में आए,
प्रबल वेदना का झोंका जब लगा हृदय में आन,
अलापी उसने अपनी तान। १।
बनाया आहों ने तब सर्द;
दया ने किया हृदय में दर्द।
उसी दर्द के दलने को हम करते यत्न अनेक।
छोड़कर अपनी सबकी टेक। २।
कहो तब कहाँ हुआ उपकार?
स्वार्थ सम्मुख दिखता साकार।
इसे खुले शब्दों में कहते हैं हम, स्वार्थ महान्;
न जिसका होता है अवसान। ३।

"सम्राट्"

× × ×

५. मासिक पत्रों का राजा

यंग ईस्ट (Young East)-नामक मासिक पत्र में मि० सियजी नोमा (Mr. Seiji Noma) नाम के एक जापानी का जीवन-वृत्तांत प्रकाशित हुआ है, जो जापान की जनता में "Magazine King" अर्थात् मासिक पत्रों के राजा के नाम से विख्यात हैं। आपके जीवन-वृत्तांत से आपकी असाधारण कार्यकुशलता एवं जापानी जनता के समाचारपत्रप्रेम का जो परिचय मिलता है, वह भारतीय पाठकों के लिये विशेष शिक्षाप्रद होने के कारण उसका सारांश यहाँ प्रकाशित किया जाता है।

आज से बीस वर्ष पूर्व मि० सियजी नोमा जापान की एक प्रांतीय पाठशाला के एक स्वल्पवेतनभोगी शिक्षक के सिवा और कुछ भी नहीं थे। किंतु वही व्यक्ति आज एक लखपती होने के सिवा स्वेज़नहर के पूर्व के भूभाग का सबसे बड़ा पुस्तक एवं मासिक पत्र-प्रकाशक गिना जाता है। उनके द्वारा प्रकाशित विभिन्न पुस्तकों की संख्या देखने से वह कल्पनातीत जान पड़ती है। असंख्य पुस्तकों के प्रकाशक होने के अतिरिक्त आप नौ बड़े-बड़े मासिक पत्रों के अध्यक्ष हैं। इन मासिक पत्रों में "किंग" ("King")-नामक एक पत्र के १५ लाख ग्राहक हैं। इसके सिवा आपके और दूसरे-दूसरे पत्रों में से भी किसी के ग्राहक १ लाख से कम नहीं है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि आपके मासिक पत्रों के पाठकों की संख्या एक करोड़ से अधिक है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि प्रत्येक पाँच जापानी में एक आपके मासिक पत्रों का पाठक है।

अच्छा, अब आपकी इस अद्भुत सफलता का कारण क्या है, सो सुनिए। पाठक समझेंगे कि मि० नोमा ने कोई बड़ी भारी पूँजी लगाकर यह व्यवसाय शुरू किया था। किंतु बात ऐसी नहीं है। पूँजी तो आपके पास नाम-मात्र की भी नहीं थी। यदि हम यह कहें कि उपयुक्त अवसर से लाभ उठाकर सर्वसाधारण की रुचि के अनुकूल कार्य करने की असाधारण क्षमता मि० नोमा में वर्तमान थी, तो यह बात भी ठीक नहीं जँचती; कारण, उनमें ऐसी कोई असाधारण योग्यता नहीं पाई जाती। असल बात तो यह है कि जब से मि० नोमा ने अपना यह व्यवसाय प्रारंभ किया है, तब से आप बराबर सचाई एवं उत्साह के साथ परिश्रमपूर्वक कार्य कर रहे हैं। आपका यह विराट् व्यवसाय इसी अनवरत उद्योग के ऊपर निर्मित हुआ है। इसके निर्माण का और कोई दूसरा कारण नहीं है। मि० नोमा आज नौ बड़े-बड़े मासिक पत्रों के अध्यक्ष-रूप में उस गौरवरूप पद को प्राप्त हुए हैं, जिसे देखकर दूसरे लोगों के हृदय में ईर्ष्या उत्पन्न होती है। किंतु इतने बड़े धनाढ्य होने पर भी आप एक दिन भी आलस्य में नहीं व्यतीत करते। प्रातःकाल से लेकर संध्याकालपर्यंत आप अमानुषीय शक्ति के साथ कार्य करते रहते हैं। आपके दैनिक कार्यक्रम में भोगविलास एवं विश्राम के लिये कोई स्थान ही नहीं है। सभी समय में एकमात्र इसी समस्या पर आपका समस्त ध्यान लगा रहता है कि आपके मासिक पत्रों का प्रत्येक अंक उनके पिछले अंकों से किस प्रकार सुंदर प्रकाशित हो सके। कभी एक सफल संपादक के रूप में, कभी एक सुयोग्य लेखक के रूप में, कभी एक कुशल व्यवसायी के रूप में और कभी एक निपुण विज्ञापक के रूप में आप देख पड़ते हैं। आप दिन-भर में इतना काम कर लेते हैं, जितना पाँच या दस मनुष्य कर सकते हैं। आपके दृष्टांत से उत्साहित होकर आपके

अधोन काम करनेवाले कर्मचारीगण भी बड़े उत्साह एवं परिश्रम से आनंदपूर्वक काम किया करते हैं।

आपके मासिक पत्रों का प्रत्येक पृष्ठ आपके व्यक्तित्व, आपके विचार एवं भावों का द्योतक है। आप इस बात को कभी नहीं भूलते कि आपके व्यावहारिक जीवन का आरंभ एक शिक्षक के रूप में हुआ था। अतएव आपकी यह सदैव इच्छा बनी रहती है कि आप अपना समस्त जीवन एक शिक्षक के रूप में ही समाज की सेवा करते हुए व्यतीत करें। यह कहना कुछ अत्युक्ति नहीं कि वर्तमान काल में आप जापान के सर्वश्रेष्ठ लोकप्रिय शिक्षकों एवं आध्यात्मिक नेताओं में से एक अन्यतम हैं। आपके द्वारा प्रकाशित मासिक पत्रों में एक स्त्रियों के लिये, एक बालक-बालिकाओं के लिये, एक छोटे-छोटे बच्चों के लिये, एक और दूसरा केवल विशुद्ध मनोरंजन के लिये तथा और दूसरे दूसरे विषयों से संबंध रखनेवाले हैं। किंतु इन सबमें एक अनूठा मासिक पत्र "Xuben" अर्थात् वक्तृत्वशक्ति-नामक है, जो अपने ढंग का एक ही है और जिसके लिये मि० नोमा को विशेष अभिमान है। वक्तृत्वकला के संबंध में अनेक पुस्तकें पाई जाती हैं, किंतु जापान को छोड़कर संसार में कोई भी दूसरा देश नहीं है, जहाँ एकमात्र इसी विषय को लेकर कोई पत्र प्रकाशित होता हो। मि० नोमा का यह सबसे प्यारा मासिक पत्र है—सिर्फ़ इसलिये नहीं कि यह बेजोड़ है, बल्कि विशेषतः इस कारण से कि इसी पत्र की बदौलत आप मासिक पत्रों के प्रकाशक के रूप में दृढ़तापूर्वक क़दम बढ़ाने में समर्थ हुए हैं।

जगन्नाथप्रसाद मिश्र

× × ×

६. मैं और वे

दूर होके मुझसे वे पाते हैं न चैन कभी,
ध्यान उन्हें प्रतिपल मेरा बना रहता।
होकर अकेले सुख मिलता मुझे भी नहीं,
आँखों में समाया उनका ही रूप रहता।
छाए रहते हैं घन आशा के हृदय पर,
मानस में मेरे भावसिंधु है लहरता।
दोनों ओर अब तो गई है लग प्रेम-आग,
देखें कौन बुझता है और कौन जलता।

केदारनाथ अग्रवाल "बालेंदु"

× × ×

७. भारतीय चित्रकला

(१)

कला की उन्नति सभ्यता का एक प्रधान संकेत है। भिन्न-भिन्न कलाओं तथा विज्ञानों के सम्मिश्रण से ही सभ्यता की सृष्टि हुई है और उन्हीं के निरंतर प्रसार से इसकी श्रीवृद्धि होती है। मानव-हृदय की गूढ़तम प्रवृत्तियों एवं चेष्टाओं को विशद रूप देना ललित कला का मुख्य कार्य है। कलाओं के विकास से मनुष्य की प्रकृति-कल्पना तथा कार्य में सूक्ष्मता के संग श्रेष्ठता की मात्रा बढ़ती है, और इससे मनुष्य भावुक एवं कर्मशील बन सकता है। देखा भी जाता है कि असभ्य पुरुष की बुद्धि विमल एवं सूक्ष्म नहीं होती; परंतु सभ्यता के प्रकाश से मनुष्य अपने भावों का क्षेत्र बढ़ा सकता है और वह अपने विचार में ऐसी सूक्ष्मता प्रदर्शित कर सकता है, जो एक असभ्य के लिये सर्वथा असंभव है। पर्यायवाचक शब्द इस सिद्धांत की पुष्टि करते हैं। कोमल-पेलव-स्निग्ध-मसृण इत्यादि शब्दों में जो सूक्ष्म विभेद है, उसका समझना सभ्य पुरुष के लिये सहज है; परंतु असभ्य मनुष्य तो केवल कोमलता समझता है। कोमलता के भी भेद एवं मात्रा हो सकती हैं, इसका ज्ञान उसकी बुद्धि के बहिर्गत है। तात्पर्य यह है कि कलाओं की उन्नति से मनुष्य के कार्य तथा विचार-प्रणाली में विभिन्नता एवं विचित्रता आती है और इसके द्वारा उसका जीवन अतिशय गहन तथा सरस बन जाता है।

कला एक बड़ा व्यापक शब्द है। स्थान एवं प्रकरण के साहाय्य से इसकी द्योतकता निर्णीत होती है। महामति टालस्टाय का मत है—

"Art is a means of union among men, joining them in the same feelings."

अर्थात् "समान भावों में संलग्न कर कला मानव-जाति को संयुक्त करती है"। ध्यान देने से ज्ञात होता है कि यह सिद्धांत सर्वथा निर्दोष है। यदि पाँच मनुष्य एक उत्तम तैल-चित्र की ओर देखें, तो चित्र के विषय के अनुसार उनके हृदय में समान भाव उत्पन्न होंगे। संभव है, व्यक्तिगत विकास के अनुसार उनके भावों की सूक्ष्मता में तनिक भेद हो; परंतु वस्तुमात्र की कल्पना में विभिन्नता असंभव है। यही कारण है कि असंख्य वर्षों से एक ही सभ्यता, आचार-व्यवहार एवं विचार-पद्धति में रहकर एक जाति अपनी व्यक्तिगत विशेषता धारण करती है और इसी के द्वारा वह अन्य जातियों से विभक्त की जा सकती है।

कला के अंतर्गत चित्र-रचना का स्थान अत्युच्च है—उत्कृष्ट आलेख्य अपना प्रभाव मानव-हृदय के अंतस्तल तक शीघ्र पहुँचाता है और मनुष्य इससे ख़ूब लाभ उठा सकता है। रेखा, रंग एवं छाया के द्वारा चतुर चित्रकार मनुष्य के प्रायः संपूर्ण भावों, चेष्टाओं तथा आकृतियों का चित्रण कर अपनी रचना को सजीव बना डालता है और उससे अस्वाभाविकता का बहिष्करण ही कला की चरम सीमा है। कवि अपनी गूढ़मयी वाणी से मनुष्य की आत्मा को प्रभावान्वित करता है, परंतु चित्रकार अपनी वर्णिका तथा वर्तिका की सहायता ले चक्षु-मार्ग से मानव-हृदय पर अधिकार स्थापित करता है। एक सिद्धहस्त चित्रकार का कथन है—

"A good painter has two chief objects to paint, viz (a) man, and (b) the intention of the soul. The first is easy and the second difficult, because he has to represent it through the altitude and movements of his limbs."

अर्थात् उत्तम चित्रकार के लिये दो प्रधान वस्तुओं का चित्रण आवश्यक है—(१) मनुष्य और (२) उसकी आत्मा की आकांक्षा। प्रथम का चित्रण तो सहज है, परंतु द्वितीय का कठिन है; क्योंकि अवयवों के परिचालन एवं उत्क्षेप के द्वारा उसका प्रदर्शन करना पड़ता है। पाठकों के मनोरंजनार्थ इन्हीं विचारों की सहायता से हम भारतीय चित्रकला की विशेषताओं पर दृष्टिपात कर उसकी श्रेष्ठता की परीक्षा करेंगे।

संस्कृत-ग्रंथों के अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीन आर्य कला को विशेष आदर की दृष्टि से देखते थे और वे उसकी उन्नति भी करते थे। इन पुस्तकों में "चतुःषष्टि-कला" का वर्णन मिलता है और कहावत है कि भगवान् कृष्णचंद्र इन चौसठ कलाओं में प्रवीण थे। अवसादग्रस्त भारत से यह प्रथा क्रमशः अंतर्हित हो गई। शोक है कि आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था में एक भी कला के विकास का अवसर प्राप्त नहीं है। यदि भारत-चित्र की मूल-प्रकृति के विषय में हमारी धारणा स्पष्ट न हो, तो केवल भारतवर्ष में

रहकर अथवा भारतवर्षीय विषय का अवलंबन कर चित्रचर्चा करने से भारत-चित्र नहीं होगा—भारत-चित्र के प्रकृतिगत अनन्य साधारण विशिष्ट लक्षण ही इसके प्रकृत मानदंड हैं। भारत में यह कथा प्रसिद्ध है—

"यथा सुमेरुः प्रवरो नगानां, यथाण्डजानां गरुडः प्रधानः।
यथा नराणां प्रवरः क्षितीशस्तथा कलानामिह चित्रकल्पः॥

अर्थात् जैसे पर्वतमालाओं में सुमेरु सर्वलोक वरेण्य, अण्डजात जीवगण के बीच गरुड़ सर्वप्रधान तथा मनुष्य-जाति के बीच राजा सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार कलासमूह के मध्य चित्रकला सर्वमान्य है।

इस श्लोक के पाठ से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतवर्ष में चित्र-कला ने अत्यधिक गौरव एवं आदर प्राप्त किया था। उस समय जो वस्तुएँ थीं, वे अब प्राप्य नहीं; अभी तक जो कुछ शेष है, वह अजंतागुहा की चित्रावली है। परंतु वहाँ भी जो कुछ अवशिष्ट है, वह प्रकृत चित्र नहीं। केवल चित्राभास है। चित्र-संसार के मध्य ये प्राचीन भारत-चित्र के असम्यक् निदर्शन हैं। ये (चित्र) तो केवल साहित्य-दर्पण के "दोष-परिच्छेद" के अनायास-लभ्य उदाहरणस्वरूप हैं। हमारा विश्वास है कि ये चित्र विलासव्यसनमुक्त, योगयुक्त, अनासक्त संन्यासी-संप्रदाय के निभृत-निवास के केवल भित्ति-विलेपन हैं; विचक्षण चित्रसमालोचक के निकट भक्ति भारावनत नमस्कार के योग्य होने पर भी ये भारत-चित्रोचित-प्रशंसा के अनुपयुक्त हैं। ये सब इस कला में एक श्रेणी के साधारण कर्म हैं और इनका प्रधान प्रयोजन अलंकरण है। इन चित्रों के दर्शन से जो कुछ चित्रगुण का परिचय प्राप्त होता है, वह पूर्णतः अयत्न-संभूत, आकस्मिक तथा अलौकिक है। किसी समय भारत में सभी घरों के लिये ऐसे भित्तिचित्र की व्यवस्था थी। किस प्रकार के घर में किस श्रेणी का चित्र अंकित किया जायगा, इसके लिये भी निर्दिष्ट नियम थे। इन भित्ति-चित्रों में कोई भी चित्र सौंदर्य की परा काष्ठा की आशा नहीं करता था; क्योंकि प्रतिमा के अनिंद्य निदर्शन के निमित्त भित्ति-स्थल उपयुक्त गण्य नहीं होता था।

स्थानं प्रमाणं भूलम्भो मधुरत्वं विभक्तता।
सादृश्यं क्षयवृद्धी च गुणाष्टकमिदं स्मृतम्॥
स्थानहीनं गतरसं शून्यदृष्टिमलीमसम्।
चेतनारहितं वा स्यात्तदशस्तं प्रकीर्तितम्॥

उस समय "स्थान, प्रमाण, भूलम्भ, माधुर्य, विभक्तता, सादृश्य, क्षय एवं वृद्धि, पारिभाषिक संज्ञानुसार चित्र के प्रधान गुण माने जाते थे। स्थानदोष, रसदोष तथा चित्रदोष विकार के कारण निंद्य थे। इन सब चित्रगुणों एवं चित्रदोषों के यथार्थ परीक्षक के निकट अजंतागुहा की चित्रावली भारत-चित्र के मध्य सर्वांग-सुंदर कहकर मर्यादा पाने में सर्वथा असमर्थ है। जिन लोगों की अध्यक्षता में ये भित्ति-चित्र अंकित किए गए थे, वे लोग पुरातन भारत में 'चित्रवित्' के नाम से गण्य नहीं हो सकते थे; वे नमस्कार के योग्य तो अवश्य थे, किंतु चित्र के हेतु नहीं वरन् चरित्र के कारण। उन साधुओं के भित्ति-चित्र प्रशंसा के योग्य हैं, परंतु उनमें कला-लालित्य नहीं, केवल विषय-माहात्म्य-मात्र है।

हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने चित्रकारों को यथार्थतः समझने की पूर्ण चेष्टा की थी। वायु-संचरण से जल में तरंगें उठती हैं—प्रज्वलित हो अग्नि शिखा विकास करती है—धूम गगनमंडल में आरोहण करता है—पताका आकाश में वायुवेग से अंग-विस्तार करती है—सिद्धहस्त चित्रकार ही इन सब गतिभंगियों को यथार्थ रूप में चित्रित कर सकते हैं। सुप्तावस्था में मनुष्य के प्राण-स्पंदन की चेतना लुप्त नहीं होती, मृत्यु के पश्चात् ही उसका नाश होता है; शरीर के संपूर्ण अंश समान नहीं हैं। कोई अंग उन्नत है और कोई अंग अवनत—जो लोग इस सब पार्थक्य को प्रकट कर स्वाभाविक चित्र अंकित कर सकते हैं, वे ही यथार्थ चित्रवित् हैं। यथा—

तरङ्गाग्निशिखाधूमं वैजयन्त्यम्बरादिकम्।
वायुगत्या लिखेद्यस्तु विज्ञेयः स तु चित्रवित्॥
सुप्तञ्च चेतनायुक्तं मृतं चैतन्यवर्जितम्।
निम्नोन्नतविभागं च यः करोति स चित्रवित्॥

उपर्युक्त श्लोक से ज्ञात होता है कि केवल आकारांकण में सिद्धहस्त होने से ही कोई चित्रवित् कहलाकर मर्यादा नहीं पा सकता है। प्राणहीन पदार्थ की गतिभंगी का चित्रण अपेक्षाकृत सहज है, परंतु सजीव की स्थितिभंगी को अंकित करना अतिशय दुष्कर है; क्योंकि इसमें चेतना-व्यंजक शिल्प-कौशल की अत्यंत आवश्यकता है। इसी चेतना के साहाय्य से प्राणरहित वस्तु एवं

प्राणमय जीव के मध्य पार्थक्य प्रदर्शित किया जा सकता है। ऐसे चित्र को इस प्रकार से बनाना चाहिए कि दर्शनमात्र से ही प्रकट हो जाय कि श्वास-प्रश्वास स्वाभाविक रूप से प्रवाहित हो रहे हैं और यही आलेख्य वस्तुतः चित्र के शुभ लक्षणों से संयुक्त भी होता है। चित्रशास्त्र में कहा है—'सश्वास इव यच्चित्रं तच्चित्रं शुभलक्षणम्' अर्थात् श्वासयुक्त चित्र अपने शुभगुणों से अलंकृत होता है।

भारत-चित्र के अनेकों विभाग प्रचलित हैं अर्थात् विषय-भेद, पद्धति-भेद, प्रयोजन-भेद इत्यादि। हमारे प्राचीन साहित्य में चित्र के लिये मुख्य प्रतिशब्द 'आलेख्य' मिलता है और इसका प्रधान विषय नायक-नायिका का चित्रण है। महामति वात्स्यायन के द्वारा यह प्रकरण पूर्णतः प्रतिपादित हुआ था—इस विषय को विशद करने के लिये टीकाकार यशोधर ने एक कारिका संपूर्णतः उद्धृत की है अर्थात्—

रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभङ्ग इति चित्रं षडङ्गकम्॥

यथार्थतः भारत-चित्र के ६ अंग होते हैं। सुतरां जिस चित्र में ये षडङ्ग वर्तमान न हों, वह आलेख्य अंगहीन केवल चित्राभास है।

प्रथम अंग—रूपभेद

रूप के भेद—साधन के अंतर्गत वस्तुतः रूप क्या है, इस विषय का ज्ञान नितांत आवश्यक है। प्रथमतः रूप की एक पारिभाषिक संज्ञा होती है। इसमें सौंदर्य का यथार्थ विवरण होता है। हमारा प्रत्येक अंग एक-एक रूप का विशेष आधार माना जाता है। चित्र-विज्ञान में एक रूप से अन्य रूप की विभिन्नता के दर्शन का नाम रूप-भेद है और यह चित्रगुण के विवरण में 'विभक्तता' के नाम से प्रसिद्ध है—साधारणतः लोग इसको 'रेखा-विन्यास' भी कहते हैं। रेखा-विन्यास से रूप-भेद की पद्धति तो ज्ञात होती है, किंतु इसकी सहायता से रूप का यथार्थ आशय व्यक्त नहीं होता। अलंकार-हीन होकर भी जिस शक्ति के प्रभाव से अंग-प्रत्यंग भूषित जान पड़े, उसी का नाम 'रूप' है। यथा—

अङ्गान्यभूषितान्येव केनचिद्भूषणादिना।
येन भूषितवद्भाति तद्रूपमिति कथ्यते॥

अलंकृत पदार्थ तो रूपमय नहीं है, वह तो सर्वथा अरूप है। विशुद्ध रूप अंग-प्रत्यंग की सहायता से स्वयं ही व्यक्त हो जाता है और वह मन को बलात् आकृष्ट कर लेने में समर्थ होता है। रूप वस्तुतः अनुभव करने के योग्य तथा अतींद्रिय है। वह तो आत्मोत्कर्ष से ही दृष्टिगम्य हो सकता है। भारतीय चित्रविद्या का मत है कि इस रूप के प्रदर्शन के लिये साधारण रेखा वस्तुतः रेखा नहीं है, रूप-रेखा ही रूप की पुष्टि करती है। रूप-रेखा जितनी ही विशुद्ध एवं स्वाभाविक होगी, चित्र उतना ही उत्कृष्ट एवं सुंदर होगा। चित्र के विविध प्रकार की अभिव्यक्ति से भिन्न-भिन्न रुचियुक्त मनुष्यों का मनोविनोद होता है, परंतु सभी में रूप केंद्र-स्थल है। आचार्यगण 'रेखा' की प्रशंसा करते, विचक्षणगण आलोक तथा छाया का गुण गाते, प्रदर्शकगण 'वर्तना' की स्तुति करते, रमणीगण भूषण-विन्यास के प्रति अनुरागी होते तथा अन्य साधारण पुरुष 'वर्णाढ्यता' के ही पक्षपाती होते हैं। कहावत है—

रेखां प्रशंसन्त्याचार्या वर्तनां च विचक्षणाः।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनाः॥

चित्र में प्रथम रूप-भेद की रचना अत्यावश्यक है। शिल्प-शास्त्र में इसकी पूर्ण विधि का उल्लेख मिलता है। प्रथम 'अनुलोम' तथा द्वितीय 'प्रतिलोम'-नामक दो प्रणाली हैं। मस्तक के चतुर्दिक् रेखा-विन्यास का नाम 'अनुलोम-पद्धति' है तथा चरणयुगल से रेखा के निर्माण का नाम 'प्रतिलोम-प्रणाली है। यही कारण है कि देव-मूर्ति के चित्रण में 'अनुलोम-पद्धति' का आश्रय अतिशय श्रेयस्कर माना जाता है। रूप-भेद में शरीर के संपूर्ण अवयवों का प्रदर्शन उचित नहीं है; क्योंकि सब अंग रूप के आधार नहीं होते हैं। रूप के आधार सभी अंगों को पृथक्-पृथक् भाव में प्रदर्शित करना चाहिए, नहीं तो 'चित्रदोष' की उत्पत्ति होती है। अविभक्तता ही इस सुपरिचित चित्रदोष की एक संज्ञा है। यही कारण है कि भारतीय चित्रों में कोई अंग तो अणुमात्र ही व्यक्त होता है तथा अन्य अंग सुनिर्दिष्ट रेखाविन्यास के द्वारा सुचारु भाव से विभक्त देख पड़ते हैं। भारतीय चित्रों में इस रूपभेद की सामान्य रीति की अनभिज्ञता के कारण पाश्चात्य देशों के कुछ ग्रंथकारों ने भारत-चित्र को 'रेखात्मक' कहकर गर्हित माना है; परंतु भारत-चित्र वस्तुतः रेखात्मक नहीं, वरन् रूपात्मक है।

द्वितीय अंग—प्रमाण

ताल-हीन संगीत की नाईं मानहीन चित्र भी रसबोध कराने में सर्वथा असमर्थ होते हैं। अंग-प्रत्यंग के मध्य एक परिमाण-पार्थक्य का वर्तमान रहना अत्युत्तम है। दैर्घ्य-विस्तार और वेध दोनों सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव से अंग-प्रत्यंग की स्थिति के सामंजस्य की रक्षा कर गति-विधान की सहायता करते हैं और यह रेखाविन्यास को सुसंयत कर चित्र-सौंदर्य को विकसित करता है। यह कोई अनावश्यक शासन-शृंखला नहीं और चित्र के निर्माण में इसकी अवहेलना का स्थान नहीं है। केवल एक स्थान में इसका व्यतिक्रम हुआ है और वह हास्यरस की अवतारणा में अभिव्यक्त किया जाता है। किंतु उस स्थान में भी साधारण परिमाण में व्यतिक्रम होने पर रसानुगत परिमाण सर्वथा अनतिक्रमणीय है। सीमा को सुनिर्दिष्ट कर चित्र को सुसंगत बनाना ही 'प्रमाण' का प्रधान कार्य है। शिल्प में इसके द्वारा स्वेच्छाचार की मात्रा कम हो जाती है, किंतु इससे प्रतिभा-प्रकाशन में उच्छृंखलता भी नहीं होने पाती है।

तृतीय अंग—भाव

भाव वस्तुतः अशारीरिक चित्त-वृत्ति है। यह तो विभावजनित शरीरेन्द्रिय वर्ग की विकार-विधायक चित्त-स्थिति है।

शरीरेन्द्रियवर्गस्य विकाराणां विधायकाः।
भावा विभावजनिताश्चित्तवृत्तय ईरिताः॥

भिन्न-भिन्न भावों की शक्ति से शरीरेन्द्रिय वर्ग में पृथक्-पृथक् विकार का जन्म होता है। अतएव मानव-चित्तवृत्ति रस का अनुगमन करती है और उसी के अनुकूल भाव नियमित रहता है—हम नेत्र के आकार-पार्थक्य की सहायता से इसका शीघ्र परिचय पा सकते हैं।

चापाकारं भवेन्नेत्रं मत्स्योदरमथापि वा।
नेत्रमुत्पलपत्राभं पद्मपत्रनिभं तथा॥
शशाकृतिर्महाराज पञ्चमं परिकीर्तितम्।

नेत्र के आकार पाँच श्रेणियों में विभक्त किए गए हैं अर्थात् (क) चापाकार (ख) मत्स्योदर (ग) उत्पलपत्राभ (घ) पद्मपत्रनिभ (ङ) शशाकृति। चापाकार का यथार्थतः भाव धनुराकृति अतएव वक्ररेखा तुल्य है। शरीर एक सुपरिचित शरीरेन्द्रिय है। किसी निर्दिष्ट भाव के प्रभाव से शरीर में विकार देख पड़ता है और इसी के अनुसार उसके आकार में विशेष परिवर्तन होता है। यही कारण है कि सब अवस्थाओं में सभी स्त्री-पुरुषों के नेत्र का आकार एक समान नहीं हो सकता है। चित्र सूत्रोक्त पाँच प्रकार की आँखों में पाँच भिन्न-भिन्न लक्षण के आकार दृष्टिगोचर होते हैं और भिन्न-भिन्न भावों के प्रभाव से इन सब आकारों में पार्थक्य उत्पन्न होता है; यथा—

चापाकारं भवेन्नेत्रं योगभूमिनिरीक्षणात्॥
मत्स्योदराकृतिः कार्य्या नारीणां कामिनां तथा।
नेत्रमुत्पलपत्राभं निर्विकारस्य शस्यते॥
त्रस्तस्य रुदतश्चैव पद्मपत्रनिभं भवेत्।
क्रुद्धस्य वेदनान्तस्य नेत्रं शशाकृतिर्भवेत्॥

योगभूमि के निरीक्षण से नेत्र की आकृति धनुष की नाईं हो जाती है—कामुक एवं विलासिनी रमणी के नेत्र मत्स्योदराकृति के होते हैं, निर्विकार चित्तयुक्त पुरुष के लोचन उत्पलदल के समान होते हैं, त्रस्त अथवा रुद्यमान् मनुष्य के चक्षु पद्मपत्र के सदृश और क्रुद्ध अथवा क्लिष्ट मनुष्य के नयन शशाकृतितुल्य होते हैं। शरीरेन्द्रियवर्ग में एक प्रकार की विकार-विधायक चित्तवृत्ति का नाम 'भाव' है। चित्र में इस भाव का त्याग नहीं हो सकता है। इसके अभाव से चित्रदोष की संभावना है।

चतुर्थ अंग—लावण्य

यह एक प्रकार का औज्ज्वल्य-साधन है और यह लावण्य-शब्द के व्यवहार से स्पष्टरूप में प्रकट होता है। जैसे मुक्ता के चारों ओर से एक तरंगायमान् प्रभा निकलती है, उसी प्रकार अंग-प्रत्यंग से प्रस्फुटित तरंगायमान् द्युति का नाम 'लावण्य-योजन' है—यह लावण्य केवल एक पारिभाषिक शब्द है; यथा—

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु लावण्यं तदिहोच्यते॥

सभी स्त्री-पुरुष के संपूर्ण अंग-प्रत्यंग से अल्पाधिक मात्रा में एक तरंगायमान् आलोक झलकता हुआ देख पड़ता है—यह प्रभा जीवित मनुष्य को मृतक से विभिन्न दिखलाती है। जिस शिल्प-कौशल से यह द्युति प्रकाशित की जाती है, उसका नाम 'लावण्य-योजन' है। इसमें तरलता एक प्रधान गुण है, वस्तुतः यह छाया अर्थात् कांति की तरलता है। टीकाकारगणों ने इसे तरंगायमान् कहकर व्याख्या की है। लावण्य अंग-प्रत्यंग के

ऊपर तरंग की नाईं उठकर विलुप्त हो जाता है। सुतराम् उसमें केवल औज्ज्वल्य ही नहीं है, किंतु यह चलोर्मिवत् चलनोन्मुख है। इसी लावण्य के साहाय्य से चित्र निर्जीव होकर भी सजीव के समान देख पड़ता है।

चित्र-भंगी के मध्य इस तरह के लावण्य की गति-भंगी का संचार न होने से चित्र 'दौर्बल्य-दोष' के कारण उत्तम नहीं होता है। अविभक्तता अर्थात् रूप-भेद का अभाव एक चित्र-दोष है। यदि रूप-भेद को प्रकट करनेवाला रेखाविन्यास स्थूलता की अवतारणा करे, तो यह भी चित्र-दोष में गण्य हो जाता है और इसका साधारण नाम 'स्थूलरेखात्व' है—वर्णसांकर्य में भी इसी प्रकार का एक दोष है; यथा—

दौर्बल्यं स्थूलरेखत्वमविभक्तत्वमेव च ।
वर्णानां सङ्करश्चात्र चित्रदोषाः प्रकीर्तिताः ॥

पंचम अंग—सादृश्य

दृश्य के साथ तुल्यता का नाम 'सादृश्य' है। दृश्य के जाने बिना सादृश्य का समझना सहज नहीं है। प्रत्येक वस्तु में दो विषय वर्तमान रहते हैं अर्थात् (१) वस्तुसत्ता एवं (२) वस्तुदृश्य। गाय एक चतुष्पद जंतु है, किंतु सब प्रकार के अवस्थानों में उसके पद-चतुष्टय समानरूप में नहीं देख पड़ते हैं। मनुष्य जिस वस्तु को देख सकता है, उसका नाम 'दृश्य' है तथा इस दृश्य के साथ तुल्यता की संज्ञा 'सादृश्य' है। पाश्चात्य शिल्प-समालोचक रस्किन (Ruskin) ने भी इस विषय को समझने की चेष्टा की थी। अमुक वस्तु में जो कुछ है, इस ज्ञान के आधार पर चित्र बनाना उत्तम नहीं; वरन् वस्तु में जो देख पड़े, उसका चित्रण अति[illegible] प्रशंसनीय है। 'दृश्य' दो श्रेणी में विभक्त किया गया है अर्थात् बाह्य एवं अंतर। दृश्य बाह्य जगत् में वर्तमान हो अथवा उसकी कल्पना अंतर्जगत् में की गई हो, परंतु जो दृश्य है, उसी के संग सादृश्य का होना अत्यावश्यक है। पाश्चात्य देशों में भावात्मक एवं आकारात्मक-नामक शिल्प के दो विभाग किए गए हैं, किंतु भारतशिल्प में इसका विवरण अपरिज्ञात है। 'आकार' तो भारत-शिल्प का 'अविषय' है, परंतु दृश्य इस शिल्प का मुख्य विषय है और इसी की उन्नति से चित्र आनंददायक होता है। दृश्य तो वस्तुतः दृश्य ही है—यह आकार से सर्वथा विभिन्न है। आकार के अंतराल में रूप, भाव, लावण्य एवं दृश्य वर्तमान रहते हैं और यही भारत-चित्र के निर्माण के श्रेष्ठ विषय हैं। हमारे अधिकांश प्राचीन चित्र इसी प्रणाली के आधार पर चित्रित हुए हैं। इस कारण भारत-चित्र आकार का अनुकरण नहीं करता—इस चित्र के द्वारा अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है और मानव-हृदय आनंद के स्रोत में मग्न हो जाता है। इसी से यह 'सादृश्य' शब्द सूचित हुआ है। यह सादृश्य शब्द तुल्यता नहीं, यह तो तुल्यता का केवल हेतुमात्र है।

षष्ठ अंग—वर्णिका-भंग

जिस वर्ण का समावेश जिस स्थान में आवश्यक है, उस स्थान में उस वर्ण-विन्यास का नाम 'वर्णिका-भंग' है। इस वर्ण-विन्यास के व्यतिक्रम से 'संकरता'-नामक दोष की उत्पत्ति होती है और यह एक सुपरिचित चित्र-दोष है। भारतीय चित्र-साहित्य में चित्र-वस्तु एवं चित्रांकण की वस्तु के उल्लेख मिलते हैं; ये दो श्रेणी की रचनाएँ दो नाम से विख्यात हैं, अर्थात् (१) चित्र-सूत्र तथा (२) चित्र-कल्प। चित्र की मूलपद्धति 'चित्र-सूत्र' में तथा चित्रांकण-पद्धति 'चित्र-कल्प' में लिपिबद्ध की गई है।

स्थान, काल एवं चेष्टा एक ही मनुष्य के दृश्य को अनेकों भाव में प्रदर्शित करते हैं, अतएव पूर्णरूप में चित्र आकारात्मक नहीं हो सकता है। यद्यपि दृश्य बाह्य वस्तु के आकार का अवलंबन कर अभिव्यक्त किया जाता है, तो भी यह आकारानुकृति नहीं, केवल दृश्य सृष्टि है। यह कहना कदापि संभव नहीं कि दृश्य के संग अस्थि-संस्थान-विद्या का संपर्क अत्यधिक है। अस्थि तो अदृश्य है—किसी-किसी स्थान में इसकी स्थिति स्पष्ट देख पड़ती है, किंतु दूरवर्ती दर्शन स्थान से यह अदृश्य ज्ञात पड़ती है, अतएव चित्र में इसका प्रदर्शन न्याय-संगत नहीं है। किंतु अंग-प्रत्यंग के अस्थि-शिरा-मांसपेशी प्रभृति स्वाभाविक संस्थान के लिये जो सब नतोन्नत दृश्य स्पष्ट ज्ञात होते हैं तथा जो दूर से भी दृष्टि-गोचर हो सकते हैं, उनका चित्रण परमावश्यक है; क्योंकि यही चित्र के पांडुलेख्य (Outline) के आधारस्वरूप हैं। भारत-चित्र में शिरा इत्यादि के प्रदर्शन के निषेध-वाक्य प्रचलित हैं, इस सिद्धांत से यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि भारत-चित्र के विद्वान् अस्थि-संस्थान-विद्या को

उदाहरण-रूप में आत्म-प्रकाश करने के योग्य नहीं समझते थे। अतएव उन्होंने चित्र से इस विषय का बहिष्कार किया था। यही भारत-चित्र के मूल-सिद्धांत का संक्षिप्त विवरण है—हम इससे चित्रकला की उन्नति की मात्रा समझ सकते हैं। यह कला प्राचीन भारत में अपनी चरम सीमा (Zenith) पर आरूढ़ थी; पर आधुनिक कला की क्या दशा है !*

श्रीराजेश्वरीप्रसाद

× × ×

८. कलिका

(१)

किसने उस विकसित कलिका का—
सहसा आज विनाश किया ?
किस मतवाले बेदरदी ने—
मद में यह उपहास किया ?

(२)

जीवन के उपवन का मेरा
सारा सौरभ धूल हुआ ;
खोजूँ कहाँ, कहाँ मैं जाऊँ !
ईश्वर ही प्रतिकूल हुआ !

(३)

अन्वेषण है विफल और
सारी इच्छाएँ हैं निर्मूल।
उस कलिका के बिना विश्व—
वैभव लगता है मुझको शूल।

कृष्णचंद्र मुग्दल 'दुःखित'

× × ×

९. भ्रांति

नाहक तूने मुझे भुलाया !
विकल वेदना का संचित धन,
आह पथिक कब कहाँ गँवाया ?
मैंने आँसू के झरने से,
विश्व अनेक बार नहलाया।
ओस-बिंदु से धुली कली थी,
रोकर कैसी चुपकी माया।
प्रेम-विभोर करुण कंपन में,
मैंने विरह विधुर ही गाया।
क्षीण कंठ की आकुलता ने,
कभी न क्षण-भर मन बहलाया।
किंतु चेतना क्रांतिमयी थी,
फिर क्या लहर उठी थी काया।
दे द्युति धन जीवनवेदी पर,
दुख से सुख, रोकर अलसाया।

मुकुंदीलाल गुप्त

* बँगला के एक लेख के आधार पर।

ऐसा कौन है जिसे फ़ायदा नहीं हुआ

कफ, खाँसी, हैज़ा, दमा, शूल, संग्रहणी, अतिसार, पेट दर्द, कै, दस्त, जाड़े का बुखार, बालकों के हरे-पीले दस्त और ऐसे ही पाकाशय की गड़बड़ से उत्पन्न होनेवाले रोगों की एकमात्र दवा, मुसाफिरी में लोग इसे ही साथ रखते हैं। कीमत ॥)

बच्चों को बलवान्, सुंदर और सुखी बनाने के लिये सुख-संचारक-कम्पनी मथुरा का मीठा "बालसुधा" पिलाइये। कीमत ॥)

तत्काल गुण दिखानेवाली ४० वर्ष की परीक्षित दवाइयाँ सब दुकानदारों के पास मिलती हैं।

दद्रुगजकेशरी

दाद चाहे पुराना हो या नया, मामूली हो या पकनेवाला, इसके लगाने से विना जलन और तकलीफ के अच्छा होता है। कीमत ।)

तत्काल बल बढ़ानेवाली कब्ज, कमजोरी खाँसी और नींद न आना दूर करता है, बुढ़ापे के सभी कष्टों से बचाता है, पीने में मीठा स्वादिष्ट है, कीमत तीन पाव का बोतल १॥), छोटी ॥=) डाकखर्च जुदा।

डाकखर्च:—एक से दो सुधासिंधु या दद्रुगजकेशरी ।=) और एक बालसुधा ।)

मिलने का पता—सुख-संचारक-कम्पनी, मथुरा।

WHENEVER YOU ARE OUT FOR

SHOPPING

PLEASE DO NOT FORGET TO

VISIT THE FOLLOWING PLACES

and thus

You will save from 5% to 15%

1. The Criterion Restaurant

Confectioners & Caterers Hazratganj, Lucknow

2. The Criterion Stores

Wine & Provision Dealers Hazratganj, Lucknow

3. The Criterion Stores

Wine&General Merchants, Mullital Nainital.

Proprietor—M. P. Srivastava.

हिंदोस्तान का सबसे पुराना पाल एंड संस का

असली मोहन-फ़्लूट
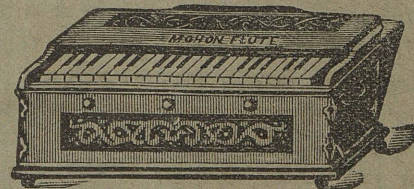
गारंटी ३ वर्ष

गारंटी ३ वर्ष

हारमोनियमों का राजा हिंदुस्तानी गाने और जलवायु के लिये उपयुक्त। मीठी आवाज़, देखने में सुंदर और टिकाऊ।

सिंगल पेरिस रीड ३५) से ४०) तक
डबल पेरिस रीड ६०) से ६५) तक

बलज फ्लूट

सिंगल जर्मन रीड २२) से २५) तक
डबल जर्मन रीड ३५) से ४०) तक

ऑर्डर के साथ ५) पेशगी भेजिए।

पाल ऐंड संस, ३।१।२, आरपुली लेन,

तार का पता— "मोहन-फ़्लूट, कलकत्ता" (म) कलकत्ता। २४

२

अध्यक्ष मथुराबाबू का
च्यवन प्राश- ३) सेर
मकरध्वज - ४) भरी

Registered No. A. 1127.

Printed & Published by K. D. Seth, at the Newul Kishore Press, Lucknow.